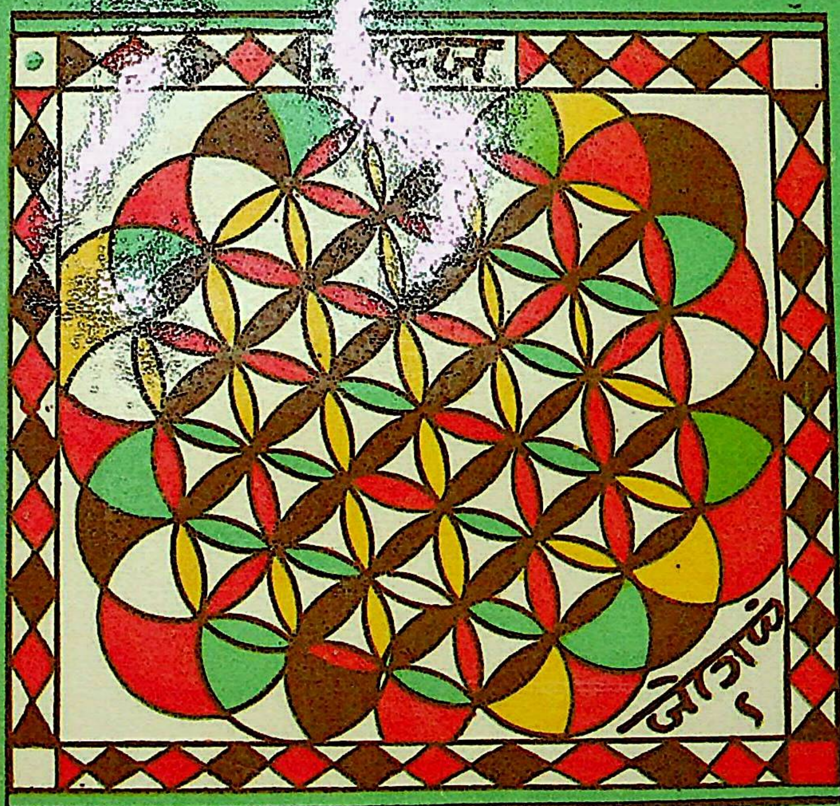
संत कबीर का सहजयोग



गंगाशरण शास्त्री

- **संत कबीर का सहजयोग** अखिल कबीर पंथ प्रधानाचार्य संत श्री गंगाशरण शास्त्री की मौलिक कृति एवं संकलन है। लेखक स्वयं साधु और साधक हैं अतः इस पुस्तक में शास्त्रीय ज्ञान और आत्मानुभव का सुन्दर संयोग उपस्थित हुआ है। इस कृति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि योग के विस्तृत किन्तु परस्पर असम्बद्ध ज्ञान को कबीर और कबीरपंथ के सन्दर्भ में नियोजित ढंग से सम्पादित किया गया है।

- सहजयोग और सहजाचार भारतीय चिन्तन के क्षेत्र में आकस्मिक चीजें नहीं हैं। सहजयानी बौद्धों से लेकर, नाथों, सिद्धों अर्थात् कबीर-पूर्ववर्ती साधकों ने 'सहज' की यथावसर व्याख्या की है। लेकिन ये सारी व्याख्याएँ और सन्दर्भ अत्यन्त अमूर्त और रहस्यमय हैं। लेखक आचार्य गंगाशरण शास्त्री ने इस अमूर्त ज्ञान को मूर्त और स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

- सहज, साधना भी है, दर्शन भी है, विचार भी है साथ ही योग की जटिलताओं का सरलीकरण भी है। प्रायः इस सरलीकरण और सर्वसुलभ साधना की ओर लोगों का ध्यान नहीं गया है। लोग कबीर को भी हठ योगी एवं कृच्छ साधना निपुण संत समझते रहे हैं। लेकिन वास्तविकता यह है कि संत कबीर ने योग को सर्वसुलभ बनाया। उन्होंने बताया कि अपना कर्म करते हुए श्रमिक रूप में साधना की उपलब्धियाँ सम्भव हैं। कबीर की उपलब्धि योग को रहस्य मय हठ योग और विशेष लोगों की दुनिया से बाहर निकालने में है।

संत कबीर का सहजयोग
एवं
कुण्डलिनी जागरण योग

लेखक

आचार्य महन्त गंगाशरण शास्त्री

सम्पादक : **विवेक दास**

सह-सम्पादक : **व्यास मुनि दास**



कबीरवाणी प्रकाशन केन्द्र, वाराणसी

प्रकाशक :
कबीरवाणी प्रकाशन केन्द्र
सी० २३/५ कबीरचौरा मठ,
कबीरचौरा, वाराणसी–२२१००१
दूरभाष : ३३३८५०

प्रथम संस्करण : १९८० ई०
द्वितीय संस्करण : फरवरी, १९९२ ई०
सम्वत् २०४८ वि० • सत्कबीराब्द : ५९३
प्रतियाँ : ३०००

मूल्य : सजिल्द ४५/–
अजिल्द ३५/–

मुद्रक :
शिवम् प्रिन्टर्स
सी० २७/२७३ इण्डियन प्रेस कालोनी
मलदहिया, वाराणसी–२२१००२

कबीर पंथ के पुनरुद्धारक उन विश्व वन्द्य

श्री सद्गुरु कबीर पथ प्रधानाचार्य

सम्मान्य श्री रङ्गी साहब को

सादर समर्पित

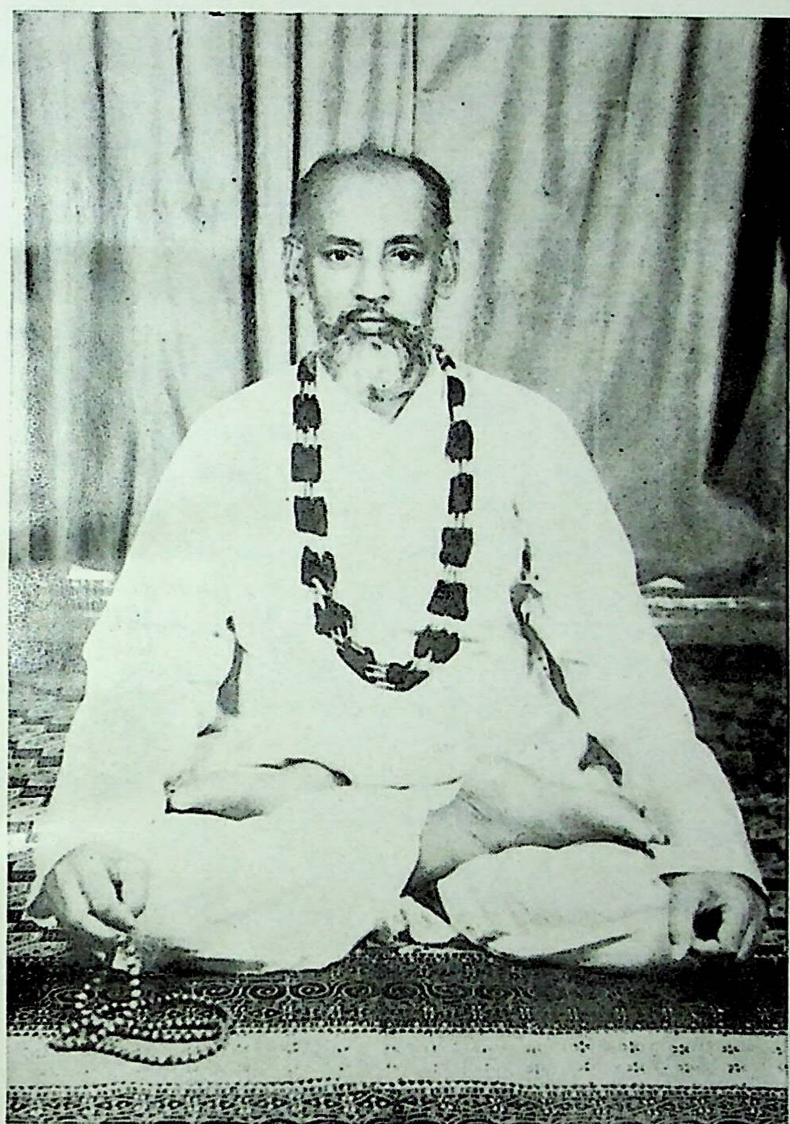
प्रोत्साहन

'संतकबीर का सहजयोग' आश्रम के तपस्वी साधु और अध्यवसायी विद्वान् गंगाशरणदास के विद्याभ्यास का परिणाम है। आश्रम की व्यवस्था से सम्बद्ध अनेक कार्य करते हुए भी वे अध्ययन-चिंतन का कार्य करते रहते हैं। इधर कई वर्षों से अस्वस्थ रहने के क्रम में उन्हें योग की महिमा का बराबर स्मरण आया। औषधि-उपचार के साथ योगोपचार का भी उन्होंने प्रयोग किया। यह पुस्तक उसी उपचारयात्रा के क्रम में लिखी गयी।

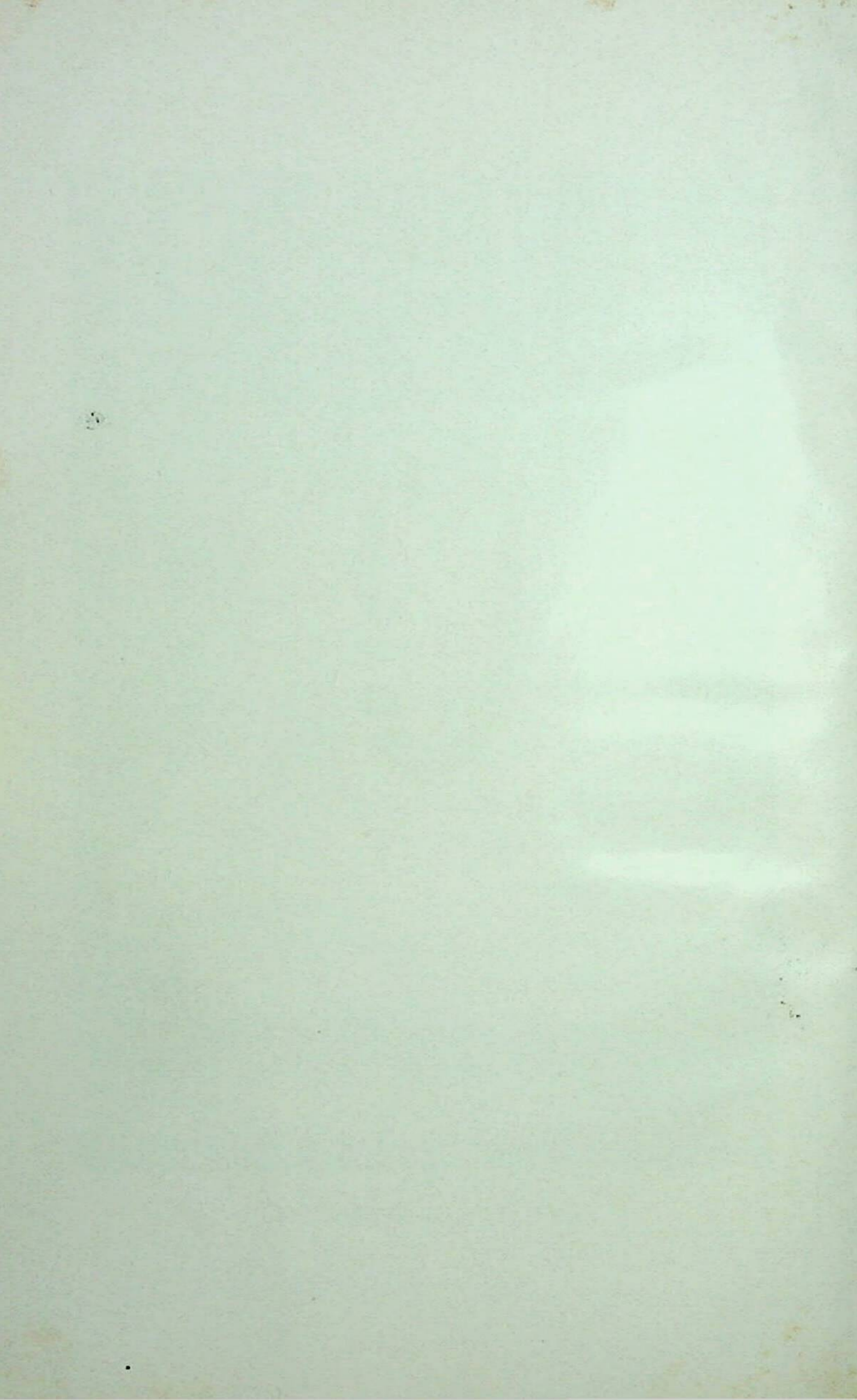
अनुभव और विद्या के सुन्दर संयोग के कारण यह पुस्तक, पंथ के साधकों और बाहरी विद्वानों के लिए उपकारक है। इसके प्रकाशन से मुझे प्रसन्नता है। स्नेह विश्वास और मेरे सद्भाव उनके साथ रहते ही हैं। इनमें अपनी प्रशंसा भी जोड़ता हूँ।

कबीर जयन्ती
२८ जून १९८०

आचार्य महंत अमृतदास
कबीरचौरा मठ, वाराणसी



आचार्य महन्त श्री गंगाशरण शास्त्री



भूमिका

सहजयोग पुस्तक का पुनः प्रकाशन किया जा रहा है। योग के नाम पर बहुत सारी पुस्तकें लिखी गयी हैं। जन भावना को ध्यान में रखकर यह पुस्तक लिखी गयी है। पुस्तक में वे सभी वस्तुएँ लगभग आ गयी हैं, जो योग के नाम पर समाज में प्रचलित हैं।

प्राचीन युग से योग का महत्त्व बहुत रहा है। यहाँ तक कि विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद से पूर्व भी योग विद्यमान था। योग के ग्रन्थों व पुराणों में योग के प्रथम आचार्य हिरण्य गर्भ को माना गया है। वे हिरण्यगर्भ कौन थे कहना कठिन है। परन्तु वेद और पुराणों के अनुसार सृष्टि के मूलभूत प्रथम पुरुष हैं, और वेदों में बहुत से मंत्र हिरण्यगर्भ की स्तुति करते हैं। भारतीय मान्यता के अनुसार हिरण्यगर्भ ने अग्नि, वायु आदि ऋषियों को योग का उपदेश दिया था जिनके द्वारा आजपर्यन्त भारतीय समाज में योग प्रख्यात है। अथर्ववेद की संहिता में योग का उल्लेख हुआ है। जिन यौगिक क्रियाओं और यौगिक कलाओं का अन्वेषण नवीं शताब्दी में हुआ है उसका उल्लेख संक्षिप्त रूप से अथर्ववेद के कई मंत्रों में हुआ है। जैसे—अष्ट चक्र एवं नवद्वार का, हिरण्यमय कोश का, पुनः कमलों का जो अष्ट कमल के नाम से जाने जाते हैं, उल्लेख हुआ है और उस हिरण्यमयकोश में अपूर्व पुरुष यक्ष विद्यमान है जिसको ब्रह्मविद् ही जानते हैं। इसी प्रकार से अग्निपुराण, विष्णुपुराण, सौरपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, गरुड़पुराण, मार्कण्डेयपुराण, लिङ्गपुराण होते हुए योग वाशिष्ठ एवं गीता में योग का पूर्ण निखार आ गया है।

कबीर साहब ने भी योग का उल्लेख स्थल-स्थल पर किया है। यहाँ तक कि उन्होंने सहज योग एवं सहज ध्यान के साथ हठयोग की क्रियाओं का भी उल्लेख किया है। क्योंकि उनके बीजक ग्रन्थ में कई स्थान पर योग का उल्लेख हुआ है। वे बीजक के शब्द प्रकरण में कहते हैं कि 'ध्यान धनुष ज्ञान बाण योगेश्वर सर साधे' और 'सहजे मूल बाँधे खट चक्र बेधि कवल बेधि जाय उजियारी कीन्हा'। यहाँ पर ध्यान देने की बात है कि मूल बेध की बात आयी है साथ ही षट्चक्र

और कमल बेधने की भी बात आयी है । इसके बाद अन्य दूसरे शब्द में गोरी मुख का उल्लेख हुआ है जो गोरी कुण्डलिनी का एक नाम है और उसके मुख में मर्दल बजने की बात कही गयी है और एक ही बाण में षट्चक्र बेधने की बात भी कही गयी है, पुनः योगी रजोगुण का नास करके गगन मण्डल में विराजमान होता है और योगी के यहाँ प्रतिदिन अमावस्या एवं ग्रहण होते रहता है और सुषुम्णारूपी राहु जो इड़ा और पिंगलारूपी सूर्य-चन्द्रमा को ग्रास कर जाता है, राहु यहाँ पर सुषम्णा का दूसरा नाम है, पुनः खेचरी मुद्रा का उल्लेख सद्गुरु कबीर करते हैं ''सुरभी भक्षण करत वेद मुख'' । इसी प्रकार से त्रिकुटी में जो कुण्डल है, वह मण्डलाकार है, उसके मध्य में योगी को अनाहत शब्द के श्रवण होते हैं और पुनः योगी अपान वायु को प्राण वायु में मिलाता है, जो बहुत आश्चर्यकारी है, 'पुहमी का पनिया अम्मर भरिया, ई अचरज कोई बूझे' और इसकी फलश्रुति जो है—काम, क्रोध को नास कर योगी भँवर गुफा को पार करता हुआ सहस्रार में जा पहुँचता है और 'उल्टी गंग समुद्र ही सोखे, ससि औ सूरहि ग्रासे' अर्थात् गंगारूपी कुण्डलिनी जो मूलाधार में स्थित है, जब वह जाग जाती है तो समुद्ररूपी मन के विकार को शोषण कर जाती है । पुनः इड़ा और पिंगला का ग्रास करके सुषुम्णा का द्वार खोल देती है उसी द्वार से होती हुई मेरुदण्ड को पार कर, जिसको पश्चिम दिशा भी कहा गया है, इससे होती हुई सहस्रार में जा विराजती है । इसी प्रकार से बीजक के वसन्त प्रकरण में प्राणायाम से पापनास की बात सद्गुरु ने बताया है ''पनिया आदर धरनि लोय, पौन गहे कसमलिन धोय ।' अर्थात् प्राण वायु को निरुद्ध करके स्थिर रखना योगी के लिए परम कर्तव्य है । प्राणायाम के द्वारा योगी के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, उसका मन निर्मल हो जाता है । इसी प्रकार से कहरा प्रकरण में स्पष्ट रूप से सहज योग का उल्लेख करते हैं । वे कहते हैं कि 'सहज ध्यान रहु सहज ध्यान रहु' ध्यान योग का ही दूसरा नाम है और अगली पंक्ति में कहते हैं कि 'भोगेहु भोग भुक्ति जनि भूलेहु, योग जुक्ति तन साधेहु हो ।' उन्होंने योग युक्तियों के साथ तब मन साधने की भी बात कही है । तन साधने का दूसरा अर्थ आसन प्राणायाम आदि से है । ऊपर सारी बातों का उल्लेख करने का तात्पर्य यह कि सद्गुरु कबीर ने भी सहज योग के साथ ही शरीर स्वस्थ रहने के लिए हठयोग की प्रक्रियाओं का भी दिग्दर्शन कराया है । योग सम्बन्धी जानकारी कबीर साहब को व्यापक रूप से है यह बीजक में प्रकट हुआ है । इसी प्रकार से उनके दूसरे ग्रंथों में भी जैसे—कबीर वाणी (कबीर ग्रंथावली) में व्यापक रूप से योग का उल्लेख हुआ है 'सुन्य मण्डल में घर किया उलटि पवन कहाँ राखिए' और 'मूल द्वारे बेध्या बन्धु

रवि ऊपर गहि राख्या चन्दु, पश्चिम द्वारे सूरज तपे मेरु दण्ड सिर ऊपर बसे।
खिड़की ऊपर दसवाँ द्वार, कहि कबीर ताके अन्त न पार।

उतरे पवन खट चक्र बेधा, मेरुदण्ड सर पूरा।
गगन गरजि मन सूंनि समाना, बाजे अनहद तूरा॥

इत्यादि प्रकार के पद कबीर वाणी में भरे पड़े हैं जिनका सम्बन्ध सहज योग और हठयोग दोनों से है। कुछ लोगों की धारणा है कि हठयोग का कबीर साहब ने विरोध किया है। किन्तु कबीर वाङ्मय में मुझे कहीं भी विरोध दिखाई नहीं देता है।

कबीर साहब का विरोध केवल योग के द्वारा प्राप्त शक्ति के दुरुपयोग से है। कबीर साहब ने व्यावसायिक योग का विरोध किया है। जो लोग रोजी-रोटी का माध्यम बनाकर योग शक्ति का दुरुपयोग करते हैं उन्हीं लोगों पर कबीर साहब का प्रहार हुआ है। कबीर साहब ने कहीं भी योग और योगी की आलोचना नहीं की है प्रत्युत उभय की प्रशंसा ही की है। कबीर साहब स्वयं एक महान् योगी थे। इस प्रकार के योगी युगों में एकाध ही होते हैं। कबीर साहब ने कई बार मूल बंध पर जोर दिया है। मूल बंध तीनों बंधों में सर्वश्रेष्ठ है। यदि मूलबंध की सिद्धि योगी को हो जाय तो अन्य दो बन्ध अपने आप लग जाते हैं एक बात और ध्यान देने योग्य है, कि मूल बन्ध जितना सिद्धासन से लगता है उतना अन्य किसी आसन से नहीं लगता है।

मूल द्वार के ऊपर बहत्तर सहस्र नाड़ियों का एक कन्द है जो पायु एवं उपस्थ के बीच में अवस्थित है। यही सभी नाड़ियों का मूल केन्द्र है। इसी कन्द से पूरे शरीर की नाड़ियाँ निकली हैं। इन बहत्तर सहस्र नाड़ियों में विशेष कर बारह नाड़ियाँ मुख्य हैं—इनके नाम हैं, ब्रह्म, इड़ा, पिंगला, गान्धारी, हस्त, जिह्वा, अलम्बुषा, पयस्विनी, कुहु, राका, संखिनी, वज्रा, चित्रिणी और संयुक्त रूप से तेरहवीं 'नाड़ी' सुषुम्णा कही गयी है। इन त्रयोदश नाड़ियों में पाँच नाड़ी मुख्य हैं—इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा, चित्रा, ब्रह्म नाड़ी और इन पाँच में तीन प्रधान हैं, इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा। इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा समस्त प्राणियों के लिए अति महत्त्वपूर्ण हैं। इड़ा पिंगल का काम मानव को जीवन शक्ति प्रदान करना और सुषुम्णा राहु रूप होकर इन्हीं सूर्य चन्द्र नाड़ियों को भक्षण करके योगी के आत्मप्रदेश में ले जाती है। जब सुषुम्णा योगी के वश में हो जाती है तब कुण्डलिनी का मुख खुलने में सहायक होती है। इसलिए सुषुम्णा का स्थान अतिमहत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार दो नाड़ियाँ जो और हैं जिनका नाम ब्रह्म नाड़ी

एवं चित्रा नाड़ी है जो कुण्डलिनी के समीपस्थ मानी जाती है। ध्यान रहे कि चित्रा नाड़ी के अन्तर्गत ब्रह्म नाड़ी है और ब्रह्म नाड़ी के अन्तर्गत कुण्डलिनी है। ये नाड़ियाँ पश्चिम द्वार में अवस्थित हैं, मूल कन्द से जगी हुई कुण्डलिनी ब्रह्म नाड़ी के अन्दर होती हुई पश्चिम मार्ग से परिगमन करती हुई ब्रह्म रन्ध्र में प्रवेश कर सहस्त्र दल कमल पर जा विराजती है, वहीं पर आत्मा रूपी शिव से मिलकर योगी को सहजावस्था में कर देती है।

स्वानुभूति एवं योग ग्रन्थों में भी इन नाड़ियों का पूर्ण महत्त्व दर्शाया गया है। ये पाँच नाड़ियाँ जब तक योगी के अधीन नहीं होती हैं तब तक योगी को कोई सफलता नहीं मिल सकती और न योगी अपान वायु को प्राण वायु में मिलाने में समर्थ ही हो सकता है। जो योगी नित्य प्राणायाम एवं ध्यान में लगा रहता है, कुछ काल के बाद इन पाँचों नाड़ियों की गति को जान जाता है। इसके बाद ही योगी असम्प्रज्ञात समाधि अवस्था में स्थित होता है। निर्विकल्पक अवस्था होने पर योगी पूर्णत्त्व को प्राप्त कर लेता है। सभी साधनों की फलश्रुति आत्म-प्राप्ति है। जब तक आत्म-प्राप्ति नहीं होती है तब तक समस्त साधन निरर्थक हैं। इस बात को सभी योगियों ने स्वीकार किया है। इसलिए योग के सभी अंग-उपाङ्ग कर्तव्य हैं।

सद्गुरु कबीर ने कई प्रकार के योगों का दिग्दर्शन कराया है, कुछ लोग योग और ध्यान के विषय में विभिन्न प्रकार के मत प्रकट किये हैं, यह निश्चत है कि मानव का विकास योग से सम्भव है। बिना योग साधना से उन्नत नाड़ियाँ शुष्क हो जाती हैं जिसके कारण अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं, रोगों से बचने के लिए योगसाधना सबके लिए उपविहित है क्योंकि दैहिक शक्ति के विकास के लिए जितने प्रकार के साधन सम्भव होते हैं उनमें योग सर्वोत्तम है। इसलिए योग के द्वारा योगी विदेहावस्था में तथा आत्मा से परमात्मा की पराकाष्ठा तक पहुँच जाता है। मेरी जहाँ तक जानकारी है भारत वर्ष में ही उक्त योग का जन्म हुआ है, अन्य धर्मों एवं अन्य देशों में इस विद्या का सर्वथा अभाव था। भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ अध्यात्म ज्ञान का पूर्ण विकास हुआ है। इसीलिए इसे धर्म प्रधान देश कहा जाता है क्योंकि योग पूरे ब्रह्माण्ड को अणु और अणु को ब्रह्माण्ड में देखने के दर्शन के रूप में महत्त्व पा चुका है। इस योग दर्शन एवं साधना की सहायता से कई प्रकार की साधनाएँ एवं सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं जिसके द्वारा योगी समाज का बहुत बड़ा उपकार करता आया है। जैसे—रोग निवारण करना, संकल्प द्वारा आपत्ति को हटा देना

यह सब योग द्वारा सम्भव है, थोड़ी यह बात कठिन अवश्य है कि जन साधारण से योग थोड़ा दूर रहता है क्योंकि योग सिद्धि के लिए बहुत अधिक संयम की आवश्यकता होती है। जब तक संयम नियम में अपने को नहीं बाँधा जा सकता है तब तक योग सिद्धि बहुत दूर रहती है। योग सबको प्राप्त नहीं होता है क्योंकि उसकी भाषा और पद्धति बहुत दुरुह और गोपनीय है। गोपनीयता के ही चलते योग की अनेक साधनाएँ अब लुप्त होती चली जा रही हैं। योग एक व्यवस्थित विज्ञान है। इसके जानने एवं समझने में कुछ कठिनाई अवश्य है। इसके लिए पहुँचा हुआ गुरु होना अनिवार्य है। जब तक पहुँचा हुआ गुरु नहीं मिलता है तब तक जन-सामान्य ही नहीं प्रत्युत विद्वान् और विज्ञानी के लिए भी योग जटिल अवश्य है। योगशास्त्रों के अवलोकन से और योग की शब्दावली और भाषा को देखने से यह पता चलता है कि भारत का प्रथम श्रेणी का मस्तिक इस योगशास्त्र को विकसित करने के लिए लगातार प्रयत्नशील रहा है। इस योग के अनेक भाग तान्त्रिकों ने अलग ढंग से विकसित किया और शैव-शाक्त, बौद्ध-नाथ, जैन आदि ने दूसरे ढंग से योग के द्वारा अपनी सिद्धियों का वर्णन किया है। इस योग से केवल शरीर स्वस्थ ही नहीं, उन्मुक्त आत्मा से सम्बन्ध-साधनाएँ होती रही हैं, चाहे शव साधना हो या अष्ट-सिद्धियों की साधना, सभी योग द्वारा सम्भव बतायी जाती रही हैं। कुछ लोगों ने यन्त्र-मन्त्र को और उनके चमत्कारों को योग के अन्तर्गत ही माना है। वीराचार्यों, अघोरियों, सिद्धों, नाथों, बौद्धों, जैनों ने भी योग को अपने-अपने ढंग से प्रयोग किया है। इन्होंने अपने धर्म के प्रचार के लिए न केवल यथावसर योगियों की मण्डली खड़ी की प्रत्युत योग को धर्म के एक प्रचारक साधना की प्रतिष्ठा दी। भारतीय धर्म साधना के इतिहास में कदाचित् कोई ऐसा धर्माचार धर्म गुरु हो जिसके विषय में योगी होने की बात प्रकारान्तर से नहीं कही गयी हो। इनमें भगवान् बुद्ध हों या भगवान् महावीर या मत्स्येन्द्र नाथ हों या गोरखनाथ, कबीर साहब हों या नामदेव सभी एक स्तर पर योगी थे। यह तथ्य तत् तत् सम्प्रदायों के द्वारा सिद्ध की जाती रही है। यहाँ तक कि श्री रामचन्द्र को, श्री लक्ष्मण को, श्री हनुमान जी को महान् योगी माना गया है और श्रीकृष्ण भगवान् को तो योगिराज ही कहा जाता है। भारतीय साधना तंत्र में महापुरुष या अति पुरुष होने के लिए योग अनिवार्य अवश्य है। योग के विषय में कहा गया है कि यह कई नामों से विख्यात है। इनमें हठयोग, राजयोग, मंत्रयोग, क्रियायोग, तारकयोग, सूक्ष्मयोग, महाखण्डयोग, असम्प्रज्ञातयोग, सुरतियोग और लययोग आदि प्रमुख हैं। कर्मयोग, ज्ञानयोग और सहजयोग जैसे शब्दयोग प्रेरक शब्दावली

की लोकप्रियता के क्रम में आये हैं । योगियों को भी सम्प्राप्त, घटमान, सिद्ध, स्वसिद्ध, परिमित, अण्डभेदी, ब्रह्माण्डभेदी और प्रकृति अण्डभेदी नामों से स्मरण किया गया है । यह प्रसिद्ध है कि योग का कोई एक निर्धारित पथ नहीं रहा है और न योगियों का कोई एक मण्डली ही रही है ।

योग की साधना के लिए अनेक प्रकार की दीक्षाएँ दी जाती रही हैं । इन दीक्षाओं के भी अनेक नाम हैं । अलौकि, दैवी, चाक्षुषी, मानसी स्पर्शवती, श्रौती, निर्वाणप्रद के साथ कला तत्त्व, पद मंत्र, वर्ण, भुवन, केवल, सकल, निष्कल, अघोरेश्वरी, लोकधर्मी, सबीज, निर्बीज, प्रायः इस प्रकार की दीक्षाएँ दी जाती रही हैं । इन दीक्षाओं के प्रभाव से मनुष्य देह की अनेक परिणतियाँ होती रही हैं जिन्हें योगशास्त्र में आत्म-देह, कर्म-देह, कारण-देह, चान्द्र-देह, दिव्य-देह, शाक्त-देह, सूक्ष्म-देह, सौर्य-देह, स्थूल-देह, काम-देह, कैवल्य-देह, भोग-देह, महासिद्ध-देह, मित्र-देह, वैन्दव-देह, ज्ञान-देह, भाव-देह, हंस-देह, लिंग-देह, विशुद्धज्ञानमय-देह आदि नामों से स्मरण किया जाता है । देह के ये सभी स्तर योग-साधना से सम्बन्धित होते हैं और योगी को अपनी साधना के अनुसार सूर्यधाम, चन्द्र-धाम, अग्नि-धाम, परम-धाम, गोलोक-धाम, परमानुत्तर-धाम आदि आवास स्थल अर्थात् भूमिकाएँ उपलब्ध होती हैं जिसमें ध्रुवपद, पशुपद, महाविश्रान्तिपद, विश्वविलयपद, शिवपद, शुद्ध महाविन्दुपद, समव्याप्तिपद, साम्यपद, उर्धकुण्डलिनीपद, कैवल्यपद, समनापद, शुद्ध विद्यापद और अव्यक्तपद, क्रमानुसार योगी को प्राप्त होते हैं । योग विहित पदों की प्राप्ति के लिए साधन का माध्यम देह ही है ।

मनुष्य का शरीर साधना के लिए सर्वोपयुक्त बताया जाता है कारण कि एक साथ ही भोग-देह और कर्म-देह दोनों हैं । वस्तुतः कहिए कि मिश्र-देह है । मिश्र-देहधारी मनुष्य जब योग में प्रवृत्त होता है, तो उसकी पात्रता को देखकर गुरु, साधक और योगी के रूप में वर्गीकरण करता है, पश्चात् यथोचित दीक्षाएँ देता है । साधक गुरु के द्वारा दिये हुए ज्ञान को अपनी सत्ता में सम्पूर्ण प्रकार से विस्तृत करता है जिससे उसके अज्ञान जन्य कर्म नष्ट हो जाते हैं । साधक की पूरी साधना इष्ट साधना की होती है, उसका इष्ट कुण्डलिनी शक्ति होती है, वह कुण्डलिनी को ही सिद्ध करता है । साधक की जहाँ साधना समाप्त होती है, अन्य दूसरों की, जो योगी नहीं है, अपनी साधना वहीं से प्रारम्भ करते हैं इसलिए योगी होने के लिए प्रथम साधक होना आवश्यक है क्योंकि योगी अति पुरुष होता है और वह जन्म-मरण से अतीत हो जाता है । जिसने पूर्ण साधना को सिद्ध नहीं किया है, केवल साधक है, तो द्वन्द्व से मुक्त तो होता है परन्तु

काल से नहीं, अपूर्ण साधक जन्म-मृत्यु के बाहर भी नहीं जा पाता, सिद्ध योगी अपने शरीर संस्थान को एक महा संस्थान में रूपान्तरित कर देता है तथा अपनी काया की विभिन्न नाड़ियों को अति लौकिक लक्ष के लिए समर्थ बनाता है। साधारण मांस-मज्जा से निर्मित उसकी सभी नाड़ियाँ साधना की भूमि में प्रवेश करते ही अपनी संज्ञा बदल देती हैं। पूर्व में कही हुई त्रयोदश नाड़ियों को धारण करने वाला व उनको वश में रखने वाला योगी साधक बन जाता है। यह योगी अनेक प्रकार की साधनाओं के साथ साधन करते हुए नाद-साधना से भी परे हो जाता है। नाद के समानान्तर तन्त्र शास्त्र के अनुसार बिन्दु की भी व्याख्या श्रेष्ठतम हैं और पंच प्रणव और पंच समना से सम्बन्धित क्रियायें इसी साधना के अंग हैं। साधारणतः सारी साधनाएँ प्राणयाम एवं ध्यान साधना से सम्भव होती हैं परन्तु पूजा, पीठ, गुरु, प्रतिमा, प्रमाता, प्रलय, भक्ति, भाव इनके द्वारा समस्त प्रकार के कर्म भेदन व चक्र भेदन योग साधना से ही सिद्ध होते हैं वह योगी साधक तंत्र के अनुसार मणिद्वीप में बसता है। दस मण्डलों को पार कर लेता है और अनेक समाधियों में समाधिस्थ हो जाता है। यह स्पष्ट है कि योग की साधना सबके लिए अनिवार्य है, सभी को योग करना चाहिए, शरीर में स्थूल और सूक्ष्म अर्थात् इन्द्रियों और प्राण के सम्यक् समाहार से ही योग की प्राप्ति होती है। इसीलिए किसी भी दृष्टि में योग चित्त वृत्तियों का निरोधक है और अन्त में परम तत्त्व की प्राप्ति का भी कारण है। योग की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि गोपनीय और व्यक्तिगत साधना होते हुए भी इसे धर्म का बल और समाज का सामूहिक समर्थन और आकर्षण प्राप्त होता रहा है। क्योंकि योग में अपार शक्ति देखी गयी है। सिद्धों और नाथों तथा स्वयं कबीर साहब ने योग बल से ही सब पर विजय प्राप्त की है।

आध्यात्मिक सफलताओं के लिए योग मार्ग में यात्रा करना परमावश्यक है। यदि योग के व्यावहारिक पक्ष को छोड़ दिया जाय तो स्पष्ट ही योग एक अव्यावहारिक, रहस्यमय और बहुत दूर तक भयकारी जीवनादर्श हो जायेगा। इसलिए योग के दोनों पक्ष को साथ ही साथ चलाना चाहिए जिससे शरीर की स्वस्थता और आत्म-शुद्धि दोनों में सफलता मिलती है। सामान्य मनुष्य के मन में योग के प्रति श्रद्धा और भय एकत्र ही उपजते हैं। सिद्धों और नाथों ने तथा स्वयं कबीर साहब ने योग बल से ही प्रबल शक्ति अर्जित की थी जिसके बल पर क्रूर मानवीय संगठनों पर आघात कर सके और अन्य योगियों ने क्या किया उसका मूल्यांकन सम्भव नहीं है परन्तु सिद्धनाथ और सद्गुरु कबीर जैसे योगियों ने योग के द्वारा वह शक्ति प्राप्त की थी जिससे धार्मिक व्यवस्था के

प्रतिनिधि पुरोहितों या प्रशासनिक व्यवस्था के प्रत्येक शस्त्रधारी सैनिक सम्पन्न राजाओं की वे सहज ही उपेक्षा कर सके थे। उसी योग बल पर सद्गुरु कबीर ने लोदी सिकन्दर को पराजित किया था। यह बात बार-बार आयी है कि सद्गुरु कबीर सिकन्दर की परीक्षा में शुद्ध और शक्तिशाली प्रमाणित हुए थे। योगी शत्रुओं के द्वारा आग में जलाये जाने से नहीं जलता, पानी में डुबाये जाने से नहीं डूबता, हाथी के पाँव तले कुचलवाने पर नहीं कुचला जाता, और ऊँचे पर्वतों से नीचे फेंक दिये जाने पर अंग-भंग भी नहीं होता है और न ही मरता है। अर्थात् योगी का कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता। निश्चित रूप ने योग के द्वारा ऐसी शारीरिक शक्ति अर्जित करने की बात मान्य है जिनसे योगी प्रकृत और काल के सामान्य प्रभावों से शरीर को बचा लेता है। इसी प्रकार से एक स्थान से दूसरे स्थान पर उड़ते, अपना शरीर छोड़ कर किसी मृतक के शरीर (परकाय) में प्रवेश भी योग के द्वारा सम्भव है। दीर्घ जीवन और अत्यन्त वृद्धावस्था में भी यौवन प्राप्त करने की महिमा तो योग के सम्बन्ध में बराबर देखी-सुनी जाती है। अतएव यह प्रमाणित है कि योग से सम्बन्धित विश्वास मनुष्य शरीर को अतिलौकिक, कालातीत बनाने में सक्षम है। योग के द्वारा अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। क्षण में सारे ऐश्वर्य एकत्र कर लेना, भोजन, शयन, आवास को योग शक्ति से उसी प्रकार से प्राप्त कर लिया जाता रहा है, जैसे यंत्र-मंत्र एवं तन्त्र के बल से सिद्ध लोग त्वरित कोई वस्तु मँगा लेते हैं। क्योंकि तन्त्र आदि का आधार ही योग है। यदि इन विश्वासों को प्रश्नांकित कर भी दिया जाय तो इतना तो स्पष्ट ही है कि योग-साधक या योगी में सामान्य व्यक्ति से अधिक बल होता ही है। शरीर को तोड़ने-मोड़ने, भूखा-प्यासा रखने में स्वस्थ और सजीव रखने की महत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके साथ ही योगी में निर्भयता, निःशंकता, सत्य बोलने की अपूर्व शक्ति देखी जाती है। अशिक्षित होने पर भी योगियों में अद्भुत प्रभावशाली वाणी की शक्ति पायी जाती है। वाणी का यह बल योग साधना के भीतर नादानुसन्धान से सम्भव होता है।

वाग् योग, एक प्रकार का योग ही है जिसे सुरति योग या शब्द योग कहा जाता है। मन्त्र जप योग की जो महिमा है वह नाद साधना का ही एक रूप है। सृष्टि के दो घटक जैसे—पत्थर और पत्थर-पत्थर और लोहा, ओंठ और ओंठ और बाँस की लकड़ी या बाँसुरी, हाथ और हाथ अथवा हाथ और वाद्य यन्त्र जब एक दूसरे को आहत करते हैं तो उच्चार या ध्वनन का यह रूप अनाहत नाद कहा जाता है। इसे कान के द्वारा सुना जाता है किन्तु बिना

प्रकृति के दो घटकों के टकराये कुण्डलिनी जगाकर सहस्रार की भूमि में जो ध्वनन या नाद होता है उसी को अनाहृद नाद कहते हैं। योगी इसी नाद की साधना करता है। भक्ति में यही नाम जप है, तन्त्र में यही मन्त्र जप है, अनाहृद नाद के 'सं-कार और 'हं'-कार दो वीज हैं', बिन्दु युक्त 'ह'-कार (हं) पुरुष का विसर्ग युक्त 'स'-कार और (सः) प्रकृति का प्रतीक है, दोनों का जोड़ना ही 'हंस-सिद्धि' है। स्वाँस-प्रस्वाँस व्यापार, हंस रूप व्यापार का ही प्राण है। इसी प्राण के 'याम' से अनाहृद नाद की साधना की जाती है। यह नाद साधना योग की अष्ट चक्र भेदन क्रिया से सम्पन्न होती है। मन-प्राण और कुण्डलिनी के नाड़ी-मार्ग में संचरण करने से विशेष प्रकार की ध्वनियाँ सक्रिय होती हैं और विशुद्ध चैतन्य का कपाट खुल जाता है। विशुद्ध चैतन्य के मुक्त हो जाने के पश्चात् वैखरी और मध्यमा वाक् की स्थितियाँ आती हैं। इन वाक्शक्तियों के प्रकट होने पर अविद्या समाप्त हो जाती है, वासना का अन्धकार नष्ट हो जाता है तथा चित्त भी शुद्ध हो जाता है। इसी शुद्ध चित्त से योगी जो कुछ भी बोलता है वह अत्यन्त प्रभावशाली तथा चिरकाल तक सजीव और प्रासंगिक होता है। सद्गुरु कबीर को योग की जो अन्य सिद्धियाँ प्राप्त रहीं वह आज भी जनश्रुति के रूप में प्रचलित हैं। यदि उस पर हम न भी विश्वास करें, किन्तु वाक् योग की सिद्धि तो अवश्य इसका प्रमाण है उनकी वाणी से प्राप्त होता है। वाक् योग के बिना उनकी वाणी में वह मन्त्र शक्ति आ ही नहीं सकती थी जो उसमें आज दिखाई देता है। वाक् योग की शक्ति से ही उनकी वाणी सुनकर हम निरुत्तर हो जाते हैं, उनके विरोधी आज भी कबीर नाम सुनकर घबड़ाते हैं। यह मानना पड़ेगा कि योग का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और योग के द्वारा समस्त कार्य सिद्ध होते हैं। लोक में आज भी योग की महिमा अक्षुण्ण दीखती है। योग से ही समनावस्था से उनमनावस्था में योगी अपने चित्त को कर देता है और सदा सर्वदा के लिए जीवन मुक्त होकर अमर हो जाता है। इसलिए सभी मनुष्यों को चाहिए कि गुरु के द्वारा योग का श्रवण करे और अपना कल्याण करके कृत-कृत्य हो जाय।

आज का मानुष समाज अति क्लान्त है, विश्राम चाहता है, परन्तु भौतिक उड़ान में बहुत आगे बढ़ जाने के कारण शान्ति प्रदायक योग से बहुत दूर हो गया है। इसलिए उसको शान्ति उपलब्ध नहीं हो रही है। हमारे अनेक योगेश्वरों, साधकों ने मानव को शान्ति प्रदान करने के लिए अनेक योग-ध्यान एवं आसन के ग्रन्थ लिखे हैं परन्तु इनमें कुछ ग्रन्थ तो अस्पष्ट हैं, कुछ ग्रन्थों की भाषा दुर्बोध्य हैं, कुछ के विषय भी अधूरे हैं। इन सब अभावों का अवलोकन कर

प्रस्तुत ग्रन्थ में यथा शक्य अनेक स्रोतों से सहायता लेकर वस्तु का प्रस्तुतीकरण हुआ है।

इस ग्रन्थ में सद्‌गुरु कबीर साहब के योग एवं ध्यान का विशद् वर्णन किया गया है। इसके पहले कबीर साहब का योग क्या है? उनकी साधना की पद्धति क्या है और क्या थी? लोग समझ नहीं पा रहे थे। यद्यपि बाहर के कुछ विद्वानों ने कबीर साहब के विचारों पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं परन्तु ये पुस्तकें तथ्यात्मक न होकर आलोचनात्मक हैं, इसलिए उन पुस्तकों से जिज्ञासुओं को समाधान नहीं हो पाता।

कबीर साहब को कुछ लोग ज्ञानाश्रयी निर्गुण वादी संत मानते हैं, कुछ लोग अद्वैतवादी मानते हैं, कुछ लोग सूफी साधना के सन्त मानते हैं, कुछ लोग समाज सुधारक मानते हैं। इस प्रकार से अपनी-अपनी विचारधारा के अनुसार लोगों ने कबीर साहब के विषय में कल्पना की है। कबीर पन्थ में भी कोई स्पष्ट योग और सिद्धान्त की पुस्तकें नहीं लिखी गयीं। किसी ने लिखा भी तो कबीर साहब को छोड़कर लिखा। पन्थान्तर मत में भी अद्वैतवादी, जीववादी आदि संज्ञाएँ साहब को दी गयीं और कबीर साहब को योग विरोधी भी बताया गया। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि पंथ के लोगों ने भी कबीर साहब के विरुद्ध अनुचित काम न किया हो, और अपने-अपने ढंग का सिद्धान्त न खड़ा किया हो।

कबीर साहब को परखने के लिए और उन्हें जानने के लिए पूर्ण भारतीय अध्यात्म वाङ्मय देखना पड़ेगा और यह भी देखना पड़ेगा कि कबीर साहब किन स्रोतों से अधिक सहानुभूति रखते हैं क्योंकि उनका ज्ञान सर्वग्राही और अप्रतिम, दुर्गेय अवश्य है। जहाँ वे उलटवासियों का और प्रतीकों का आश्रयण लेते हैं वहाँ वे समझ से परे हो जाते हैं उस स्थिति में कबीर साहब का अध्येता परास्त होकर चुप हो जाता है। अपनी सारी क्षमता को अभाव ग्रस्त देखता है।

कबीर साहब की विचारधारा भारतीय उत्तुङ्ग विचारों का अवदान है। हमारे आत्म-द्रष्टा ऋषियों ने अपनी उदात्त भावनाओं को जिस प्रकार समाज के सामने प्रकट किया है। उसी बात को कबीर साहब ने भी प्रकारान्तर से कहा है। इस भारत भूमि पर अभी तक उपनिषद् के ऋषियों और कबीर साहब जैसे महापुरुष बहुत न्यूनतम हुए हैं क्योंकि ऋषियों और कबीर साहब ने जो विचार प्रकट किये हैं उनसे मानव जाति बहुत उपकृत हुई है। अन्य विषयों की ओर

न जाकर प्रस्तुत पुस्तक में जो विचार आये हैं उन्हीं पर ध्यान केन्द्रित करना अभीष्ट है। पुस्तक में योग-सम्बन्धी उन सभी विषयों का सारांश उपस्थित किया गया है।

भारतीय वाङ्मय में छिपे हुए रहस्यों जैसे ध्यान कैसे करना चाहिए, आसनों की क्या विधि है, मुद्रा और बन्ध क्या हैं, नव नाड़ियाँ क्या हैं ? इन विषयों पर प्रस्तुत पुस्तक में अनेक प्रकार से प्रकाश डाला गया है। स्वास्थ्य वर्धक आसनों और बन्धों का भली प्रकार से दर्शन कराया गया है। यद्यपि उक्त विषयों का पातञ्जल योग सूत्र की व्याख्याओं में कुछ महात्मा-विद्वानों ने सभी बातों का उल्लेख किया है परन्तु अनेक विषयों के साथ प्रस्तुत होने के कारण विषय वस्तु सबके लिए सुलभ नहीं है। इस पुस्तक में अध्यात्म योग के साथ ही साथ क्रियात्मक-व्यावहारिक योग का भी प्रदर्शन किया गया है। प्रथम संस्करण में केवल अध्यात्म योग का ही प्रदर्शन हुआ था। इस द्वितीय संस्करण में व्यावहारिक योग का भी समुचित रूपेण संकलन किया गया है। व्यावहारिक योग से मन को बहुत बल मिलता है, निरुजता प्राप्ति होती है। जब निरुजता प्राप्त होगी तभी अध्यात्म योग की ओर प्रवृत्ति जगेगी, रुग्ण मनुष्य का ध्यान शरीर को निरोग करने पर होता है। इसीलिए द्वितीय संस्करण में व्यावहारिक योग का दिग्दर्शन हुआ है, साथ ही आत्म-प्राप्ति के लिए कुण्डलिनी जागरण का भी उल्लेख किया गया है। आशा है कि यह ग्रन्थ लोकोपकारी सिद्ध होगा।

कोई कार्य योजना के अनुसार हो, यह सिद्ध नहीं होता प्रत्युत अन्तःप्रेरणा भी महत्त्वपूर्ण होती है। प्रस्तुत पुस्तक सन्त कबीर का सहज योग इसी प्रकार की अन्तःप्रेरणा की परिणति है। इसमें जिस सहजयोग का विश्लेषण किया गया है, वह कबीर सिद्धान्तानुकूल होते हुए कबीर चौरा मूल गादी में प्रचलित योग-सम्बन्धी-परम्परा के पूर्णतया अनुकूल है। पुस्तक लेखन परिगमन के समय अन्य ग्रन्थों व अन्य सिद्धान्तों के ग्रन्थों का भी अनुशीलन किया गया है तथा लोकोपकारी तथ्यों को समेटने का प्रयास किया गया है। वैचारिक साम्य के आधार पर कुछ बातों का मेल अन्य सिद्धान्तों से भी सम्भव हुआ है किन्तु मूल आधार कबीर साहब की वाणी ही है। मुझे योग-सम्बन्धी और कुछ आसनों की जानकारी सत्यलोकीय गुरुवर आचार्य श्री रामविलास साहब एवं कबीर पन्थ के अनेक स्रोतों से तथा स्वानुभूति से भी हुई है। स्वानुभूति ही मेरे लिए अधिक उपयुक्त हुई है जिससे प्रेरित होकर मुझे इस योग ग्रन्थ की लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई।

प्रथम संस्करण के समाप्त होने पर पुस्तक की माँग भी अत्यधिक बढ़ गयी परिणामतः पुनः प्रकाशन की योजना बनी और यह समझा गया कि इस ग्रन्थ

को और अधिक लोकोपकारी एवं लोकाकर्पण की दिशा में कुछ अध्याय और जोड़े जायँ। अतएव मैंने परम्परा से प्रचलित आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक योग से सम्बन्धित तथ्यों का संकलन किया। अपरिहार्य कारणों से योगासनों के चित्र नहीं दिए जा सके, जिनके कारण कुछ कठिनाई अनुभव होगी। पुनः अवसर आने पर इसकी पूर्ति की जा सकेगी।

इस पुस्तक के प्रथम संस्करण का दायित्व महन्त श्री विवेकदास को सौंपा गया था जिन्होंने अपने कर्तव्य का पालन पूरी निष्ठा से किया था। प्रस्तुत (द्वितीय) संस्करण का दायित्व व्यासमुनि दास को सौंपा गया जिन्होंने बड़ी निष्ठा एवं लगन के साथ इसका सम्पादन किया। इनके सहयोगी देवशरणदास भी यथा शक्य सहायक रहे। अन्य स्थान के महात्मा गण भी शुभ कामना के साथ सहायता की है। इस पुस्तक की सृष्टि का सारा श्रेय आचार्य गुरुवर्य श्री रामविलास साहब को है जो मेरे दीक्षा एवं सन्यास के गुरु थे। जिनकी कृपा के बिना कुछ जाना नहीं जा सकता वे विद्या गुरु बहुत महत्त्व के होते हैं। जिनके अक्षर बोध से ही अक्षर लिखने की शक्ति प्राप्त हुई है वे पंडित श्री त्रिवेणी उप नाम रज्जु उपाध्याय को भी मेरा नमन है, जिनका निवास लेखक की जन्मभूमि पर है, साथ ही अन्य जिन गुरुओं से अक्षर बोध की प्राप्ति हुई है उन सभी को नमस्कार है। सम्पादन एवं मुद्रण के कार्य को निष्ठापूर्वक करने के लिए व्यासमुनि दास एवं देवशरण दास को मेरी शुभ कामना, साथ ही ग्रन्थ के पूर्व रूप को निष्ठा के साथ देखने, सँवारने एवं उचित परामर्श देने के लिए श्री शिवशंकरजी मिश्र को धन्यवाद दिये बिना बचा नहीं जा सकता है। शिवम् प्रिन्टर्स के स्वामी श्री हरिप्रसादजी निगम एवं उनके सुपुत्र शिवकुमारजी एवं राजकुमारजो जिन्होंने बड़ी सावधानी और धैर्य के साथ पुस्तक को छापा है उनको भी अनेकशः धन्यवाद।

कबीर निर्वाण दिवस **आचार्य महन्त गंगाशरण शास्त्री**
माघ शुक्ल ११, सं० २०४८ वि०

विषय-सूची

●

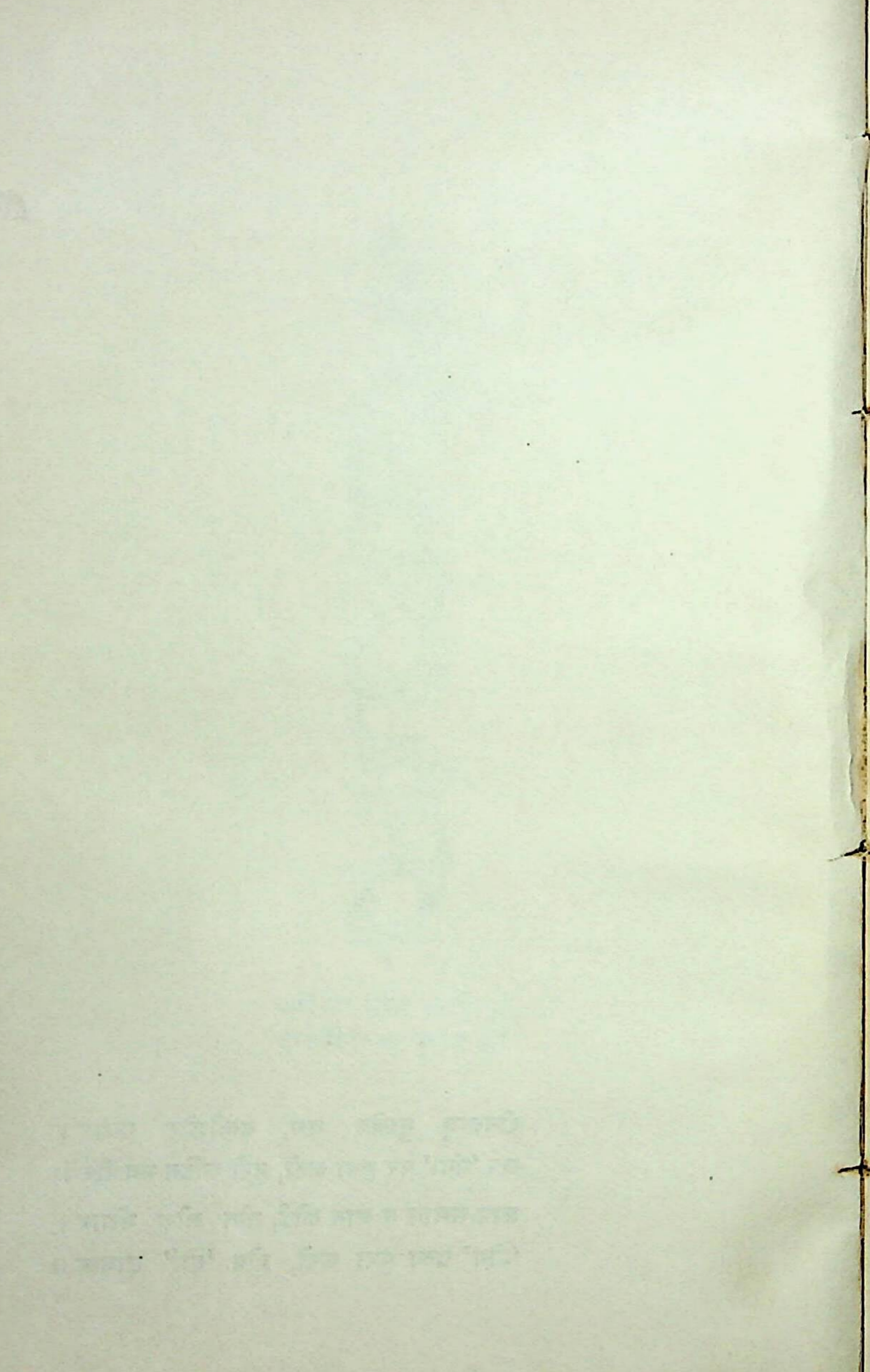
संत कबीर का सहजयोग



चक्रों का भेदन करती हुई
कुण्डलिनी का पृष्ठीय रूप

दीनबन्धु गुरुदेव मम, बन्दीछोर कबीर।
जन 'गंगा' पर कृपा करो, हरो कठिन भव पीर॥

आप समान न आन कोई, तीन लोक मँझार।
'योग' ग्रन्थ पूरा करो, होय 'धर्म' साधार॥



योगाख्या

योग शब्द की निष्पत्ति 'युज्' धातु (युज्+घञ्) से हुई है। अर्थ होता है 'दो का एक करना' अर्थात् एक में दूसरे को जोड़ देना। दो को मिला देने से योग हो जाता है। सहज अर्थ में योग का मुख्य प्रयोजन जीव का ईश्वर में लय होना है। आत्मा में मन के लय को भी योग कहते हैं। पतञ्जलि योग दर्शन के अनुसार चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा गया है।

संतमत में सुरति-निरति का एक होकर तादात्म्य भाव प्राप्त होना योग है। विभिन्न सम्प्रदायों में योग की व्याख्या विभिन्न प्रकार से हुई है जिसके आठ अंग हैं—**यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान** एवं **समाधि**। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अल्पाहार, दया, क्षमा, गम्भीरता, आर्जव, प्राणायाम प्रभृति पर विचार करना **यम** कहलाता है। तप सन्तोष, सात्त्विक दान, आस्तिक भाव, सत्यासत्य चिन्तन, ईश्वर की वन्दना अर्थात् जो भी दैनिक अध्यात्म प्राप्ति के लिए करना पड़ता है उसको **नियम** कहते हैं। एकान्त स्थान में किसी भी आसन पर श्वास की साधना करना, **रेचक, पूरक, कुम्भक** आदि क्रियाओं को **प्राणायाम** कहते हैं। उक्त क्रियाओं को करने के लिए बैठने का नाम **आसन** है। उक्त आसन सुस्थिर, अडिग होने चाहिए। इन्द्रियों को अनेक विषयों से रोकना और प्रत्येक इन्द्रिय विषय का त्याग करना **प्रत्याहार** कहलाता है। चित्त को अच्छी प्रकार शुद्ध कर सम सत्ता में विचरण करना एवं सद्गुणों को ग्रहण करना एवं अध्यात्म के प्रत्येक साधन को चितवृत्ति में गृहीत करना **धारणा** कहलाती है। इष्ट के ध्यान में वृत्ति दीप-शिखा सम निर्विघ्न हो जाय। किसी प्रकार की चिन्ता उसे न रह जाय। अहर्निश अपने ध्येय में लगा रहे उसी को **ध्यान** कहते हैं। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति को पार करके तुरीया अवस्था में प्रवेश होने पर जहाँ पर समसत्ता में एकीकरण हो जाता है उस अवस्था में मेरे और पराये का भाव विनष्ट हो जाता है। सारे जागतिक विषयों से मनोवृत्ति पराङ्मुखी हो जाती है और अखिल ब्रह्माण्ड को अपने में देखता है और नियन्ता में अभेद होने को समाधि कहा गया है। जहाँ पर कोई जागतिक सम्बन्ध

नहीं रह जाता है। संवेदनशीलता पूर्णरूपेण अभाव तत्त्व में विलीन हो जाती है, वही समाधि की अवस्था है।

इसी प्रकार से आर्यान्तर्गत बौद्ध, जैन आदि सम्प्रदायों में भी अलग-अलग योग के कुछ विधान हैं। इसके अतिरिक्त नाथ परम्परा में भी योग की बड़ी लम्बी और जटिल व्याख्या है जिसको लोग हठयोग के नाम से जानते हैं। यूँ तो योग की परम्परा वैदिक युग से ही प्रारम्भ होती है जिसका उल्लेख वैदिक संहिता तथा उपनिषदों से होकर पुराण एवं महाभारत तक चली आयी है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि विभिन्न पद्धतियों के द्वारा योग-साधना की प्रणाली साधना के विभिन्न क्षेत्र में विद्यमान है। परन्तु भारतीय योग की सर्वोत्कृष्ट अपनी विशेषता है जिसको जानने के लिए प्रत्येक भू-भाग के लोग समय-समय से भारत में आते हैं। सिकन्दर महान् के भारत आगमन के समय सुकरात या प्लेटो ने कहा था कि यदि भारत जा रहे हो तो मुझे एक योगी गुरु लेते आना। इसी प्रकार से किम्वदन्तियों के आधार पर महात्मा ईसा को भी भारत में आकर योग सीखना पड़ा था। भविष्य पुराण के आधार पर महर्षि कण्व ने पृथ्वी के अनेक भू-भागों में योग का प्रचार किया था। अस्तु, जो भी हो संसार के आध्यात्मिक एवं यौगिक ग्रन्थों को देखने से प्रत्येक अध्येता को भारतीय योग प्रणाली अधिक प्राचीन दिखेगो। इसलिए यहाँ पर भारतीय योग के विषय में ही विचार करना ध्येय है। इसमें भी संतमत द्वारा निर्दिष्ट योग पर ही विचार किया जा रहा है।

योग का वर्गीकरण

भारत में प्रायः योग की दो पद्धतियाँ विद्यमान हैं—१. हठयोग, २. राजयोग या सहजयोग। इन्हीं के अन्तर्गत भक्तियोग, जपयोग, सुरति-योग सब आते हैं। शास्त्रों में इनकी अलग-अलग व्याख्या विद्वानों द्वारा हुई है। इसलिए यहाँ पर अन्य योगों की अपेक्षा सहजयोग पर ही विचार अनुभूति के अनुसार किया जायगा।

हठयोग : हठ शब्द को निष्पत्ति[1] हठ् (हठ्+अच्) धातु से हुई है जिसका मूल अर्थ होता है बलपूर्वक किसी कार्य को करना। इसी के अन्दर

---

१. हकारः कीर्तितः सूर्य कारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्या चन्द्र मसोर्योगाद् हठयोग निगघते॥
—सिद्ध सिद्धान्त पद्धति।

अध्यात्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए एक पैर से खड़ा होकर तप करना, शरीर को उपवास करके सुखा देना, हठात् कर्मानुष्ठान करना, नेती, धोती, वस्ती, न्युली, हठपूर्वक ध्यान, लम्बिका क्रिया करना, कुण्डलिनी को जगाने के लिए श्वास को बलपूर्वक अवरुद्ध करना अर्थात् हठात् दूसरे के साथ मेल करना, अपने हठ का त्याग नहीं करना इत्यादि प्रकार के क्रियाकलापों को हठयोग समझा जाता है जिसका उल्लेख हठयोगियों के सम्प्रदाय में प्रचुर मात्रा में हुआ है। वैदिक परम्परा से लेकर नाथों तक हठयोग की परम्परा रही है। किन्तु वैदिक परम्परा में हठयोग का सीधा उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु कुछ संकेत यत्र-तत्र से निकाले जा सकते हैं। मेरा अपना मत है कि यज्ञ आदि कर्मकाण्ड सब हठयोग के ही अन्तर्गत आने चाहिए। क्योंकि स्वर्ग प्राप्ति के लिए हठात् बलि विधान किये गये हैं। इसलिए कर्मकाण्ड के प्रत्येक आयोजन को हठयोग के अन्तर्गत लेना समीचीन जँचता है। यों हठयोग का मूल प्रवर्त्तक आदिनाथ को कहा जाता है। गोरक्षनाथ सम्प्रदाय में व हठयोग प्रदीपिका में आदिनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु का नाम था। बात जो भी हो, हठयोग की प्रणाली बौद्ध सम्प्रदाय से निर्गत सिद्धों और नाथ सम्प्रदायों से जुड़ी मिलती है जिसमें सरहपाद, कणहपा से लेकर गोरक्षनाथ भी आते हैं। क्योंकि इन योगियों के वचनों में हठयोग की जितनी सुस्थिर परिमार्जित प्रक्रिया युक्त हठयोग प्राप्त होता है उतना शुद्ध रूप पहले नहीं मिलता। इसलिए हठयोग नवीं शताब्दी की देन कहा जा सकता है, क्योंकि इन सिद्धों का काल विक्रम की ७वीं, ८वीं शताब्दी से लेकर ११वीं शताब्दी तक रहा। इनमें कुछ और प्रसिद्ध योगियों के नाम दिये बिना हठयोग का इतिहास पूरा नहीं होता। आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, साबरनाथ, भैरवनाथ, चौरङ्गीनाथ, मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरुपाक्षनाथ, विलेशयनाथ, मन्थान, भैरव, सिद्ध, कन्थद्रि, कारन्तक, सुरानन्द, चरपति, फानेसरी, श्रीनित्यनाथ, निरंजन, कपाली, विन्दु, काकचण्डीश्वर, अल्लाम, प्रभुदेव, घोड़ा, चोली, टिनटिणी, भानुकी, नारदेव खण्ड, कापालिक प्रभृति हठयोग के प्रधान सिद्ध माने जाते हैं। इन लोगों ने एक दूसरे की कमी को पूरा किया है। इसमें एक उपाख्यान भी सुना जाता है जो मत्स्येन्द्रनाथ से जुड़ा है, वह इस प्रकार है :

एक समय भगवान् आदिनाथ श्री शिवजी किसी एकान्त सरोवर के तट पर विराजमान थे। जहाँ पर पवित्राङ्ग शंकर अर्द्धांगिनी पार्वती जी

भी विराजमान थीं। शंकर जी को ध्यानमग्न देखकर पार्वती जी को शान्ति मिली। पार्वती जी ने सोचा इस ध्यान में कोई ऐसी वस्तु है जिसके दर्शन मात्र से शान्ति उपलब्ध हो रही है। तदुपरान्त भगवान् शंकर से पार्वती ने करबद्ध प्रार्थना की। हे प्रभो ! आप जिस ध्यान में उपविशित थे मुझे भी उसका ज्ञान कराइये। भगवान् शंकर पार्वती को विनम्र जानकर तथा ऐसा समझकर कि यह योग की अधिकारिणी है, योग का उपदेश करने लगे और जिसे पार्वती जी अनवरत एकाग्रचित्त होकर सुनने लगीं। उस सरोवर के जल में एक मत्स्य रहता था। वह भी उस योगोपदेश को ध्यानस्थ सुन रहा था। कृपालु आदिनाथ जी को उसका वह श्रवण ज्ञात हो गया और उन्होंने कृपापूर्वक उसके निकट जाकर सरोवर से जल लिया और उस मत्स्य को सींचने लगे। भगवान् शिव के इस अनुग्रह को प्राप्त करके मत्स्य कृतकृत्य हो गया और उसे तुरन्त ही सिद्धि प्राप्त हो गयी। आगे चलकर वही मत्स्येन्द्रनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी प्रकार कुछ आश्चर्यजनक बातें चौरंगीनाथ, गोरक्षनाथ, भर्तृहरिनाथ गोपीचन्द्रनाथ आदि को हठयोग सुनाने की सरणि अग्रसर हुई है। इस प्रकार से उपर्युक्त सभी सिद्ध हठयोग प्रवर्तक भी हुए हैं और अशेष ताप से उतप्त पुरुषों का समाश्रय मठ रूप हठयोग और अशेष योगियों का आधार कमठ रूप हठयोग कहा गया है। इसकी विशेष व्याख्या को हठयोग कहा गया है। इसकी विशेष व्याख्या हठयोग प्रदीपिका के टीकाकर डॉ० चम्मन लाल गौतम ने इस प्रकार से की है। हठयोग और कमठयोग के भेद से हठयोग दो प्रकार का माना गया है। इनमें सभी तापों का नाशक हठयोग और योगों का साधक कमठ योग है। अशेष ताप के कथन का संकेत त्रिताप की ओर है और ताप तीन प्रकार का है—आध्यात्मिक, आदिभौतिक और दैविक। इन तीन तापों के कारण तप्त मनुष्यों के लिए हठयोग मठ स्वरूप होता है। 'मठ' का अर्थ है घर। इससे हठयोग का उनके लिए आश्रयदाता समझना चाहिए। इसीलिए 'अशेष-ताप तप्तानाम्' कहकर ग्रन्थकार ने उन मनुष्यों की ओर संकेत किया है जिनके त्रितापों में से कोई भी एक शेष रह गया हो। इन तापों में भी आध्यात्मिक ताप, शारीरिक और मानसिक भेद से दो प्रकार का माना गया है। शारीरिक ताप का तात्पर्य है रोगादि और मानसिक ताप का अभिप्राय मन के अशान्त रहने से है। इनका शमन योग के आश्रय से ही सम्भव है।

इसके अतिरिक्त हठयोग की प्रशंसा में और भी बहुत सारी बातें उल्लिखित हैं। जैसे-"हठविद्या परमगोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता। भवेद्-वीर्यवतीगुप्ता निर्वीया तु प्रकाशित ॥"

अर्थात् सिद्धि के आकांक्षा वाले साधक को हठविद्या परम गोपनीय है। क्योंकि गुप्त रहने से ही यह वीर्यवती रहती है और प्रकट होने पर निर्वीर्य हो जाती है। डा० चम्मन लाल गौतम का मत है कि–"अन्य विद्याएँ चाहे प्रकट रहें या गुप्त, परन्तु हठयोग विद्या को गुप्त रखने योग्य माना गया है। सिद्धियों की इच्छा वालों के लिए तो अवश्य इसे गुप्त रखना चाहिए। तभी वह वीर्यवती अर्थात् प्रभावशालिनी रह सकती है और वीर्यवती रहने से ही सिद्धि मिल सकती है।

सिद्धियाँ आठ प्रकार की होती हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व। इनमें क्रमशः शरीर का अणुवत्, सूक्ष्म, वृहदाकार, भारी, हल्का कर लेना, दूरस्थ पदार्थों को स्पर्श कर लेना, कामनाएँ पूर्ण कर लेना, आदि सामर्थ्यों की प्राप्ति हो सकती है। योग दर्शन के विभूति पाद में लगभग ३० सिद्धियों का वर्णन है। किसी से भूख प्यास पर विजय और किसी से आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त होती है। किसी से दिव्य श्रवण, दिव्य दृष्टि और किसी से लोकों, नक्षत्रों आदि का ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार की सिद्धियाँ योग द्वारा प्राप्त हो सकती हैं परन्तु उन सिद्धियों को प्राप्त करने वाली विद्या यदि प्रकट हो जाती है तो उसमें शक्ति का ह्रास हो जाता है और वह जो प्रभाव उत्पन्न कर सकती थी उसे करने में समर्थ नहीं रहती। इस प्रकार से महिमा मंडित हठयोग का विवेचन महत्त्वपूर्ण रूप से किया गया है जिससे भी जिज्ञासु साधकों का इधर आकर्षण हो और हठयोगियों के निवास के लिए भी विस्तार पूर्वक वर्णन है।

सुस्थान रथा कुटी निर्माण,

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रेव।

धनुः प्रमाण प्रयन्तं शिलाग्नि जलवर्णिते,

कान्ते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठ योगिना॥

(हठयोग प्रदीपिका, पृ० १८)

अर्थात् ऐसा धार्मिक देश हो जिसमें कोई उपद्रव न हो, सुभिक्ष रहता हो, उसके चारों ओर धनुषप्रमाण पर्यन्त शिला, अग्नि और जल

न हो। श्रेष्ठ राज्य में स्थित ऐसे स्थान में मठिका वनवाकर हठयोगी को योगाभ्यास करना चाहिये।

विशेषार्थ :—धार्मिक देश और श्रेष्ठ राज्य में रहने का कथन उपयुक्त हो सकता है जहाँ अधर्म या अपवित्रता का लेश भी न हो। क्योंकि योगाभ्यास के लिए वातावरण की पवित्रता अत्यन्त आवश्यक है। यदि वातावरण में पवित्रता न होगी तो मनमें अधर्म रहेगा, जिससे एकाग्रता सम्भव नहीं होगी और साधना भी फलवती नहीं हो सकती।

सुराज्य का अभिप्राय ऐसे राज्य से है, जिसका राजा प्रजापालक, साधुसन्तों, योगाभ्यास का रक्षक, धार्मिक एवं न्यायशील हो। अधार्मिक, अन्यायी, क्रूर राजा से तो उस राज्य में दमन, कलह, अत्याचार आदि का आधिक्य रहेगा और उस अवस्था में यह सम्भव नहीं कि योगी की कुटिया का वातावरण भी क्षुब्ध न होने पाये। इसलिए योगी साधक को श्रेष्ठ राज्य में रहने का निर्देश है।

उस राज्य और स्थान को निरुपद्रव रहना इसलिए आवश्यक है कि उपद्रव ग्रस्त क्षेत्र में भय, शंका और आतंक का साम्राज्य छाया रहता है। योगाभ्यास में विघ्न स्वरूप सिद्ध होता है। अतः साधक को अपनी साधना के लिए निरुपद्रव प्रदेश चुनना चाहिये। 'सुभिक्षे' का अर्थ है 'सुकाल रहना'। जिस राज्य में अन्न वहुत उत्पन्न होता हो, अनावृष्टि आदि के कारण कभी अकाल न पड़ता हो जिससे कि योगी को शरीर रक्षार्थ आहार की प्राप्ति में सुभिक्ष हो वहीं रहकर साधना करना श्रेयस्कर हो सकता है। अथवा 'सुभिक्ष' का आशय श्रेष्ठ भिक्षा से भी है और जिस राज्य में श्रेष्ठ भिक्षा मिल सकती है वहीं साधक को भोजनादि की सुविधा हो सकती है। इसलिए जिस राज्य में बाधा उपस्थित न हो उसी राज्य में योगी को रहना चाहिए।

'धनुष प्रमाण' का आशय है 'चार हाथ परिमाण'। जहाँ आसन के चारों ओर चार-चार हाथ तक शिला, जल और अग्नि न हो। इस कथन का अभिप्राय यह है कि वैठने के स्थान के चारों ओर इतनी स्वच्छता हो कि कोई वस्तु पड़ी न रहे। 'शिला' अर्थात् पत्थर होने से उठने पर ठोकर लगने का भय हो सकता है और जल, अग्नि भी हानिकारक सिद्ध हो सकते हैं। क्योंकि इनसे सर्दी, गर्मी से होने वाले विकारों की सम्भावना हो सकती है। इस प्रकार विकार हीन वातावरण से मुक्त स्थान चुनना चाहिए।

'मठिकामध्ये स्थातव्यं' अर्थात् मठिका का अर्थ 'पर्ण वाली छोटी कुटिया' से है, मठ से नहीं। क्योंकि मठ तो बड़ा होता है और योगी, साधक को बहुत बड़ा स्थान हितकर नहीं होता। मठिका भी इसलिए बनाने का निर्देश है कि शीत, धूप, वर्षा आदि से बचाव हो सके। इस प्रकार योगी को श्रेष्ठ राज्य, सुन्दर स्थान, छोटी कुटी बनाकर सुभिक्ष युक्त एवं निरुपद्रव स्थान में रहकर अभ्यास करना चाहिए। इसी में उसका कल्याण है।

अल्पद्वारमरंध्रगर्तविवर नात्युच्चनीचायतं।
सम्यग्गोमयसांद्र लिप्तममल निःशेष जन्तूज्झितम्॥
बाह्ये मण्डपवेत कूपरुचिरं प्राकारसवेष्टितं।
प्रोक्तंयोगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिद्धिः॥

अर्थात् उस कुटी का द्वार छोटा हो। छिद्र और गड्ढों से रहित हो। उसमें बिल भी न हो। उसका स्थान ऊँचा-नीचा न हो। गोबर से चिकना लिपा हुआ हो। जीव-जन्तुओं से वर्जित हो। कुटी के बाहर के स्थान में मंडप बना हो जिसमें वेदी, सुन्दर कूप तथा प्राकार अर्थात् भित्ति से घिरा हो। योग कुटी के यह लक्षण हठयोग के अभ्यासी सिद्धों ने बताया है।

व्याख्या:—कुटी का द्वार छोटा रखना चाहिये। यह इसलिए कि कोई विशालकाय पशु आदि का प्रवेश उसमें न हो सके। उसमें छेद अर्थात् खिड़की या झरोखे भी न हों। अन्यथा शीतकाल में ठंडी वायु, ग्रीष्म काल में उष्ण वायु और वर्षा ऋतु में वर्षा की बूँदों का कुटी के भीतर प्रवेश होने से साधक को कष्ट हो सकता है और अभ्यास में विघ्न पड़ सकता है। इस प्रकार से अनेक नियम हठयोग वाले लिखे हैं। अधिक बातें विस्तार-भय से उद्धृत नहीं की गयी हैं। अन्य ग्रन्थों में सभी बातों का उल्लेख किया गया है। यहाँ पर दिग्दर्शन मात्र कराना था। उपर्युक्त प्रकार से जहाँ-जहाँ आवश्यकता पड़ेगी वहाँ-वहाँ पर अन्य बातें उद्धृत की जायेंगी।

यह था प्राथमिक दशा में हठयोग का संक्षिप्त विवरण, अब संक्षेप में राजयोग पर विचार किया जा रहा है।

राजयोग दिग्दर्शन

दूसरी पद्धति राजयोग या सहजयोग की आती है जिसमें सुरतियोग, चिन्तनयोग, नामयोग, विचरणयोग, नादयोग, जपयोग, ध्यानयोग आदि

को शामिल किया जाता है जिसका वर्णन कुछ सन्तों, लेखकों द्वारा यत्र-तत्र हुआ है। सनकादिक से लेकर गुरुवर रामानन्द तक मानसयोग, भक्ति-योग, चिन्तन-योग, नाद-योग, ध्यान-योग की परम्परा रही है जिसको हम सहज योग में ही लेते हैं। इसका प्रचार-प्रसार एवं कार्यान्वियन आज भी वैष्णव मत में भक्ति के रूप में विद्यमान है। तद्प्रसूत सद्गुरु कबीर से लेकर आज-पर्यन्त सन्तमत में सहजयोग की भी परम्परा प्रचलित है जिसका प्रचार-प्रसार समाज में अत्यधिक होता जा रहा है। परन्तु सहज पन्थान्तर्गत दिनानुदिन दम्भत्व की बहुलता वैवृद्धत्व को प्राप्त करती जा रही है। आज सन्तमत के नाम से कुछ ऐसे मत चल पड़े हैं, जो सन्तमत और सहजयोग दोनों को कलंकित कर रहे हैं और अनेक प्रकार के मनःकल्पित विचार व्यक्त कर रहे हैं। धर्मपरायण भारत की जनता उक्त मतों की शिकार हो रही है। उक्त योगी लोग पलक मारते-मारते परमतत्त्व का दर्शन कराने का दावा करते हैं। ऐसी बात सहजयोग में शामिल करने की चेष्टा कर रहे हैं। कई नेत्र-नशों को दबाकर चिनगारियाँ उत्पन्न करके ईश्वर मानकर लोगों को दर्शन कराते हैं और पंच-पंच नामों का जप भी बताते हैं। कुछ मनुष्य-कपाल लेकर सिद्धियाँ आदि करने के लिए अहर्निश परेशान रहते हैं। कुछ नचाना-कूदाना, निर्वस्त्रता से ही सहजयोगी की उपाधि धारण करते हैं जिससे सहज-योग जानने वाले को सुनकर आश्चर्य होना स्वाभाविक है। आज के प्रत्येक नवीनपंथी जो अपने को सहजयोगी कहते घूमते हैं, इन लोगों को भारत की जनता जान चुकी है। अभी तक दलाली पर काम चल रहा है। भला ! जिसकी मनोवृत्ति सहज चित्त में निर्दिष्ट हो जायेगी, क्या वह कभी सांसारिक भोगों की ओर उन्मुख होगा ? आज के तथा-कथित संसार के भोग भोगते हुए भी सहजयोग के अनुगामी कहने में हिचक नहीं करते। परन्तु उनकी जो सहजयोग की व्याख्या है वह सन्तमत की न होकर किसी दूसरी ही ओर से आयी लगती है। जैसे पूर्वकाल में औपनिषदीय धारा को विकृत करने के लिए अनेक कपोल कल्पित मार्गों का सृजन हुआ है। उसी प्रकार से आज सद्गुरु कबीर के सहजयोग को भी विकृत बनाने का नवीनपंथियों द्वारा कुचक्र चलाया जा रहा है। जिस ईश्वर का अवतार कबीर साहब के मत से नहीं होता है उसी को सहजयोगी कहने वाले नवीनपंथियों ने स्वयं को ईश्वर का अवतार घोषित कर दिया है जिनके पीछे भारत की भोली-भाली जनता अपने मार्ग से

वंचित होकर कुमार्ग का अवलम्बन लेते जा रही है। यदि भारतीय समाज ने अपनी सही दिशा को नहीं अपनाया तो किमार्गियों के द्वारा अपने मूल स्थान से हटकर कहीं अन्यत्र जा गिरेगी। उक्त किमार्गियों से अच्छा तो हठमार्गियों का पंथ है, क्योंकि हठयोगियों की प्रणाली व प्रक्रिया क्रमबद्ध और वैज्ञानिक आधार पर अवस्थित है जिसके द्वारा शारीरिक एवं मानसिक परिशुद्धि तथा आरोग्यता प्राप्त होती है और अनेक प्रकार की सिद्धियों का उद्भव होता है।

यों कहिए हठयोग सद्‌गुरु कबीर से पहले बहुत लोकप्रिय था। आज भी अधिकांश लोग हठयोग की बातें बहुत चाव से सुनते और कहते हैं। हठयोग के ग्रन्थों में लिखा है कि हठयोग के बाद राजयोग या सहजयोग स्वयं प्राप्त हो जाता है। हठयोग में अनेक प्रकार के साधनों और क्रिया-कलापों द्वारा कुण्डलिनी को जगाने का प्रावधान है जिसमें षष्ठचक्र का वेधन, ब्रह्मरंध्र तक पहुँचना, त्रिवेणी का स्नान, अमृत पान आदि शामिल हैं।

शारीरिक परिशुद्धि के लिए नेती-धोती आदि का हठयोग के ग्रन्थों में वर्णन है। शारीरिक परिशुद्धि के बाद ही हठमार्गी अन्तःकरण की शुद्धि मानते हैं और उसके बाद आत्मज्ञान या परमतत्त्व का दर्शन सम्भव हो सकता है। कुछ अंश में हो भी सकता है, क्योंकि स्नान के पश्चात् स्वास्थ्य में परिवर्तन हो जाता है। आश्चर्य की बात तो यह है कि स्नान के समय में ही राम, ॐ आदि शब्द उच्चरित होने लगते हैं। बाद में बैठकर अध्यात्म चिन्तन में लगने की प्रवृत्ति हो जाती है तथा अनेक प्रकार के धार्मिक कृत्य करने की जिज्ञासा होती है। इस स्वानुभूति के आधार पर बाह्य क्रियाओं का प्रभाव आन्तरिक तत्त्व पर अधिक पड़ता है। इसलिए हठयोग की बहुत सी क्रियायें सार्थक और मानवीय कारिणी हैं।

हठयोग प्रदीपिका, शाट्योपनिषद्, ब्रह्मविद्योपनिषद्, मत्र्युपनिषद्, योगकुण्डलीयोपनिषद्, सन्यासोपनिषद्, अन्नपूर्णयोपनिषद्, मण्डलवृहमाण्डोपनिषद्, योगचूर्णामन्युपनिषद्, योगतत्योपनिषद्, अरण्यसंहिता, त्रिशिख ब्रह्माण्डोपषिद् शाण्डिलोपनिषद्, नादविन्दोपनिषद्, ईशावास्योपनिषद्, योगवाशिष्ठ भागवत् आदि एवं हठयोग से सम्बन्धित ग्रन्थों तथा आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, सरहप्पा से लेकर कण्हप्पा, भर्तृहरि, गोरक्षनाथ, गोपीचन्द

आदि नाथों के वचन देखे जा सकते हैं। उपर्युक्त ग्रन्थों में योगाङ्गों की वरिष्ठ व्याख्या अनेक विद्वानों के द्वारा हुई है। मैं उधर न जाकर सद्गुरु कबीर साहब के सहजयोग पर विचार करने के लिए प्रवृत्त हो रहा हूँ, जो हमारे सद्गुरुओं द्वारा आज तक प्रचारित और प्रसारित होता आ रहा है। उसी सहजयोग को यथा मति प्रकाश डालने के लिए प्रयत्नशील होकर जन साधारण के लिए सद्गुरु कबीर की वाणियों का अनुवाद गुरुओं द्वारा बताये हुए मार्ग का तथा अपने अनुभूति द्वारा प्राप्त मत का उल्लेख कर रहा हूँ।

जो आज तक रहस्य बना हुआ है, उस परम गोपनीय सहजयोग का उल्लेख सद्गुरु कबीर के चरणों का चिन्तन करते हुए कर रहा हूँ।

सहज योग

सद्गुरु कबीर की वाणियों में स्थल-स्थल पर सहज शब्द का प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं पर सहज शब्द हीनता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और कहीं-कहीं श्रेष्ठता के अर्थ में उपविहित है। इसी प्रकार से किसी-किसी स्थान पर ध्यान के रूप में तथा कहीं-कहीं सहजयोग के रूप में प्राप्त है। हीनता के अर्थ में अधोक्त साखी उद्धृत की जा रही है जैसे :

सहजे-सहजे सब गया, सुत-वित कामिनि काम।
राम नाम जाना नहीं, गया सो यम के धाम।।

श्रेष्ठ अर्थ में :

सहज-सहज सबही कहे, सहज न चीन्हे कोय।
जा सहजे साहिब मिलें, सहज कहिजै सोय।।

ध्यान अर्थ में :

सहज ध्यान रहु, सहज ध्यान रहु। गुरु के वचन समाई हो।।

सहजयोग के अर्थ में :

सन्तों सहज समाधि भली है,
गुरु प्रताप भई जा दिन ते, सुरति न अन्त चली है।

अनेक प्रसंग में सहज शब्द का अर्थ कबीरवाणी में प्राप्त है जिससे अपने-अपने अर्थों की उपलब्धि की जाती है। इसी प्रकार से कबीर साहब के प्रत्येक शब्दों के प्रयोग अनेक अर्थों में हुए हैं। परन्तु कबीरपंथी समाज में योग या सुरतियोग का प्रचार अत्यधिक है।

सहज शब्द का अर्थ सीधा और सरल किया जाता है। जो काम सहज में ही हो जाय जिसमें कोई विशेष परिश्रम न करना पड़े, जो थोड़े संकेत मात्र से ही सधता हो उसे ही सहज कहते हैं। लोक में भी इस शब्द का इसी अर्थ में प्रचार है। कुछ विद्वानों का मत है कि हठ के साथ जो जप किया जाय वही सहज है। उनका तर्क है कि 'स' से 'साथ' 'ह' से 'हठ', 'ज' से 'जप'। परन्तु यह अपना उनका अर्थ और तर्क है। कबीर-पंथ में सहजयोग की प्रणाली आज पर्यन्त विद्यमान है। परन्तु सहज शब्द जितना सीधा-सरल समझा जाता है, उसी प्रकार से उतना ही कठिन है। जैसे विना रेखापट (स्केल) के सीधी रेखा खींचना। बिना स्केल के आप कितना भी सावधान होकर रेखा खींचिए, वह टेढ़ी अवश्य हो जायेगी। इसी प्रकार से सहजयोग और सुरतियोग को जानना चाहिए। सहजयोग बलिदानियों के हैं, जो जीवन-मरण का भय छोड़ देते हैं। उनके लिए जिनकी बुद्धि अति सूक्ष्म, गम्भीर, विवेकशील है। सहजयोग विषयी पामरों एवं संसारासक्तों के लिए नहीं है। इस विषय में कबीर साहब कहते हैं कि मनुष्यों को जीवन भर सांसारिक सुखों को भोगते-भोगते आयु रूपी पग थक गया। रास्ता नौ कोस ही था, नौ दरवाजों को पार कर दशवें द्वार तक पहुँचना था जहाँ पर अमूल्य वस्तुओं की खरीदारी करनी थी; परन्तु संसार में आसक्त होने के कारण वहाँ तक न पहुँच सका। अप्राप्ति दशा में ही जीवन का अन्त हो गया। भला इसमें किसका दोष है। कबीर साहब कहते हैं कि सारा संसार सुखी है। तुच्छ विषयों को पाकर मोह रूपी रात्रि में सो रहा है। मैं तो दुखी हूँ क्योंकि संसारियों के दुख को देख कर निद्रा नहीं आती। रोते-रोते दिन और रात बीत गयी है। मुझे कोई ऐसा नहीं मिलता जिसे सहजयोग की शिक्षा दूँ।

मैंने अपने घर को फूँक दिया जिसमें अशान्ति का भय था। काम-क्रोध रूपी वस्तु जल गये, जो क्रोध मुझे रुला रहा था, जो मोह मुझे संसार में अटकाये था, संसार में फँसा कर सुलाये हुए था। जो कामनायें मुझे अनेक दिशा में प्रतिबन्धित किये हुए थीं, जो अहंकार मुझे सत्य तक नहीं पहुँचने देता था, जो अपवाद मुझे निर्मल नहीं होने देता था। वे सब मेरे साथी शरीर रूपी घर में जलकर भस्म हो गये। अब मैं निर्भय हो गया हूँ। वैराग्य रूपी अरणी को ज्ञान रूपी अग्नि में प्रज्वलित कर लिया है। अब प्रतिज्ञा यही है कि जो व्यक्ति सहजयोग सीखना चाहे,

और मेरा साथी बनना चाहे, वह भी अपना घर फूँक कर चौराहे पर आ डटे, तभी उसको कुछ उपलब्ध हो सकेगा। परन्तु जिसको खोजते-खोजते कल्प बीत गये, वह वस्तु घर में ही थी। अत्यधिक गर्व-गुमान के कारण उससे दूर हो गया। इसलिए मेरे पास आने में असमर्थ रहा। मैं तो अपनी गुह्यतम् विद्या को सिखाने के लिए देश-विदेश में भी गया, गाँव-गाँव की "खोरियों" में घूमा तो भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिला जिसको मैं साफ-सुथरा कर साधना की सब बातें बतला दूँ।

चलते-चलते पगु थका, नगर रहा नौ कोस।
बीचहीं में डेरा पड़ा, कहहु कौन को दोष॥
सुखिया सब संसार है, खावे और सोवे।
दुखिया दास कबीर है, जागे अरु रोवे॥
हम घर जारा आपना, लिया लुकाठा हाथ।
अब घर जारों तासुका, जो चले हमारे साथ॥
जेहि खोजत कल्पो गया, घटहि माँहि सो नूर।
बाढ़ी गर्व गुमान ते, ताते परिगो दूर॥
देश-विदेशे हौं फिरा, गाँव-गाँव की खोरि।
ऐसा जियरा ना मिला, लेऊँ फटकि पछोरि॥

सद्गुरु की इन वाणियों पर विचार करें, क्या कह रही हैं? क्या यह नवीन पंथियों पर नहीं घटित होतीं। जो बैठा रहे, "चला पुनि जाता" की पंक्ति चरितार्थ कर रहे हैं। सबको सहजयोग का ढोल पीटते, सुरति-योग का नारा लगाते हुए, भेड़िया धसान वाली बात क्या नहीं करते? अपने तो खारी खाते हैं, दूसरों को कपूर देने की बात करते हैं। सद्गुरु कबीर के सिद्धान्तानुसार सहजयोग का अधिकारी वही हो सकता है जो संसार के समस्त कामनाओं का परित्याग कर, सद्गुरु के शरण में जा कर, जिज्ञासु बनकर उनके समीप निवास करे, वही सहजयोग का अधि-कारी हो सकता है। अन्यथा विष और मधु एक साथ चखने से अपच हो जायगा और अनुपलब्धि अवस्था में पड़ कर वंचकों के द्वारा ठगा जायगा। इसलिए जिज्ञासुओं को चाहिए कि सहजयोग को जानें। सहजयोग को जानने वाला कौन है?

सहजयोग मानव के आत्म विकास की अपनी सम्पत्ति है। बिना इनके सहजयोग का ज्ञान होना दुर्लभ है। कबीर-पंथ में अभी ऐसे लोग विद्यमान हैं जो सहजयोग को बता सकते हैं।

सहजयोगी का लक्षण सद्गुरु कबीर साहब बताते हैं कि जो अभिमान को त्याग देता है। "नख शिख तजे विकार" अर्थात् छोटे से बड़े विकारों से दूर रहता है। सभी प्राणियों से निर्वैर रहता है। अहर्निश परमतत्त्व का चिन्तन करता है। उसी को सहजयोगी, परम साधु कह सकते हैं। दूसरी बात कहना हितकर नहीं है। उपर्युक्त कथन के अनुसार यदि कोई आचरण नहीं करता है, वह न सहजयोगी है, न सन्त है।

आपा तजे हरि भजे, नखशिख तजे विकार।
सब जीव से निरवैर रहै, साधु मता है सार॥

सहज बुद्धि सहजै भई, सहज भया सब काम।
दास कबीरा मिलि रहा, सहजे-सहजे राम॥

सुरति निरति मेला भया, निरति रही निरधार।
सहज रूप में रमि रहा, निरालम्ब निरधार॥

सहजयोग की व्याख्या सद्गुरु कबीर ने अपने वाणी, वचनों के द्वारा कहा है। स्वयं उनका अर्थ न होने से विद्वानों ने अनेक तर्कों के द्वारा अपने अपने अनुसार उनका सहजयोग निरूपित किया है।

सहयोग का नाम कहीं-कहीं पर कतिपय विद्वानों ने राजयोग भी रखा है। पर दोनों में विरोध अवश्य दिखता है। राजयोग को यों कहिए 'योग-राज' जो प्रत्येक योग पद्धतियों का राजा हो, उसे योगराज या राजयोग कहते हैं। परन्तु राजयोग के कथन में हठयोग का मिश्रण भी पाया जाता है। इसलिए सहजयोग उससे पूर्णरूपेण भिन्न है। सहजयोग स्वयं सहज है वह आडम्बरविहीन सभी योग पद्धतियों का शिरोमणि सुरति-निरति का खेल है। हठयोग की पद्धति से उसका कोई मेल नहीं। क्योंकि सहजयोग की पद्धतियाँ सहज रूप में ही चलती हैं। सर्वप्रथम सहजयोग के साधन के निर्देशन से पूर्व थोड़ा उसकी ओर संकेत किया जाता है।

सहज आसन से साधक को बैठकर मन को एकाग्र कर लेना चाहिए। तदुपरान्त चित्त पर ध्यान रखिए। चित्त पर ध्यान रखने का क्रम धीरे-धीरे होता है। चित्त की वृत्ति में दो मुख होते हैं। एक अन्तर्मुखी दूसरी बाह्यमुखी। अन्तर्मुखी वृत्ति का सुप्तावस्था में परिगमन होता है और दूसरा परिगमन चिन्तन और क्रिया के द्वारा है जिसके लिए साधक को साधनारत होना पड़ता है। इसी प्रकार से बाह्य वृत्ति का प्रथम तो स्वा-भाविक परिगमन होता है दूसरा परिगमन योगी व्यवहार के लिए बाह्य-

मुखी बनाता है। इस प्रकार वृत्तियों का प्रवाह चलता रहता है। स्वाभाविक बाह्यमुखी वृत्ति का परित्याग करके साधक अन्तर्मुखी वृत्ति का आश्रयण करके सहज रूप में अन्तःपुर में प्रवेश कर सकता है। जहाँ पर स्थिर होकर सत्य शब्द का सुमिरण करना पड़ता है। इसके बाद मनोवृत्ति निर्मल हो जाती है। स्वतः शून्य सहज में विचरण करने लग जाती है। जिसके साथ सूक्ष्म शरीर की सारी सूक्ष्म तरंगे उधर ही उन्मुख हो जाती हैं। मनोवृत्ति के पूर्णरूप से स्थिर हो जाने पर एक प्रकाशपुंज का दर्शन होता है, जिसमें वृत्ति लय हो जाती है। वह प्रकाश स्वरूप आत्मा ही है। उस आत्मा में प्रवेश कर साधक परमानन्द का रसास्वादन करने लग जाता है। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि मैं उन साधक को धन्यवाद देता हूँ जो सहज शून्य में निरालम्ब पद को प्राप्त कर लेता है। जहाँ से अखिल ब्रह्माण्ड का द्रष्टा बनकर भूत भौतिक सृष्टि का अवलोकन करता रहता है जो कभी प्रलय के प्रवाह में विलीन नहीं होता। क्योंकि वह प्राणापान की गति को जान लेता है। वह प्रलय के समय में प्रलय कर्तृ प्रकृति के स्वरूप में अपने को तादात्म्य कर लेता है। इसलिए प्रकृति माता अथवा काल भगवान् उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते। इसलिए कि वह साधक सारे प्राणियों को आत्मा को अपने में देखता है और अपने को सारे प्राणियों में देखता है। जिसकी सत्ता स्फूर्ति से जगत् की सर्जना होती है वह इस सारभूत आत्मा में अपने को लय कर लेता है। उस सर्जनात्मक तत्त्व में अभेद होकर उक्त योगी भी अपने को अखिल ब्रह्माण्ड का नायक अनुभव करने लग जाता है।

सुनि सहज मन सुमिरते, प्रगट भई एक जोति।
बलिहारी ता पुरुष की, निरालम्ब जो होति॥

निरालम्ब को प्राप्त होने पर योगी भय से मुक्त हो जाता है क्योंकि भय वियोग में होता है, भय अकेलेपन में होता है जब दो में योग हो जाता है अर्थात् तादात्म्य भाव को प्राप्त हो जाता है। तब वह भय किससे करेगा। वहाँ पर भय का स्थान ही निर्मूल हो जाता है और समसत्ताकार बनकर योगी अपने आप में रमण करने लगता है। उसमें अनन्त कलाओं एवं अनन्त शक्तियों का ढेर लग जाता है, यहाँ तक कि अनेक ब्रह्माण्डों का सर्जन और विसर्जन दोनों करने में समर्थ हो जाता है। उसके संकल्प मात्र से सारी वस्तुएँ उत्पन्न होने लगती हैं। उसमें दिव्यता आ जाती

है। वह अपने को व्यापक तत्त्व समझने लग जाता है। वह अनन्त, असीम, अछेद, अभेद और अविनासी परातत्त्व स्वरूप में अहर्निश समत्व भाव में आरूढ़ रहता है।

वह एकता को प्राप्त होने के कारण जन्म-मरण के चक्कर में नहीं पड़ता है। परन्तु वहाँ तक पहुँचने के लिए साधक को बहुत समय लग जाता है। प्रथम तो जब वह साधक आसन पर बैठता है तो मन की वृत्ति बहुत तोड़-फोड़ मचाती है और जो मन की गति है एवं प्रणयकला जिसको कहते हैं उसका दूसरा नाम सुरति भी है। स्मृति का बिगड़ा हुआ रूप सुरति के रूप में प्रयुक्त होता है। वह सुरति निःतत्त्व निरति की ओर जाने के लिए शीघ्र प्रस्तुत नहीं होती। सुरति का दूसरा अर्थ यह भी होता है—'सु' अच्छा, रति माने निष्ठा, लगना। जिस वस्तु में अच्छी रति हो वह सुरति कहलाती है। इसी अर्थ में विषयानन्द और ब्रह्मानन्द दोनों आते हैं। किसी-किसी विद्वानों के मत में स्त्री संभोग को भी सुरति कहा गया है। संसार में यह ज्यादा प्रचलित है। परन्तु परलोक-यात्रा में परमेश्वर में अनुरक्ति होने वाली प्रवृत्ति को सुरति कहते हैं। क्योंकि सद्गुरु कबीर प्रायः सुरति किसी के आश्रय बताते हैं। जैसे :

शब्द बिना सुरति आँधरी, कहौं कहाँ को जाय।
द्वार न पावे शब्द का, फिर-फिर भटका खाय।।

यहाँ सुरति को असहाय दिखाया गया है। बिना शब्द के उसको रास्ता नहीं मिला। सुरति को संकेत चाहिए। बिना संकेत के वह अन्दर प्रवेश नहीं कर पाती। यदि अगुवा नहीं है तो वह भटक जाती है। गुरु का मन्त्र ही अगुवा है, वही शब्द है बिना उसके निःतत्त्व, निरति तत्त्व उसमें प्रवेश नहीं हो पाता। सद्गुरु कबीर साहब सुरति को निरति तक पहुँचाने के लिए सत्य रूपी डोरी को ग्रहण और सुमिरण बताते हैं।

'शून्य सहज मन सुमिरते, प्रगट भई एक जोति।' वाली साखी में संकेत अंकित है। सत्य शब्द ही सहजयोग की डोरी है। उसी को पकड़कर साधक त्रिकुटी को पार कर भँवरगुफा में प्रवेश कर सत्य का दर्शन कर सकता है। साधक जब सत्य शब्द का उच्चारण प्रारम्भ करता है तो कुछ दिन तक रसना से रट लगाना पड़ता है। अधिक अभ्यास करने से वह रसना वाला जप मन से आरम्भ हो जाता है। वहाँ पर जिह्वा बन्द हो जाती है मन स्वयं सत्य शब्द उच्चारण करने

लग जाता है। सत्य शब्द का भेद गुप्त रखा गया है क्योंकि सत्य शब्द क्या है जब तक इसका जिज्ञासु न मिले तब तक गुरु की ओर से इसका भेद बताना वर्जित है।

साधक को यह ध्यान रखना चाहिए कि जब जप रसना से प्रारम्भ करता है तो समुचित प्रकारेण एकान्त और अन्धकार में बैठकर करना चाहिए। जहाँ पर प्रायः बाह्य हलचल न हो। प्रथम अवस्था में इसकी बड़ी आवश्यकता है क्योंकि मन पहले से बहिरङ्ग रहता है और पंच विषयों का रसास्वादन किये रहता है इसीलिए एकान्त तथा निर्मलता की बड़ी जरूरत है। साधक को उक्त दशा में सात्विक भोजन का ही सेवन करना चाहिए। जप करते समय अन्य शब्दों का श्रवण निरोध करें और साधक जप करते हुए श्वास क्रिया पर बहुत सूक्ष्मता से ध्यान रखे। श्वास की क्रिया ऊपर से नीचे तथा नीचे से ऊपर होती है। श्वास का सम्बन्ध पंच प्राणों से होता हुआ अंतःपुर में परमतत्त्व तक रहता है। इसलिए जब वायु की गति ऊर्ध्वारोही होने लगती है अर्थात् नीचे से ऊपर को चढ़ने लगे उसी समय जप करता हुआ साधक सुरति को श्वास के साथ लगा दे। यहाँ पर बड़ी बारीकी से काम लेना पड़ता है। जैसे विद्युत् के सूक्ष्म तारों को मूल केन्द्र में जोड़ना पड़ता है उसी प्रकार से साधक को सुरति श्वास में जोड़ना पड़ता है। जब साधक अपने मन को श्वास में लगा देता है तो मन भी श्वास के साथ-साथ ऊर्ध्वारोही होने लग जाता है। यहाँ प्राणायाम की जरूरत नहीं होती। यह सहजयोग की एक सहजकला है। इस जोड़ने की कला को वह जानता है। कुछ दिन के बाद साधक को कोई विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता।

इस क्रिया को हो सके तो साधक रात्रि बारह से ४ बजे के बीच करे। परमतत्त्व की प्राप्ति चाहने वाले साधक को दिन में अधिक सो लेना चाहिए। क्योंकि निद्रा से रात में क्रिया करने में बाधा पड़ती है। न्यूनतम से न्यूनतम ६ मास तक लगातार इस क्रिया को करना परमावश्यक होता है। जो साधक सम्पन्न नहीं है, गरीब है, दिन भर काम करता है उसको सोने का समय दिन में मिलना सम्भव नहीं है। वह साधक सूर्यास्त के बाद ही सब कार्य करके सो जाय। ६ घंटे सोने के बाद उक्त क्रिया को चालू कर दे। साधक को इस क्रिया को करने के कुछ दिन बाद मुख सूखने लग जाता है। पर साधक को भय नहीं करना चाहिए। थोड़े ही दिन में मिश्री के स्वाद के समान मीठा स्वाद मिलने लगता है उस

अवस्था तक साधक भीतर से प्रसन्न रहने लगता है। चित्त निरुद्ध होने पर रसना वाला जप बन्द हो जाता है। यह सब अजपा-जाप में ही होता है। इसलिए साधक की प्रसन्नता का कारण चित्त है। इसलिए जिस प्रकार से हो सके मन को निर्मल बनावे। किसी प्रकार से चित्त में कलुषता आने न दे। इस प्रकार से जप क्रिया ६ मास तक पूर्ण होने लगती है तो वायु के साथ-साथ जप करता हुआ मन कुण्डलिनी के समीप पहुँच जाता है, जो अधोमुख बैठी हुई है। क्रिया के प्रभाव से वह कम्पायमान होने लगती है। उस समय साधक के लिए पहुँचे हुए गुरु की परम आवश्यकता होती है। क्योंकि कुण्डलिनी सर्पाकार कुण्डली मारकर बैठी रहती है। जप के द्वारा छेड़छाड़ होने से वह उद्विग्न हो उठती है। क्योंकि जप का श्वास के साथ मिल जाने से मूलाधार से सहस्रार तक अर्थात् आकाश से पाताल तक प्रत्येक तन्तुओं को आन्दोलित कर देती है। जप वाला वायु ठीक कुण्डलिनी के मुख के ऊपर असर डालता है जिसके कारण फुफकार मारकर अपनी ओर साधक को आते याद होती है। ऐसी दशा में अनभिज्ञ साधक भयभीत होकर अपने पद से विचलित हो जाता है और जोरों से चिल्लाने लगता है। कितने साधक तो पागल हो जाते हैं। ऐसी दशा में गुरु ही बचा सकता है या जिसपर परमेश्वर की असीम कृपा रहती है वह स्वयं भयभीत नहीं होता, क्योंकि कुण्डलिनी के समीपस्थ होने पर संसार से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। इन्द्रियाँ अन्तर्मुख हो जाती हैं जिसके कारण साधक कुछ काल तक पराधीन हो जाता है। यदि साधक की उक्त दशा हो जाय तो गुरु या कोई चतुर मनुष्य उसकी रक्षा करते रहे। उस समय उसके सिर पर अधिक जल छोड़ें और शीतलतायुक्त तेल का मर्दन करें। कुछ दिन के बाद साधक स्वयं सचेत अवस्था में आ जाता है और जहाँ-तहाँ शान्त बैठे दिखाई देता है। यदि ज्यादा दिन तक पागलपन रहे तो पास के लोगों को चाहिए कि किसी जानकार सन्त महात्मा के पास पहुँचा दें। प्रथम तो साधक को संयम से काम लेना चाहिए। ताकि उक्त अवस्था को न प्राप्त होवे। भोजन आदि नियमित रूप से करे। खट्टा, मीठा एवं कड़ुआ का परित्याग कर दे। मांस, मद पूर्ण रूप से छोड़ दे। अजीर्ण भोजन न करे। इस क्रिया को करने वाले को स्त्री-प्रसंग कदापि न करना चाहिए। यदि करे तो भी एक वर्ष तक नियम बना लें। यदि अधिक कामोद्वेग हो तो ६ माह तक अवश्य मन को नियन्त्रण कर रखे। अन्यथा यह क्रिया

सफल नहीं हो सकती है और न सहजयोग ही हो सकता है। क्योंकि वीर्य की अधिकता से हृदय पुष्ट होता है तथा मस्तिष्क को बल मिलता है और मन की गति में शक्ति आ जाती है।

वीर्य की अधिकता से वृक् नामक अग्नि जो पक्वाशय में स्थिर है, वह भी प्रदीप्त हो उठती है जिसके कारण पाचन-शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि गरिष्ठ से गरिष्ठ पदार्थ पच जाते हैं। कभी-कभी इस मार्ग के योगी जहर भी पचा लेते हैं। इतिहास के अनुसार मीराबाई और कबीर साहब तथा अन्यान्य संतों का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। वीर्य की गरिमा वेदों में वर्णित है। एक स्थल पर आया है कि वीर्यवान् पुरुष ही कालान्तर में ब्रह्मा होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वीर्याधिक्य से ही साधु-संत, योगी-जन शीतोष्ण सहन करने में समर्थ होते हैं। इसलिए वीर्य की रक्षा करना साधक का परम कर्त्तव्य है, जिससे कि मन, मस्तिष्क तथा हृदय तीनों सबल बनें। ये तीनों जितना ही पुष्ट रहेंगे, उतना ही सहजयोग में सफलता मिलेगी। क्योंकि निर्बल मन, निर्बल हृदय एवं निर्बल मस्तिष्क न तो लौकिक और न ही पारलौकिक कार्य कर सकते हैं। एक बात ध्यान देने योग्य है कि कभी-कभी ब्रह्मचारी को ऐसे रोग हो जाते हैं जिससे लोक में उसका उपहास होता है। इसका कारण वीर्य की अशुद्धता है। उष्ण पदार्थों के खाने से वीर्य में अधिक उष्णता आ जाती है। परिणामस्वरूप फोड़ा-फुन्सी, दाह, मधुमेह और फास्फेट दूषित वीर्य के ही परिणाम हैं। इसलिए साधक को अत्यधिक संयमपूर्ण भोजन करना चाहिए। वातज भोजन तथा विषवर्धक भोजन भी त्याज्य है। स्त्री नवयुवती हो या अर्द्ध अवस्था से पार की हो, साधक उसकी मुखाकृति एवं वक्षस्थल को न देखे तथा उसका स्पर्श भी न करे। उक्त अंगों को देखने से भी वीर्यस्राव होने लगता है तथा ब्रह्मचर्य हनन का उपक्रम भी हो जाता है। स्त्री दर्शन यदि हो भी तो अवस्था के अनुसार मातृ, भगिनि और पुत्री का भाव रखे। भरसक इनसे दूर रहे तो अच्छा है। इसी प्रकार से स्त्री साधिका हो तो उसे भी पुरुषों से बचना चाहिए। साधक पुरुष के लिए जो नियम हैं वही नियम साधिका स्त्री के लिए हैं। कामवासना दोनों के लिए घातक है। कामवासना को लेकर ही स्त्री-पुरुष को दूर रहने को बताया गया है। अन्यथा न स्त्री बुरी है और न पुरुष अच्छे हैं। स्त्री-पुरुष दोनों में एक ही आत्मा निवास करती है। इसलिए सब सामान्य रूप से मानव हैं परन्तु

जहाँ तक ब्रह्मचर्य का प्रकरण है वह दोनों को पृथक् रहकर साधना करनी चाहिए।

इस सहजयोग को सभी जाति, सभी धर्म के लोग तथा सभी देश के लोग कर सकते हैं। पर ब्रह्मचर्य का नियम सभी के लिए अनिवार्य है। भारत उष्ण प्रधान देश है। इसलिए इसे अत्यधिक ब्रह्मचर्य पालन की आवश्यकता है। ब्रह्मचारी के लिए कबीर साहब कहते हैं कि ब्रह्मचर्य के अभाव में पूर्णत्व को प्राप्त करना सम्भव नहीं है। वे कहते हैं कि— पूर्णरूप से कामदेव का निरोध करने पर ही कर्मकृत कश्मल नष्ट हो सकते हैं। आठ प्रकार के मैथुनों को भी जीतने का निर्देश देते हैं। उनका कहना है कि जो स्वप्न में भी बिन्दु को गिरने नहीं देता है उस पुरुष का जरा-मरण नहीं होता। अर्थात् वह न तो वृद्धत्व को प्राप्त होता है और न मरणत्व को। वे कहते हैं कि ब्रह्मचर्य का क्षय विशेषकर स्त्रियों के साथ होता है क्योंकि स्त्री में अग्नितत्त्व की बहुलता, और पुरुष में द्रवत्व का बाहुल्य होता है। इसलिए दोनों के आस-पास रहने से भी कामोद्वेग हो जाता है। उक्त अग्नि-तत्त्व उनके विशेष अंगों में विद्यमान होते हैं जिसके अवलोकन से भी द्रवत्व का द्रवीकरण होता है। इसलिए कबीर साहब ने योगियों के लिए उक्त बातें कही हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि जनक, याज्ञवल्क्य आदि गृहस्थ और स्त्री के साथ रहने पर भी परमतत्त्व को प्राप्त किये हैं ऐसी बात नहीं है। वे सब महापुरुष पहले गृहधर्म तथा स्त्रीसंग में रहते थे। सारी बुराइयों का त्याग करने पर ही उनको परमतत्त्व की उपलब्धि हुई थी। इसलिए यहाँ त्याग का ही तात्पर्य है। जनक और याज्ञवल्क्य के विषय में कबीर साहब के कथनों से ही उपर्युक्त बातें सिद्ध होती हैं।

'मूदे मदन काटि कर्मकसमल सन्तत चुवत अगारी।'

तबहीं विष्णु कहा समुझाई। मैथुन अष्ट तुम जीतहु जाई॥

तब सनकादिक तत्त्व विचारा। ज्यों धन पावें रंक अपारा॥

सपनेहुँ बिन्दु देइ नहिं झरना। ता काजी का जरा न मरना॥

नारी नसावे तीन गुण, जेहिं नर पासे होय।
ज्ञान, ध्यान और मुक्ति में, बैठ सके ना कोय॥

चतुर साधक को इन पंक्तियों पर विचार करके ही सहजयोग की ओर उन्मुख होना चाहिए। अन्यथा उसके परिश्रम निरर्थक हो जायेंगे। ऐसे

साधक कुछ पा नहीं सकते हैं। अन्त में अध्यात्म विषय एवं सहजयोग की निन्दा में लग जाते हैं। अपने तो स्वयं आत्मानुभव से वंचित हो जाते हैं और दूसरे साधकों को भी साधनापथ से विरत कर देते हैं।

निर्देशक गुरु को चाहिए कि बिना पूर्ण अधिकारी जिज्ञासु को परखे बगैर उपदेश न करे। क्योंकि कबीर साहब ने उक्त प्रकार के जिज्ञासुओं के लिए निषेध किया है। सद्गुरु कबीर का कहना है कि परम अद्भुत जो सहजयोग है उसे अनधिकारियों के समक्ष प्रस्तुत नहीं करना चाहिए। यदि उसका कथन करते भी हों तो छिपे तौर पर कोमल हृदय वाले निष्कपट श्रद्धालु भक्त के प्रति कथन करें। क्योंकि सहजयोग का उल्लेख वेद-पुराणों में नहीं किया गया है। इसलिए यदि अनभिज्ञ अनधिकारी के प्रति कहोगे तो वह विश्वास नहीं करेगा :

ऐसा अद्भुत मत कथो, कथो तो धरो छिपाय।
वेद पुराणे ना कही, कहो तो को पतियाय॥

अतः निर्देशक को चाहिए कि बिना अधिकारी के इस योग को न सुनाना चाहिए और न ही बताना चाहिए। अधिकारी को भी चाहिए कि जब तक उक्त सहजयोग का रहस्य न जान जाय तब तक हठपूर्वक इस सनातन योग को न सीखे। यदि दोनों इस आज्ञा का उल्लंघन करेंगे तो पुरातन योग दोनों को नष्ट कर देगा। यह रहस्यमय आध्यात्मिक विषय है। भौतिकवादी इसे नहीं समझ सकते। जिनकी वृत्ति पराङ्मुखी है उन्हें इस योग के समीप नहीं आना चाहिए। उनके लिए भक्तिभाव के सहित वलीमुखमार्ग, पिपीलमार्ग अथवा हठयोग, योग, दान-पुण्य, परोपकार, पर-सेवा प्रभु की भक्ति ही विहित है। ऐसे ही लोग प्रतिमा के भी पुजारी हो सकते हैं। उक्त कृत्यों को करने के बाद अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वह भी श्रद्धा के साथ किया जाय तभी सम्भव है। अन्यथा श्रद्धा विश्वास के बिना सब निष्फल हो जायेगा। इसीलिए बार-बार साधक और साधना कराने वाले को पात्रता, अपात्रता पर खूब विचार करना चाहिए। तभी उपर्युक्त मार्ग में प्रवृत्त होना श्रेयस्कर होगा। अन्यथा :

उपजे खेत बीज नहीं परई। ज्यों रे किसान किसानी करई॥

वाली बात हो जायेगी। अस्तु, सत्य शब्द का उच्चारण करता हुआ साधक का मन चक्राकार हो जाता है। सगर्भ प्राणायाम अर्थात् श्वास के साथ जुड़ा हुआ मन बायें से दाहिने की ओर होता हुआ ब्रह्माण्ड की

ओर चल पड़ता है। उपांसु के बाद ब्रह्माण्डगामी मन कभी-कभी दायें से बायें की ओर घूम जाता है जो साधक के लिए महान् घातक है। क्योंकि वह चन्द्रलोक की ओर ले जाने वाला मार्ग है जिसे लोक में पितृ-यायन के नाम से अभिहित करते हैं। पितृयायन से चलता हुआ साधक, योगी लोकों में पहुँचता है जहाँ पर बहुत काल के बाद अधोगामी हो जाता है। वह मार्ग अधिक संकटों से घिरा हुआ है। तमाच्छन्न होने से उसमें कुछ दिखाई नहीं देता है। इसीलिए उसको महातमाच्छन्न मार्ग कहा गया है। सचेष्ट साधक को चाहिए कि बायीं तरफ से मन को न जाने दे, वह सुरति को श्वास के साथ लगाकर दाहिनी तरफ अर्थात् उत्तरायण का आश्रयण करे। जो सूर्यलोक अर्थात् प्रकाशमय लोक को होता हुआ ब्रह्मलोक को पार करते हुए समसत्ता में प्रवेश करने का मार्ग है। जिस मार्ग से गया हुआ योगी पुनः नीचे के लोकों में नहीं आता है। यदि साधक को समझ में न आवे तो गुरु से परामर्श कर लेना चाहिए। दायीं तरफ से घूमता हुआ मन जब ब्रह्माण्ड की ओर ऊर्ध्वारोही हो जाता है तब साधक का सिर भी घूमने लग जाता है तथा पृष्ठ भाग की ओर कुछ टेढ़ा हो जाता है। यह भी साधक के लिए घातक है क्योंकि सिर के टेढ़ा हो जाने पर और घूमने लग जाने पर मार्ग में वक्रता आ जाती है एवं श्वास की गति भी ठीक से नहीं चलती। इस कारण नीचे की ओर मन प्रवृत्त हो जाता है। इसलिये साधक को चाहिए कि समुचित रूप से मेरुदण्ड से लेकर सिर तक शरीर दण्डाकार रखे और बन सके तो सिद्धासन से ही बैठे उसके लिए यही उत्तम होगा। सिद्धासन पर बैठने से कुण्डलिनी अर्थात् ज्ञानवाहिनी नाड़ी के मुख पर उष्णवात का दबाव पड़ता है जिसके कारण ज्ञानवाहिनी का मुख खुलने लग जाता है। इसलिए प्रत्येक साधक योगी के लिए सिद्धासन से ही बैठना उत्तम है।

सिद्धासन विधि

सिद्धासन उसे कहते हैं जो सिद्धि व आत्मप्राप्ति के लिए ऋषियों द्वारा अन्वेपित है। बायें पाँव की एड़ी को शिश्न के नीचे बीच वाली नस पर जो पोता के नीचे से लिंगद्वार तक जाती है, जिसके द्वारा वीर्योत्वाहन होता है, उसी नाड़ी के नीचे बायें पैर की एड़ी को बीचो-बीच रखना चाहिए अर्थात् शिश्न के ऊपर दाहिना पैर रखना चाहिए। तदुपरान्त दण्डाकार बैठकर शनैः शनैः उक्त आसन पर शरीर का भार देना चाहिए। कुछ

दिनों के बाद सम्पूर्ण शरीर के भार को उक्त आसन पर दे देना चाहिए। परिणाम स्वरूप कुण्डलिनी का जागरण भी सम्भव हो जाता है एवं जठरानल उद्दीप्त हो जाता है। इसके उद्दीप्त होते ही खाया हुआ अन्न शीघ्र ही पच जाता है। कब्ज आदि रोग नहीं होते और भी अनेक रोग सिद्धासन से शमन होने की बात योग के ग्रन्थों में उल्लिखित है। यदि साधक सिद्धासन से न बैठ सके तो पद्मासन, वज्रासन या योग के किसी भी सुगमासन से बैठकर साधना करे। यदि योग का कोई भी आसन साधक के लिए उपयुक्त न हो सके तो सहज आसन से ही बैठे। परन्तु मेरुदण्ड और सिर को सीधा रखना चाहिए ताकि प्राणायाम की गति ठीक से चल सके। श्वास के अर्ध-ऊर्ध्व में जाने-आने में कठिनाई नहीं होने पावे। अन्यथा कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। आसन पर साधक को विशेष ध्यान रखना चाहिए क्योंकि योग में आसन को ही मूलरूप में माना गया है। योग की सारी क्रियाएँ आसन पर ही आधारित हैं। यदि आसन ठीक नहीं है तो उसका योग भी ठीक नहीं हो सकता। इसलिए साधक को चाहिए कि जानकार गुरु, जो आसनों की विधि को जानता हो, उससे आसन से बैठने की विधि सीखे। अन्यथा यथोचित आसन न होने से अनेक प्रकार के मूत्रविकार एवं मलावरोध के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए साधक को चेतावनी दी जाती है कि योगध्यान करने के प्रथम आसन से बैठना सीखे।

जपक्रिया का समय

जप के विषय में जो प्रथम निर्देशन किया गया है वही काल उत्तम है। रात्रि १२ बजे से प्रातः ४ बजे का समय संतों द्वारा निर्धारित किया गया है। वैसे तो वास्तविक समय १२ बजे रात्रि से २ बजे रात्रि तक का समय विशेष श्रेष्ठ है। सायं सूर्यास्त के बाद भी साधना की जा सकती है परन्तु बहुत ही एकान्त स्थान होना चाहिए। निर्वात प्रदेश में साधना को साधक शनैः-शनैः बढ़ाते जायँ। जप आरम्भ करने के पूर्व गुरु के स्वरूप का ध्यान करना आध्यात्मिक व्यक्तियों के लिए विहित है। योग के लिए इसमें वैज्ञानिक रहस्य है जिसे विद्वान् पुरुष जानते हैं। तदुपरान्त साधक मन की वृत्ति को जहाँ पर बैठता हो वहाँ से शत वितस्ति की दूरी पर रखे। जप करता जाय और धीरे-धीरे जप के साथ मन को भी अपनी ओर केन्द्रित करता जाय। इस प्रकार से कुछ

काल के बाद मन की वृत्ति नासिका के पास चली आती है और साधक जप के द्वारा अन्तःपुर में प्रवेश कर लेता है। इसमें साधक को किसी प्रकार का किसी भी अंग में विकार उत्पन्न होने की संभावना नहीं रहती है। वृत्ति को एकाएक रोकने पर त्रिकुटी में ध्यान लगाने से कर्णेन्द्रिय एवं नेत्रेन्द्रिय पर बड़ा कुत्सित प्रभाव पड़ता है। ऐसे साधक कभी-कभी अन्धे और बहरे भी हो जाते हैं जिसके कारण शरीर में अनेक प्रकार की विकृतियाँ आ जाती हैं। जैसे—चेहरे पर काले धब्बे पड़ जाना, नेत्र के आन्तरिक भाग में भी कालापन आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं। मस्तिष्क में निर्बलता भो आ जाती है। इसलिए साधक को हठात् अथवा हठयोग की किसी भी प्रक्रिया को यदि करना चाहता है तो बलपूर्वक न करे। साधक को चाहिए कि सहज रूप में ही क्रिया का समारम्भ करे। सर्वप्रथम इस प्रकार की साधना करने के पहले भोजन नहीं करना चाहिए। यदि भोजन करे भी तो अल्पाहार अथवा दूध, दही का पानी, फल का रस लेवे। साधनोपरान्त भरपेट खाने में कोई आपत्ति नहीं है। साधक को एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि साधना करने के पश्चात् आसन पर ही कुछ काल तक शान्तचित्त बैठा रहे। तुरन्त इधर-उधर, चलना-फिरना न करे ताकि नसों में जो उभार आ जाता है वे अपने-अपने स्थान पर ठीक रूप में स्थिर हो जाय अन्यथा रक्त के संचार में दोष आ जाता है और उदररोग, वातरोग आदि होने का भय रहता है।

इस प्रकार से साधनारत साधक जो रसना से जप करता है, कुछ दिन करने के पश्चात् वह जप, अजपाजाप के रूप में आरम्भ हो जाता है। अर्थात् रसना वाले जप को मन स्वयं करने लग जाता है और श्वास के साथ एकबद्ध तादात्म्य भाव को धारण कर लेता है। अजपाजाप जब आरम्भ होता है तो सर्वप्रथम साधक को अनाहत नाद सुनाई देता है। कभी-कभी अनाहत शब्द समुद्र की गर्जना का रूप लेता है। कभी-कभी वज्रपात जैसे शब्द भी ध्वनिपात होते हैं। ऐसी दशा में कोई-कोई साधक घबड़ा कर विक्षिप्त हो जाता है और उसकी साधना भी बिगड़ जाती है। ऐसे स्थान पर पहुँचने के बाद जब थोड़े-थोड़े शब्द सुनायी देना आरम्भ हो जाय तो साधक को चाहिए कि गुरु से सम्पर्क बना ले। गुरु उस भयंकरता को दूर करके आगे को ओर निर्देशन देता है। जहाँ पर अनाहत शब्द सुनायी पड़ता है। ब्राह्माण्ड के अन्दर ऐसे स्थान हैं जो स्वयं गतिमान रहते हैं। ये स्थान एक प्रकार

के शारीरिक यन्त्रों के केन्द्र हैं जिनकी ध्वनि को जो साधक कभी सुने और देखे नहीं रहता है। ऐसी चीजों को सुनकर या देखकर घबड़ा जाना स्वाभाविक हो है। एक बात और ध्यान देने योग्य है कि कभी-कभी साधक मन्दगति वाले शब्द को ही सुनने लग जाता है और उसी को सब कुछ मानने की उसकी प्रवृत्ति हो जाती है। इस पर सत्गुरु कबीर साहब कहते हैं कि :

अनहद अनुभव की करि आशा, ई विपरीत जो देखहु तमासा।
इहे तमासा देखहु रे भाई, जहवाँ शून्य तहाँ चलि जाई।
शून्यहिं बच्छे शून्यहिं गयऊ, हाथा छोड़ि बेहाथा भयऊ।

सद्गुरु कबीर के ये वाक्य प्रमाण स्वरूप उद्धृत किये गये हैं। उनका कहना है कि अनहद शब्द कोई चीज नहीं है, वह केवल ध्वनि मात्र है।

शरीर के ऊर्ध्वभाग में अर्थात् ब्रह्माण्ड मण्डल में इतने यन्त्र हैं जो सदैव गतिमान रहते हैं। अनहद ध्वनियाँ उन यन्त्रों की ध्वनि हैं। यन्त्रों का मुख्य स्थान हृदय और ब्रह्माण्ड में है जहाँ से शारीरिक क्रियाओं का संचालन होता है। इन ध्वनियों में कोई सार तत्त्व नहीं है। ये पूर्णरूपेण शून्य हैं। उसे सुनने वाला साधक सत्य से वंचित हो जा है। इसलिए साधक को चाहिए कि मन्दगति वाले शब्द को त्याग कर आगे बढ़े।

इसके पश्चात् कुछ दूर जाने पर मधुर शब्दों का श्रवण होने लगता है जो इतने प्रकार के होते हैं कि जिन्हें समझना बहुत कठिन हो जाता है। ये मधुर शब्द बहुत सूक्ष्म होते हैं। ये अति एकाग्रता में ही परिज्ञात होते हैं। शब्दों की संख्या अपरिमित है। कोई-कोई साधक प्रणव की ध्वनि समझ कर उसकी उपासना करने में लग जाते हैं। यह 'अ' है, ऐसा समझ कर उसको निःअक्षर भी मानते हैं और कान बन्द कर ध्वनियों को सुनते रहते हैं। ऐसे साधक विमोहित होकर रहते हैं। ये सूक्ष्म तरंगीय शब्द सूक्ष्म यन्त्रों की आवाज हैं। पहले कहा जा चुका है कि शरीर में इतने यन्त्र हैं कि उनकी संख्या कहना कठिन है। अनेक प्रकार के यन्त्रों के अनेक प्रकार के शब्द होते हैं। सारे यन्त्र प्रकृति निर्मित हैं। इनका दर्शन दूरवेक्षण आदि यन्त्रों से नहीं किया जा सकता। क्योंकि कबीर साहब कहते हैं :

यन्त्री यन्त्र अनुपम बाजे, वाके अष्ट गगन मुख गाजे।
एक शब्द में राग छतीसो अनहद बानी बोले।

रमुरा झी-झी जन्तर बाजे, कर चरणन बिहुना नाचे। इत्यादि

शरीर यन्त्रों से भरा पड़ा है। पाश्चात्य वैज्ञानिक चिकित्सकों ने इस पर बहुत अनुसंधान किया है। जो विज्ञप्तियाँ उन वैज्ञानिक चिकित्सकों की प्रकाशित हुई हैं वे सब शारीरिक यान्त्रिक विषयों से योग-शास्त्र के वर्णनों से बहुतांश में मेल खाती हैं। परन्तु वैज्ञानिक चिकित्सकों का अन्वेषण अभी पूरा नहीं हो पाया है। वे शल्यक्रिया के द्वारा ही विशेष अन्वेषण किये हैं जो बहिरंग खोज है। इसलिए बहुत सी नाड़ियाँ और यन्त्र ऐसे हैं जिन्हें समझने के लिए वैज्ञानिकों के पास अभी यन्त्र उपलब्ध नहीं हो पाये हैं जिन पर सन्तोष किया जाय। परन्तु उनके प्रयत्न प्रशंसनीय अवश्य हैं। इधर योगीजन वहिरङ्ग अन्वेषण न करके, अन्तरङ्ग में प्रवेश करके मनरूपी नेत्र से सभी स्थलों, यन्त्रों, सभी नस-नाड़ियों की एवं उनको गतिविधियों को देख लेते हैं। इसलिए यौगिक क्रिया वाला अन्वेषण दुस्साध्य होने पर भी कर्त्तव्य है, जिसके द्वारा सूक्ष्म वस्तुओं का भी ज्ञान होता है। पूर्वकाल में हमारे महर्षि सन्तगण कठिन परिश्रम करके अन्तरङ्ग की अनेक जानकारी प्रदान की है।

ध्वनिप्रकार

प्रथम शब्दों में अर्थात् पहली अवस्था में चिड़-चिड़। द्वितीय अवस्था में चिन-चिन अर्थात् पहले वाले शब्द से कुछ भिन्न शब्द सुनायी देता है। उसके बाद क्रम से घण्टा, तुरही, ताली, बाँसुरी, मृदंग, भेरी (नगाड़ा) आदि की ध्वनियाँ साधक को दूसरी अवस्था में सुनायी पड़ती हैं। इनको पार करने पर मेघ के समान घनघोर शब्द सुनायी देने लगता है। वहाँ पर भी मन अधिक मधुरता के कारण सुनने लग जाता है। उस समय मन की गति मयूर जैसी हो जाती है जिसको श्रवण करने के कारण आगे का मार्ग भूल जाता है। वह मेघ के समान शब्द सबसे वड़ा यन्त्र, जो ब्रह्माण्ड में स्थित है जिसके द्वारा सभी यन्त्र संचालित होते हैं, जो सहस्रार के सन्निकट के सहस्रचक्र के नाम से विख्यात है, जिसके नीचे एक जाल सा ग्रन्थिबन्धन होता है। वह जाल नाड़ियों का एक संगम है। जहाँ से रक्त का संचार चारों तरफ होता रहता है। कभी-

कभी साधक को मेघयन्त्र के पार्श्वभाग में भी किं-किं वीणा, भ्रमर कलरव आदि शब्द भी प्रतिध्वनित होते हैं जिसे सुनकर भी साधक आगे नहीं बढ़ पाता है। इसलिए उपर्युक्त ध्वनियों को भी पार करता हुआ आगे बढ़ना चाहिए। उपर्युक्त ध्वनियाँ भी पार्श्वभाग की ध्वनिमात्र हैं। इन्हें कोई विशेष वस्तु नहीं समझना चाहिए।

साधक को कुछ दूर और जाने पर ऐसे प्रकाशों का दर्शन होता है जिनके रंग लगभग पच्चीसों प्रकार के दिखाई देते हैं। यहाँ भी साधक को भटकने का भय रहता है। इसे भी पार करना साधक का कर्त्तव्य है। ये प्रकाश प्रकृति के प्रकाश हैं। इनमें भी कोई सार वस्तु नहीं है। इसके बाद कुछ दूर पर चन्द्रमा की आभा जैसा प्रकाश मार्ग में मिलता है। उसे भी पार कर साधक को आगे बढ़ना चाहिए। वह भी बाह्य चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब है। तत्पश्चात् कुछ दूर और जाने पर सूर्य जैसा एक गोलाकार प्रकाश उपस्थित हो जाता है जिससे साधक को बहुत बड़ा खतरा मोल लेना पड़ता है। वहाँ पर साधक भ्रम में पड़ने लगता है क्योंकि वह प्रकाश इतना तीव्र है कि उसकी ओर मनोवृत्ति अधिक समय तक नहीं रुक पाती। उस प्रकाश के समीप पहुँचते-पहुँचते साधक में कुछ दिव्यता आ जाती है और उसको भूत-भविष्य की भी कुछ बातें दिखायी देने लगती हैं।

उस महातेज के दर्शन से साधक को दूरदृष्टि प्राप्त होती है और वाक् सिद्धि भी हो जाती है, जो सहजयोगी के लिए बहुत बड़ा बन्धन है। इसी स्थान पर अनेक संकल्पों की भी सिद्धि होने लग जाती है। ऐसी दशा में साधक मान बड़ाई में पड़कर आगे का मार्ग भूल जाता है तथा पुनः मनोवृत्ति बहिरङ्ग होने लगती है और संसारी बनकर जन्म-मरण के चक्र में आ जाता है इसलिए उक्त प्रकाश को बायीं ओर छोड़कर दाहिने से उसकी परिक्रमा करके घूम जाय अर्थात् मन की वृत्ति को चक्राकार घुमाकर और ऊपर ले जाय जहाँ पर पूरण स्थान है। वास्तव में उक्त गोलाकार आलोक जो ब्रह्माण्ड में दृष्टिगोचर होता है वह सूर्य का प्रतिबिम्ब है। वहाँ पर एक ऐसा यन्त्र है, जब उसके पास मन जाता है तो बाहर की सारी वस्तुएँ भीतर दिखायी देने लगती हैं। आपको ध्यान होगा कि स्वप्नावस्था में भी मन उक्त यन्त्र के पास पहुँचने पर सभी देखी हुई बातों का दर्शन करता है। इसी प्रकार से साधक वहाँ पहुँचने पर बाहर के समस्त वस्तुओं को देखने लगता है। यह रहस्य आध्यात्मिक विषय

का है। इसकी विवेचना बहुत लम्बी-चौड़ी है। इसलिए उधर न जाकर अपने मार्ग की ओर जाना ही श्रेयस्कर है। शून्य स्थान से नाभिप्रदेश में जाने का एक मार्ग है जो मेरुदण्ड के पार्श्वभाग में विद्यमान है जिसको सहचरी या मूलधारा तथा बंकनाल एवं मूलपंथ भी कहते हैं। यह पश्चिम की ओर अर्थात् मेरुदण्ड के पृष्ठ में है। इसका विभाजन इस प्रकार है :

मेरुदण्ड के पार से एक भाग हृत्पिण्ड को होते हुए मूलाधारचक्र को गया है तथा ऊर्ध्व में एक भाग प्रधान अंग जो मस्तिष्क है वहाँ पर पहुँचा है। इसे प्रधान श्वास नलिका भी जानना चाहिए। इसी प्रधान श्वास नलिका के तीन स्थानों पर तीन चक्र एवं तीन जाल हैं।

प्रथम मस्तिष्क के पास में जहाँ पर पहुँचती है वहाँ पर नाड़ियों की इतनी शाखाएँ हैं जो पूरे ब्रह्माण्ड में फैली हुई हैं। यहाँ पर स्नायुमण्डल का जाल बहत्तर सहस्र समूहों का है जो शरीर के प्रत्येक अंगों को अपने प्रभाव में रखता है और दूसरा चक्र हृदयस्थान में है। हृदय स्थान में एक ऐसा यन्त्र है जो पूरे शरीर को संचालित करता है। उसी के नीचे पक्व केन्द्र है जो प्रत्येक खाये हुए पदार्थों को पचाकर ठीक करता है। उसके नीचे ऐसे यन्त्र हैं जो मल-मूत्र को अलग करते हैं। सप्तरसों को भी अलग करते हैं। इसी स्थान से सभी रसों का शरीर के प्रत्येक भागों में सम्प्रेषण होता है। इस स्थान को योगी को बहुत सुरक्षित रखना पड़ता है क्योंकि पक्वाशय की गड़बड़ी से योग-भोग कुछ नहीं होते हैं। इसी स्थान से वीर्य आदि बनकर मस्तिष्क में भेजे जाते हैं। यह स्थान एक जलता हुआ अग्निपुंज या धवनी भट्ठी के समान है। स्थूल शरीर का सर्वे-सर्वा रक्षक यही है। इसमें ऐसी चीजें नहीं डालनी चाहिए जिसके प्रकोप से शरीर में विकार उत्पन्न हो।

पक्वाशय के ऊपर वाला स्थान जो हृदयनाम से प्रसिद्ध है। जहाँ पर स्नायुमण्डल का दूसरा जाल बिछा हुआ है, जिसके पास प्रधान नलिका पहुँची है। इस प्रधान नलिका से अनेक शाखाएँ निकली हुई हैं जो पूरे शरीर में पहुँचकर एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। तीसरा चक्र मूलाधार के नीचे है जिससे भी अनेक शाखाएँ निकलकर पैर तक फैली हुई हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि तीनों मण्डलों से निकलकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म नलिकाएँ सम्पूर्ण वपुष् में विस्तृत रूप में फैली हुई तथा एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। प्रधान वायु नलिका की जितनी भी शाखाएँ हैं उन सबका कार्य

प्रत्येक स्थान पर वायु को संचालित करना तथा रक्त को सभी स्थानों पर पहुँचाना है। इनमें कुछ का कार्य विभाजित रसों को उनके स्थानों पर पहुँचाना होता है। इन नलिकाओं के बिना शरीर के किसी भी भाग के कार्य नहीं हो सकते और न शरीर ही स्वस्थ रह सकता है। यदि किसी स्थान पर इनका अवरोध हो जाय तो वातरोग, व्रणरोग एवं भयानक पक्षाघात आदि हो जाते हैं। कभी-कभी इनके अवरुद्ध होने पर विशेष स्थानों पर प्रदाह आदि उत्पन्न हो जाता है। इसलिए योगी लोग विशेषकर (हठयोगवाले) इनकी प्रत्येक गतिविधियों को शुद्ध रखते हैं। ये सब नलिकाएँ प्राणायाम के द्वारा ही सुचारु रूप से कार्यरत रहती हैं।

नाडियों की इतनी संख्या हैं कि जिन्हें गिनना कठिन है। बहुत सो नाड़ियाँ इतनी सूक्ष्म और वर्तुल होती हैं जो प्राणायाम करने वालों के द्वारा बहुत बारीकी से बरती जाती हैं। अन्यथा एकाएक श्वास छोड़ने से किसी स्नायु के फटने से वृहद् रोगों का भय हो जाता है। वे रोग वाह्यक्रिया, चिकित्सकीय क्रिया आदि से अच्छे नहीं होते। क्योंकि चिकित्सकों को पता ही नहीं चल सकता कि कहाँ क्या खराबी है। उनके पास इतने सूक्ष्मयन्त्र नहीं हैं जो विकृत नलिकाओं को जान सकें। वैद्यलोग स्थूल नलिकाओं को ही जान सकते हैं जिनका उपचार औषधि द्वारा सम्भव है। इसलिए पूरक, कुम्भक, रेचक करने वालों को सावधानी बरतनी चाहिए। श्वासक्रिया को करते समय बहुत मन्दगति से शनैः शनैः श्वास को चढ़ाना एवं उतारना चाहिए। यथाशक्य गुरु के बिना इन क्रियाओं का करना निषेध है क्योंकि पुस्तकों के द्वारा करने वाले साधकों को कभी-कभी ऐसे स्थान मिल जाते हैं जो पुस्तकों में वर्णित नहीं हैं।

प्राणायाम करने वालों के लिए ऐसी दशा में गुरु की अत्यधिक आवश्यकता होती है। यों तो बिना गुरु के कोई भी योग पद्धति का सिद्ध होना कठिन है। यहाँ पर सहजयोगान्तर्गत कुछ हठक्रियाओं का वर्णन किया गया है और कुछ नीचे भी हठयोग की क्रियाओं का दिग्दर्शन कराना समीचीन समझता हूँ कारण कि सद्गुरु कबीर ने उभयमार्गों का निर्देशन अपने ग्रंथों में किया है। तद्हेतु सहजयोग के साथ-साथ हठयोग की कुछ प्रक्रिया दिखा देना समुचित जान पड़ा है। पाठकवृन्द षट्चक्रों की ओर चलें।

जो मूलवायु नलिका है साधक उसी में प्रवेश करके मूलाधार चक्र पर पहुँचते हैं, जो गुदास्थान में विद्यमान है, जिस पर चतुर्दल का कमल है।

इसके स्वामी गणेशजी महाराज हैं। जहाँ पर लवण सागर गर्जना करते हुए दिखायी देता है। यहाँ पर कमलों का रंग लाल है। षट्सहस्र श्वासों का जाप करके उक्त मूलाधार चक्र को या कमल को बेधकर साधक आगे बढ़ता है। यहाँ से व, श, ष, स की उत्पत्ति हुई है।

वायु स्थान स्थित मूलाधार चक्र के बाद स्वाधिष्ठान नामक चक्र नाभि प्रदेश के ६ अंगुल नीचे है। जहाँ पर ब्रह्मलोक है। षट्दल का कमल है जिसका रंग पीला है। यहाँ पर मधुसागर उत्ताल तरंगित गर्जना करते हुए दिखायी देता है। इस स्थान के स्वामी स्वयंभू प्रजापति हैं। इसको भी षट्सहस्र स्वाँसों का जप करके भेदन करना पड़ता है। इस स्थान से व, भ, म, य, र, ल की उत्पत्ति हुई है। तत्पश्चात् मणिपुरक नामक चक्रनाभि प्रान्त में विद्यमान हैं। जहाँ पर दस दल का श्याम रंग वाला कमल है। यहाँ पर क्षीरसागर लहराता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इस स्थान के स्वामी लक्ष्मीपति प्रभु भगवान् विष्णु हैं। इस चक्र का भी ६ सहस्र श्वासों का जप करने से भेदन होता है। यहाँ से ण, ढ़, त, थ, द, ध, न, प, फ अक्षरों की उत्पत्ति हुई है। इसके उपरान्त अनाहत चक्र हृदयदेश में विराजमान हैं। जहाँ पर द्वादश दल का श्वेत कमल विकसित रहता है। यहाँ पर अमृत संजीवनी सुरासागर की गर्जना होती रहती है। इस स्थान पर तीनों लोक के स्वामी भगवान् शंकर हैं। इस चक्र का भी ६ सहस्र श्वासों के जप द्वारा भेदन करना पड़ता है। इस स्थान से क, ख, ग, ध, ङ, च, छ, ज, थ, ट और ठ की अनुभूति हुई है। इसके बाद विशुद्धि चक्र कण्ठस्थान में विद्यमान है। जहाँ पर षोडसदल का कमल है। यह भी श्वेत रंग लिए हुए है। इस स्थान पर दधिसागर अपनी उत्ताल तरंगों से उमड़ता हुआ दृष्टिगोचर होता है। सत्यलोक नामक स्थान भी यहीं पर विवसित है। स्मरण रहे कि यह सत्यलोक शारदादेवी का है। यहाँ पर एक सहस्र श्वासों का जाप करके ऊर्ध्वोक्त चक्र का भेदन करना चाहिए। उक्त स्थान से अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ए, ऐ, ओ, औ, अं और अः की उत्पत्ति हुई है। यहाँ से चल कर त्रिकुटीचक्र का भेदन करना पड़ता है जो दोनों भौंहों के बीच में उपस्थित है। यहाँ पर दो दल का लाल रंग वाला कमल है। निरूपित स्थान पर घृत का सागर प्रशान्तरूप में प्रदर्शित होता है। इसके स्वामी विश्वातमा अजन्मा महाविष्णु हैं। इस चक्र को एक सहस्र श्वासों के जप द्वारा भेदन किया जाता है। यहाँ से ह, छ की उत्पत्ति हुई।

इसके आगे गगन स्थान में भँवरगुहा है। श्याम रंग का कमल खिला हुआ दिखायी देता है जिसके देवता व्यापक तत्त्व भूमा (ब्रह्म) है। अजपाजाप द्वारा इसकी प्रशुद्धि या प्राप्ति होती है। यहीं पर ब्रह्माण्ड में शुद्ध अमृत का कुण्ड है जहाँ से अमृत झरता रहता है। इसका पान अमृत का अधिकारी योगी लम्बिका क्रिया के द्वारा करते हैं अथवा अजपा होने पर आकस्मिक रूप से ऐसी बूँदें बरसने लगती हैं जो अनुभव में मधुर लगती हैं। मालूम होता है कि चारों ओर एक आनन्द का कणकुंज बरस रहा है, वह अमृत के समान ही लगता है। इसका अनुभव अति सात्त्विक वृत्ति होने पर किया जाता है। अतः उपर्युक्त स्थल के मध्य में सर्वान्तर्यामी तत्त्व चैतन्य रूप में कुण्डली मारकर सारे जगत् को अन्वेष्टित किये हुए बैठा है जहाँ से पूरे जगत् का 'संकोच' और 'विकास' करता रहता है। उसी मध्य में उसकी उत्पत्ति स्थान योनि है। यहीं से ब्रह्मांडों का निःसरण होता रहता है। उस स्थान को तत्त्वज्ञ ऋषि ही जान सकते हैं। उसी महिमावान् का दर्शन करके योगीजन जरा-मरण से परे हो जाते हैं। उस महिमा मण्डित की ओर जब यह जीव लगता है तो वह स्वयं उस जीव को अपने में कर्षण कर लेता है। साधक योगी को चाहिए कि पूर्व के सारे दृश्यों और स्थानों को छोड़ते हुए जो उसका निजस्वरूप है, उसी में अहर्निश वृत्ति को लगाये रहे। इससे ब्रह्माण्ड में बाहर से पराङ्मुखी हुई वृत्ति स्थिर हो जाती है। जहाँ पर अमरत्व की प्राप्ति होती है। इस स्थान पर पहुँचने पर सारी विघ्न-बाधाएँ समाप्त हो जाती हैं। किसी प्रकार की इच्छा, आशा, वासना, कल्पना और कलह उस योगी के लिए शेष नहीं रह जाती हैं।

परमसत्ता में विलीन होने के लिए अब उस योगी को ज्ञान की सप्त-भूमिका अर्थात् सप्त सोपानों पर चढ़ना पड़ता है जिसे तत्त्वज्ञों ने ज्ञान के सप्त सोपानों के नाम से उद्घोषित किया है। प्रथम सोपान पर पहुँचने के उपरान्त साधारण सुखानुभूति होती है। मनःवृत्ति संसार से पूर्णरूपेण अन्तर्मुखी होने लग जाती है। द्वितीय सोपान पर पहुँचने पर चित्त की स्थिति गम्भीर होने लगती है। तृतीय सोपान पर पहुँचने के बाद सांसारिक सुखों का अभाव होने लग जाता है। चतुर्थ सोपान के ऊपर पहुँचने पर मनसहित सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अन्तः को ओर स्वतः अग्रसर हो जाती हैं। तदुपरान्त पाँचवाँ सोपान आता है। उक्त सोपान पर पहुँचने पर संसार के प्रत्येक व्यवहारों में विभ्रान्तता आ जाती है। कहने का

तात्पर्य यह है कि हिताहित का रंचमात्र भाव रह जाता है। परन्तु वृत्ति की तीव्रता षष्ठ सोपान को ओर इतनी तेजी से गतिमान् हो जाती है कि अब जागतिक प्रपंच उसे निबंधित नहीं कर सकता है। इसलिए पाँचवें सोपान के अन्त होते-होते संसार पूर्णरूपेण विलुप्त हो जाता है। तत्पश्चात् षष्ठसोपान आता है जो ज्ञान की छठी भूमिका कहलाती है जिस पर पहुँचने पर जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति को पार कर तुरीयावस्था में पहुँच जाता है। वहाँ पहुँचने पर न जगत् और न वह रहता है। अहम्-त्वम् भावाभाव, विभावना, आविभावना, ज्ञाता-ज्ञान, ध्याता-ध्यान, कर्त्ता-विकर्त्तापन आदि समान रूप से अभाववित् हो जाते हैं। मूकत्व को प्राप्त हुआ योगी कुछ करने में असमर्थ हो जाता है। अर्थात् 'मैं-तूँ तहाँ न सम्भवै' हो जाता है। इस 'विचारमाला' के अनुसार वहाँ पर सम्पूर्ण प्रपंचों का अन्त हो जाता है। निर्विकल्प समाधि लग जाती है। उक्त अवस्था में पहुँचने पर खाने पीने, सोने-जागने का कुछ भी पता नहीं रह जाता है। वृत्ति सदा स्वरूपाकार हो जाती है। सुरति का निरति में मेल होने से तादात्म्य भाव सुस्थिर हो जाता है। शरीर पराधीन हो जाता है। ऐसी दशा में योगी चित्रवत् हो जाता है। चित्रद्रष्टा की भाँति दिखायी पड़ता है। सम्पूर्ण व्यवहार भूल जाता है। मन, संसार में न होने के कारण नेत्र खुले रहने पर भी कुछनहीं देखता। सुनते हुए भी कुछ नहीं सुनता। 'खाते हुए भी कुछ नहीं पता चलता क्योंकि जानने का साधन मन है। मन अन्तःपुर में अपने स्वामी के पास पहुँचने के बाद उसकी सेवा में तल्लीन रहता है। इसलिए इन्द्रियों के द्वार खुले रहने पर भी बाहर का कुछ भी अनुभव नहीं होता। जैसे सूर्य के अस्त होने पर उक्त प्रदेशों में अन्धकार छा जाता है। उसी प्रकार योगी के छठे स्थान पर पहुँचने पर बाहर से कुछ सम्बन्ध न होने के कारण इन्द्रियों के कार्य कुछ भी नहीं बन पाते। क्योंकि देखने वाली इन्द्रियों का बहिरङ्ग से अंतरङ्ग होना कारण है। ऐसी दशा में आस-पास के लोगों को चाहिए कि उक्त योगी की अहर्निश देखभाल करते रहें। भोजन आदि किसी भी प्रकार से खिलाते रहें क्योंकि ऐसे योगी शरीर से विशेष दिन नहीं रहते। वे दस-पाँच रोज संसार में अतिथि के रूप में रह जाते हैं। आस-पास के लोगों को चाहिए कि शून्यावस्था में पहुँचने पर उक्त योगी को हाथ से स्पर्श करके जगाना चाहिए अथवा जल से स्नान कराकर सचेतावस्था में लाना चाहिए। किसी जानकार महात्मा को लाकर उसे दिखा देना चाहिए। अधिकांश योगी यहाँ से आगे नहीं बढ़ पाते हैं। परन्तु वे संसार में अब

आने के योग्य नहीं रह जाते हैं। परम भूमि निःसत्ता में एकीकृत हो जाते हैं।

ऐसी दशा में जीवनमुक्त (विदेहमुक्त) गुरु की आवश्यकता पड़ती है जो विदेहावस्था से, जिसे विमौना बाल्यावस्था मुक्तदशा कहते हैं। उक्त जीवनमुक्त गुरु उक्त योगी को उक्त अवस्था से हटा कर सुरति को मुक्त अवस्था में कर देता है। यही ज्ञान का सातवाँ अन्तिम सोपान है। उक्त स्थान पर पहुँचकर योगी अपना और सम्पूर्ण जगत् का कल्याण कर सकता है। सहजयोगी की यही अन्तिम अवस्था है। जहाँ पर पहुँच कर अब उसके लिए शेष कर्तव्य नहीं रह जाते। वह बाह्य और आन्तरिक विश्व का द्रष्टा बनकर संसार में विचरण करता रहता है स्वरूप में स्थिति एक सी बनी रहती है संसार और अध्यात्म का ज्ञान समान रूप से उसे ज्ञात रहता है। उसके लिए बाह्यान्तरिक कोई वस्तु दुर्लभ नहीं रहती। वह उपदेश, ज्ञान, ध्यान सब बतलाने में समर्थ हो जाता है। संसार का कोई भी व्यवहार करते हुए, उसे स्पर्श नहीं कर सकते। सद्गुरू कबीर का यही सहजयोग है।

कमलपत्र तरंग एक माँहो, संगे रहे लिप्त पै नाहीं।
आस-ओस अण्ड महँ रहई, अगणित अण्ड न कोई कहई॥

जैसे जल में कमल रहता है। उसके पत्ते पर जल रंचमात्र भी रुक नहीं सकता। उसी प्रकार से सहजयोगी संसार के साथ रहते हुए असंग रहता है।

सहजयोग की दूसरी प्रक्रिया

सहजयोग ब्रह्मचिन्तन को भी कहते हैं जिसे कबीरपंथ में स्वरूप चिन्तन भी कहा जाता है, चिन्तन की विधि इस प्रकार है—पदार्थों से मनोवृत्ति को अवरुद्ध कर शुद्धचित्त चिन्तन करना, मैं अमर हूँ, अचिन्त्य हूँ, मेरा नाश नहीं होता है। मुझसे मेरे से परे कोई दूसरी सत्ता नही है। मैं एक हूँ, अद्वितीय हूँ। निर्दोष हूँ। संकल्प-विकल्प से परे हूँ। न जगत है और न जीव है। मात्र चेतन ही चेतन है। जगत् कहने मात्र का है या केवल वैवर्त्तित प्रतिभाषित होता है। जगत् के सारे पदार्थ मुझसे ही उद्भाषित होते हैं। जो जल तरंग में बुदबुदा के समान हैं। समानाधि-करण-विशेषाधिकरण, क्षरत्व-अक्षरत्व, अजन्मा, अविनाशी अर्थात् सबसे परे अपने को समझता है। इस प्रकार से अहर्निश चिन्तन करते-करते

मनोवृत्ति तद्चिन्तनाकार हो जाती है। इस चिन्तन में किसी प्रकार के जप-तप की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसमें आँख, कान रुँधने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती है। यह केवल सुरति योग—सुरति के द्वारा चिन्तन किया जाता है। इसी को ब्रह्मयोग भी कहते हैं। यह पद्धति भी कबीरपंथ में विद्यमान है। इसके दो भेद हैं :

प्रथम समसत्ता, व्यापकत्व का चिन्तन होता है जो अपने सहित सारे जगत् को अनन्त और असीम रूप में देखता है। जगत् नाम की चीज उसके सामने कुछ भी नहीं है। सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। मृत्यु, पाताल, स्वर्ग अर्थात् अखिल ब्रह्माण्ड को अपने से भिन्न नहीं समझता।

जो कुछ देखता, सुनता, कहता, चलता, फिरता, बैठता, उठता, सोता, जागता, खाता, पीता, दानादान अर्थात् सम्पूर्ण जागतिक व्यवहार को अपने से भिन्न नहीं समझता है। वह वृत्ति को समसत्ता में लय करके एकाकार को प्राप्त कर जन्म-मरण से परे हो जाता है। वह उस अचिन्त्य लोक में पहुँच जाता है जो अनुपम, संज्ञाविहीन, असंगिक लोक है। वह उस तत्त्व में विलीन हो जाता है जिसके मुख मस्तक नहीं है जो रूप, अरूप भी नहीं है। जो पुष्पवास से भी सूक्ष्मतत्व है जिससे सारे प्राणियों का उद्भव हुआ है, होता है और होगा। उस जगत् अधिष्ठात्री शक्ति में समावृत्त हो जाता है। जिसमें उपमा उपमेय नहीं बनता :

साखी : जाके मुख माथा नहीं, नाहीं रूप अरूप।
पुहुपवास से पातरा, ऐसा तत्त्व अनूप॥
कथन श्रवण तहँ होत नहीं, गमनागमन भी नाँहि।
शून्याशून्य दोनों परे, दिल दरिया के माँहि॥

इस प्रकार का योगी रमण करता हुआ तद्रूप होकर लय चिन्तन से परे हो जाता है। प्राणापान की गति उसे मालूम हो जातो है। वह सृष्टिनाशक कालचक्र की आत्मा से अपनी इच्छानुसार अनन्त काल तक सशरीर विचरण कर सकता है। यह सहजयोग की दूसरी प्रक्रिया के अनुसार कहा गया है।

दूसरी पद्धति चिन्तन की अनेकत्व बाद की है। जिसे कबीरपंथ में पारखी नाम से जाना जाता है जो अनेक चेतन मानते हैं। ये व्यापक तत्त्व नहीं मानते अर्थात् व्यापक तत्त्व का चिन्तन नहीं करते। ये जगत् को दो रूपों में विभाजित करते हैं। पहला जड़ स्वरूप दूसरा चेतन

स्वरूप। वे जड़ को चेतन से भिन्न मानते हैं। उनके मत में एक दूसरे से एक दूसरे का कभी लगाव नहीं होता है। वे चेतन का चिन्तन निम्न प्रकार से करते हैं।

मेरा कहीं से आना-जाना नहीं होता है। मैं सबका ज्ञाता हूँ। मुझको कोई नहीं जान सकता। मैं सबका आदि हूँ। चेतन अपने स्वरूप में विलीन हो जाता है। वह इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं पंचकोशों से परे स्वरूप है। इस प्रकार का चिन्तन पारखी सन्त करते हैं। वे षट्चक्र आदि भेदन, ध्यान. धारणा, जप तप आदि करना नहीं मानते। वे अन्य दुनियाँ की योगपद्धतियों को मनःकल्पित मानते हैं। उन योगी पारखियों का मत है कि कबीर साहब से पहले इस प्रकार का चिन्तन नहीं था और न तो कोई मुक्त होता था। परन्तु अधिकांश कबीर पंथियों के अनुसार इनका कबीर साहब के सहजयोग से कोई लगाव नहीं है। बात जो भी हो पारखी संत सभी मतों को बाद करके जीव चिन्तन की मान्यता देते हैं। इसलिए मेरी समझ में वे लोग अनेकत्ववाद के उपासक कहे जा सकते हैं। उसी प्रकार से उनकी मुक्ति भी होती होगी। उपर्युक्त की प्रथम पद्धति, बाद की विशेष पद्धति दोनों सहजयोग पद्धति के अतिरिक्त एक और विद्यमान है, जो लोकान्तरवादी कहलाते हैं। विशेषतया उनकी मान्यता सत्यलोक की है जो वहाँ गाने के लिए अनेक बाह्याचारों का अनुष्ठान करते हैं आरती, चौका आदि का विधान उक्त पद्धति में विद्यमान है और सत्यनाम का जाप भो करते हैं। अपने को कबीर साहब का अंश मानकर बार-बार संसार में आना, जाना भी मानते हैं। जिनकी लोक में तथागत, सुगत प्रसूत माना जाता है जो बाद में कबीर पंथ में प्रवेश कर कुछ बोधिष्ट पद्धति, कुछ पौराणिक तथा कुछ कबीर पद्धति लेकर अपना पंथ खड़ा किये हैं। ये सत्पुरुष उपासी होते हैं तथा सत्लोक जाने लिए तत्पर रहते है। उनके लिए विमान आदि आते रहते हैं। वे संसार के सभी भोगों को भोगने में कोई दोष नहीं मानते। उनके यहाँ शम, दम आदि साधनों की कोई आवश्यकता नहीं है। वे आरती चौका करने मात्र एवं पान परवान खाने मात्र से सत्लोक गामी हो जाते हैं। वे पान-परवाना को सत्लोक का प्रवेश-पत्र मानते हैं। उनके यहाँ सनातन, मैमांसिक सारी कर्मपद्धतियों का अनुकरण विद्यमान है। उनका तर्क है कि सत्पुरुष के भक्तों को यम आदि नहीं पकड़ते। उनके यहाँ निः अक्षर, निःतत्त्व का भी उल्लेख है। जहाँ-जहाँ पर कबीर पद्धति

का अनुकरण किया गया है वहाँ-वहाँ पर उनके यहाँ भी सहयोग की पद्धति विद्यमान है। परन्तु लोकान्तरवादी, पौराणिक कथाओं में विश्वास तथा उनके फलों में आस्था रखते हैं। आर्ष पद्धतियों का अभाव होने के कारण आप्त पुरुषों की दृष्टि में इनका सहजयोग इनके यहाँ अपने प्रकार का है। इसलिए सद्गुरु कबीर का सहजयोग इनके यहाँ ज्यों का त्यों अनुपलब्ध है। बौद्धी पद्धति के कारण कहीं-कहीं इनके ग्रन्थों में शून्यवाद का भी उल्लेख हुआ है। निःतत्त्व का अर्थ ही होता है जहाँ कुछ नहीं है। इसलिए उक्त तथाकथित कबीरपंथी समाज की तीसरी पद्धति सम्मिश्रित है। पूर्ण कबीर-पद्धति नहीं कही जा सकती। यही तीसरी पद्धति की विशेषता है ये सब योगपद्धतियाँ और चिन्तन की धारा कबीर पंथ में अनवरत चली आ रही हैं।

सद्गुरू कबीर के मूलसाहित्य में योग की कई अन्य पद्धतियों का वर्णन मिलता है। कहीं-कहीं पर सद्गुरू कबीर पूरक, कुम्भक और रेचक की बात करते हैं। कभी-कभी कपिल, मीन, विहंगम मार्गों की भी चर्चा करते हैं जिसके अन्दर गंगा, यमुना, सरस्वती आदि के संगमों का भी उल्लेख करते दिखायी पड़ते हैं। ऐसा लगता है कि योगसाधना के प्रत्येक मार्गों या अंगों से अनअवगत नहीं थे। जैसे तत्कालीन भाषा पर उनका आधिपत्य था उसी प्रकार यौगिक क्रिया-कलापों पर भी उनका पूर्ण अधिकार था। 'कबीर बीजक', चौरासी अंग की साखी, कबीर वाणी (कबीर ग्रन्थावली) एवं उनके नाम पर प्राप्त पदों में अनेक स्थलों पर हठयोग की सारी प्रक्रियाएँ रख दी गयी हैं। इन्हीं ग्रन्थों ओर पदों में सहजयोग व राजयोग की भी व्याख्या उपलब्ध दिखायी देती है। नाम जपयोग का भी अधिक उल्लेख है। भक्तियोग, ध्यानयोग, चिन्तनयोग इत्यादि सबकी झलक सद्गुरू कबीर की वाणियों में प्राप्त होती है। उन्होंने बीजक में एक स्थल पर विहंगम और मीन मार्ग को वरिष्ठ बताया है जिसके द्वारा आत्मान्वेषण और उसको प्राप्ति सम्भव बताया गया है। उनका कहना है कि पक्षीमार्ग एवं मीनमार्ग दोनों के द्वारा परमतत्त्व का अन्वेषण करो। क्योंकि ये दो मार्ग परमश्रेष्ठ और परमध्येय है।

'पंछिक खोज मीन को मारग कहहिं कबीर दोउ भारी।
अपरम्पार पार पुरुषोत्तम मूरत की बलिहारी।।
पौ बिनु पत्र करह बिनु तुम्बा बिनु जिह्वा गुन गावै।
गावनहार के रूप न रेखा, सतगुरु होइ लखावै।।'

पक्षी से तात्पर्य विहंगम मार्ग से है जिसे चिन्तन के द्वारा जाना जाता है। जिस प्रकार पक्षी आकाश मार्ग में ऊपर उड़ता है उसी प्रकार से साधक तत्वचिन्तन बिना अवलम्बन के करता है। जिसका उल्लेख प्रथम की पंक्तियों में हो चुका है। ब्रह्मरंध्र में स्थित होकर परातत्व का चिन्तन करने को सद्गुरु कबीर बिहंमय मार्ग कहते हैं जिसके द्वारा भी साधक पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता है। चिंतन के कई भेद हैं जिसमें चार प्रधान हैं। प्रथम-एक देशीय लोक विशेष निवासी सत्ता का चिंतन, किया जाता है, जिसका सम्बन्ध द्वैतवाद से है। द्वितीय व्यापकत्व भाव का चिंतन है, जिसमें अपने सहित सम्पूर्ण जगत् अपने में देखना होता है। यह अद्वैत-वाद समसत्तावाद कहलाता है दर्शन जगत् में इस चिन्तन को अत्यधिक महत्व दिया गया है। दार्शनिक योगियों का मत है कि यही चिन्तन वास्त-विक है। कबीर पन्थ की कई शाखाएँ भी इस चिन्तन को महत्व देती हैं। तृतीय इसमें अनेकत्ववाद का सोपान अग्रसर होता है जिसे सांख्यवादियों ने माना है। यह चिन्तन भी दर्शन जगत् में बड़ा महत्व रखता है। अधिक विचार किया जाय तो अनेकत्ववाद स्वयं सिद्ध है। परन्तु बहुग्राह्य न होने से आज आध्यात्मिक संसार में इसका महत्व निम्नतम् हो गया है। चतुर्थ श्रेणी का चिन्तन ध्यान के द्वारा प्रतिमा का गुरु के स्वरूप का तथा अभिष्ठ-इष्ट का चिन्तन किया जाता है तथा गुरु के द्वारा बताये गये मंत्रों का जप करना, तदुपरान्त लोक विशेष की प्राप्ति या आत्मानुभूति माना गया है। संसार के प्रत्येक अध्यात्म वादियों ने किसी न किसी रूप में ध्यान को महत्व दिया है जिसे निरर्थक नहीं माना जा सकता। वास्तव में ध्यान के द्वारा इष्ट की सिद्धि होती है। आकर्षण आदि विद्याएँ ध्यान के द्वारा ही सिद्धि होती है। त्राटकयोग भी ध्यान के द्वारा ही सिद्धि किया जाता है। प्रथम तो यह कहना पड़ेगा कि कोई भी योग बिना ध्यान के सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए गुरु के स्वरूप का ध्यान, प्रतिमा का ध्यान, इष्ट सिद्धि के लिए सर्वोपरि है।

सद्गुरु कबीर के शब्दों में प्रथम के दो चिन्तन दिखायी पड़ते हैं और बाद के ध्यान चिन्तन भी यत्र-तत्र परिलक्षित होते हैं। जैसे—नाम, रूप, गुण का वर्णन जहाँ आता है उसे प्रथम चिन्तन के अन्तर्गत मानना चाहिए। इसे सगुणवाद भी कह सकते हैं। स्मरण रहे कि जहाँ पर गुणों का आरोपन होता जायेगा वहाँ सगुण बनता जायेगा। सगुण का अर्थ होता है गुणसहित वस्तु विवेचन या उसकी उपासना करना। यथा-

राम, ब्रह्म ओऽम्, उसकी महिमा, वह दयालु है, वह दया करता है, कर्मों का निर्णय देता है, प्रभृत जो-जो उसके विषय में कहा जाय वह सब सगुणवाद के अन्दर आता है। कुछ लोग शरीर धारी राम, कृष्ण आदि को भी सगुण मानते हैं। परन्तु यह रीति महत्वपूर्ण नहीं है उक्त अर्थ को मान लिया जाय तो सभी मानव सगुणवाद में हो आते हैं। इसलिए पहली पंक्तियों के विचार ही श्रेष्ठ हैं।

सगुणवाद का अवलम्बन प्रथम अवस्था में साधक के लिए अभीष्ट एवं अत्यन्त महत्व का है जिसमें नाम जप करना पड़ता है। अपने से भिन्न उपासना करनी पड़ती है। इसके पश्चात् ही वृत्ति एकाग्रत्व को प्राप्त कर सकती है द्वितीय चिन्तन में नामरूप से भिन्न अवैब एवं त्रिकुटी विहीन गुणातीत का चिन्तन निर्गुण वाद कहलाता है। यह चिन्तन सर्व साधारण के लिए सम्भव नहीं है इसके लिए पैनी दृष्टि, तीक्ष्ण बुद्धि, सूक्ष्म प्रज्ञा का होना अत्यावश्यक है। साथ ही मन, मस्तिष्क एवं हृदय भी सबल चाहिए। शरीर का भो निरुज होना परम श्रेयस्कर है।

इस चिन्तन में अपने को अखिल ब्रह्माण्ड में तथा अखिल ब्रह्माण्ड को अपने में देखना पड़ता है। यह चितन सहज भाव से किया जाता है। इसमें किसी बहिरङ्ग साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह सारा कार्य मन के द्वारा होता है। मन के बाद प्रज्ञा इसका चिन्तन करती है। फिर चित्त इस पर चिंतन करता है। अभिमन्या इसके बाद वृत्ति में धारण होती है अभिमन्यता के बाद चारो मिलकर निश्चय करते हैं। इसलिए इसे अंतरङ्ग साधन कहते हैं, जिसके द्वारा स्वरूप की प्राप्ति होती है। जैसे–बूंद अंबुधि में मिलकर अंबुधि हो जाता है उससे पृथक् उसकी कोई सत्ता नहीं रहती। इसी प्रकार से उक्त चिन्तन के द्वारा जीव नाम की सत्ता नहीं रह जाती। वह "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" हो जाता है। यद्यपि पतंजलि योगदर्शन एवं उपनिषदों में साधनों एवं योगों के भेद कुछ और प्रकार से बतलाये गये हैं। परन्तु रूपान्तिरित लक्ष्यान्तरित होने पर इसी श्रेणी में आयेंगे। उक्त कथन योगदर्शन के यम, नियम, अष्टांग आदि प्रकरणों में देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार से हठयोग के ग्रंथों में भी अंतरङ्ग, बहिरङ्ग के अनेक भेद दिखाये गये हैं जिनका अपना क्षेत्र अलग-अलग है।

एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि जहाँ पर निर्गुण चिन्तन का महत्व अत्यधिक है वहीं पर उसमें कुछ दोष भी है। निर्गुणवाद के चिन्तन

करने वाले साधक को कष्ट आदि होने पर ईश्वरीय सहायता नहीं मिलती है क्योंकि अभेद दशा में ईश्वर भी उसकी आत्मा है। ऐसी दशा में अपने ऊपर अपनी दया होना सम्भव नहीं है। साधक को कष्टों से बचने के लिए, विघ्नों से दूर होने के लिए सर्व प्रथम द्वैतवाद अर्थात् सगुणवाद का अवलम्बन लेना चाहिए। क्योंकि सगुणवाद सुलभ, सरल, ज्ञेय, ध्येय है। उसके द्वारा निर्गुणवाद तक पहुँचने में किसी अवरोध का सामना नही करना पड़ता। सगुण की उपासना से सारे विघ्न स्वयं विनष्ट हो जाते हैं और भगत, भगवत् आश्रैण रहता है। उसे सदा प्रभु से वल मिलता रहता है तथा दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से विमुक्त रहता है। प्रभु की उपासना के समय में उसके चारो ओर अमृत की वर्षा होती रहती है। इसलिए सर्वप्रथम सगुणोपासना ही भक्तों के लिए परमोपादेय है।

सद्गुरु कबीर का चिन्तनयोग व विहंगम मार्ग उपनिषदों के चिन्तन से पूर्णरूपेण मिलता-जुलता है। इसका कारण यह है कि चिन्तनयोग में उपनिषदों की पद्धति सर्वोत्कृष्ट रही है क्योंकि उपनिषद् ऋषि की अनुभूति है और कबीर साहब का योग भी उनकी स्वान्तः अनुभूति का फल है। दोनों में एक जैसे विचार दिखायी देते हैं। उपनिषद् के ऋषि वैदिक थे जिनके चिन्तन में कहीं कहीं कर्मकाण्ड भी जुड़ा है। परन्तु सद्गुरु कबीर संतमार्ग के आचार्य थे जिनका विकास मध्ययुग के आधुनिक परिप्रेक्ष्य में हुआ था। उनका चिन्तन आत्मस्वतंत्र, कर्मकाण्ड विहीन देशकाल की परिधियों से परे है। वे मुक्त स्वच्छन्द चिंतन करना चाहते हैं। उनका आत्मविचरण स्वसंवेद्य है। परसंवेद्य की कोई बात तब तक मानने हेतु प्रस्तुत नहीं हैं जब तक पूरी कसौटी पर उतर न जाय। वे कथन अध्येता से अभ्यास अध्येता को अधिक महत्व देते हैं। उनका चिन्तन विकसित मानसिक गति से प्रारम्भ होता है जिनके द्वारा निर्दिष्ट चिन्तन करते-करते मन अति निर्मल हो जाता है। कबीर साहब का चिन्तन मन, माया की संधियों को पहचान जाता है। उनका अनुगामी कभी विषय-वासना पर चोट नही करता। जैसे अनलपक्षी आकाश में ही भ्रमण करता है उसका समस्त कार्य आकाश में ही होता है। उसी प्रकार से विहंगम योगी चिदाकाश में भ्रमण करता रहता है। उसकी मार्गी मन की प्रत्येक वृत्ति विधियाँ संसार-विमुख हो जाती हैं। संसार उसको कभी स्पर्श नही कर सकता न वह ही संसार को स्पर्श करता है। तात्पर्य यह है कि संसार के जिन कार्यों से जीव अनुबन्धित होता है

विहंगम चिन्तक सहजयोगी उक्त कारणों से स्वयं मुक्त हो जाता है। अनासक्ति के कारण न संसार उसको छूता है न वही संसार को छूता है। कालान्तर में वह सहजयोगी इच्छाचारी हो जाता है। जहाँ चाहे वहाँ प्रकट हो जाता है। जहाँ चाहता है अदृश्य हो जाता है। उसके प्रत्येक संकल्प सत्य होते हैं। उसका जीवन अक्षुण्ण हो जाता है। उसे अन्न जल की कोई आवश्यकता नही होती है। उसको जीवन-शक्ति का ज्ञान हो जाता है। जिन पोषक तत्वों का प्रभाव अन्न-जल पर होता है वे पोषक तत्त्व पंचमहाभूतों की देन हैं। जैसे सूर्य में स्वाभाविक किरणों द्वारा जलशोषण को क्रिया (शक्ति) होती है। उसी प्रकार से महा-परमाणुओं को आकर्षित करने की शक्ति सहजयोगी को हो जाती है। स्मरण रहे कि अन्तरिक्ष में ऐसे परमाणु होते हैं अथवा ऐसे तत्व हैं जिनका ज्ञान होने पर योगी अनन्तकाल तक सदेह विचरण करते रहता है। अन्ततोगत्वा उक्त परमाणुओं के तद्रूप होकर योगी अमर हो जाता है। एक ऐसा तत्व है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में स्थिर रूप से चहल-पहल मचाये रहता है। वह तत्व प्रत्येक तत्वों को बल देता है। उसी के बल पर योगी अनेक विघ्नों को लाँघता हुआ, कभी-कभी सौर्यमण्डल में पहुँच जाता है। सौर्यमण्डल में सौर्य से ऐसी-ऐसी तरंगें निकलती हैं जिनसे कठिन से कठिन पदार्थ भस्म हो जाते हैं। उन सूर्य किरणों से या सूर्य-तरंगों से उस परम अणु को प्राप्त व जीवन शक्ति को जानने वाला योगी प्रभावित नहीं होता। अर्थात् आत्मा अमर है, ऐसा बोध होने पर भूख, प्यास का अभाव हो जाता है। उसके लिए सोना-जागना भी समान हो जाता है। वह अपनी इच्छानुसार शरीर भी धारण कर सकता है और चिदाकाश में विलीन भी हो सकता है। वह ब्रह्माण्ड की सारी गति-विधियों से अवगत रहता है। वह अपने शुभ संकल्प से सारी सृष्टि को मंगलमय बना सकता है। माया विशिष्ट चेतन अर्थात् माया से परे चेतन की जितनी कलाएँ हैं उन सभी से उनका सम्बन्ध हो जाता है। सम्बन्ध होने पर भी असम्बन्धित रहता है क्योंकि उक्त सहजयोगी के सारे कर्म, धर्म भस्म हो जाते हैं। संचित और क्रियमाण कर्म भी विनष्ट हो जाते हैं। जैसे बिना धूम की अग्नि अंगार मात्र रह जाता है। उसी प्रकार से चेतन को जानने वाला सत्य ही सत्य रह जाता है। उसमें अज्ञान कभी प्रवेश नहीं करता क्योंकि उक्त योगी को सदा सत्यासत्य का विवेक रहता है, जिसके कारण इच्छा शक्ति होनेपर भी कभी अनिष्ट इच्छाएँ

उसमें नहीं आतीं। वह योगी अनन्त काल तक विचरण करता रहता है। उसकी गति अप्रतिहत होती है। तदुपरान्त अपनी इच्छा का लय समसत्ता में कर अभेद हो जाता है। इस प्रकार के योगी कभी-कभी संसार के उपकारार्थ पंचभूतों को एकत्रित कर उसमें प्रवेश करके संसार में अवतीर्ण होते हैं। जो बड़े-बड़े कार्य करते हैं एवं जीवों के कल्याण के लिए उपदेश भी देते हैं। जिन्हें संसार के लोग अवतार, पैगम्बर, देवदूत आदि की संज्ञा से विभूषित करते हैं। परन्तु ये सब मुक्त योगी होते हैं। ये अपने जन्मकाल से ही अनेक घटनाओं, चमत्कारों का प्रदर्शन करते हैं। इनके लिए कुछ भी असंभव नहीं है। अपनी इच्छानुसार संसार में रहते हैं और पुनः अन्तर्ध्यान भी हो जाते हैं। देखने में इनके बहुत से व्यवहार मानव जैसे लगते हैं, पर ये मनुष्य नहीं होते। ये होते हैं मुक्त योगी। इन्हीं को संसार में राम, कृष्ण, कबीर, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद और गांधी समझना चाहिए। इनके जैसे सभी नहीं होते, इसलिए इन्हें सभी अवतारी पुरुष मानते हैं। योग का संसार में बड़ा महत्त्व है। इसमें विहंगम योग कबीर पंथ में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है, जिसका दूसरा नाम सहजयोग भी है। यह विहंगम योग सर्वोत्कृष्ट होने के कारण इसका साधन सब के लिए सभी देशकाल में सुलभ है। इसमें वृत्ति अपने आप विषयों से उपराम हो जाती है। शम, दम, आदि अपने आप सिद्ध होने लगता है। इसलिए सभी मनुष्यों को चाहिए कि इसका साधन व चिंतन-मनन करें, क्योंकि इस युग में हठयोग आदि पद्धतियाँ भयानक बन गयी हैं। इनके गुरु भी अब संसार में नहीं मिलते। इसलिए सभी योगों का परित्याग कर सहजयोग का चिन्तन करना सर्वोत्तम है।

मीनमार्ग

उपर्युक्त प्रकार से ही सद्गुरु कबीर ने मीनमार्ग का भी उल्लेख किया है। मीनमार्ग की व्याख्या निम्नोक्त प्रकार से है। जैसे जिधर से जल की धारा प्रवाहित होती है उसी ओर मछली (मत्स) छलांग मारकर आगे बढ़ती है। मीनमार्गी साधक भी उसी प्रकार से संसाररूपी गंगा (नदी) की धारा जिधर से आती है, अर्थात् संसार जिस ब्रह्मयोनि से निःसृत होता है। मीनमार्गी योगी उस धारा के साथ न जाकर उधर से मुकर कर प्रसव स्थान की ओर ही बढ़ता है।

"तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तमिस्न् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा"

जो जगत् का मूल कारण है, जहाँ से जगत् प्रवाहित हो रहा है। मीनमार्गी योगी उसी निःसृत मूलकारण में जाकर ध्यानस्थ हो जाता है। संसार के निर्माण से सुरति उलटकर ऊपर को ओर अर्थात् आत्मोन्मुखी कर देता है। अर्थ यह है कि सुरति से ही जगत् का निर्माण हुआ है। जब सुरति को मीनमार्गी योगी उलटकर ऊपरी प्रदेश में कर देता है तो वहीं सुरती ब्रह्माण्डीय तत्त्वों के अन्वेषण में तल्लीन हो जाता है और निरति में निर्वसित होकर, त्रिकुटी में स्थिर होकर, जहाँ पर गंगा, यमुना, सरस्वती का संगम है, साधक वहीं पर सुरति को रखकर, वहीं पर अपना आसन जमाता है। उसी संगम में अहर्निश क्रीड़ा करता है। इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना नाड़ी यही क्रम से गंगा, यमुना तथा सरस्वती हैं। साधक जब रेचक, पूरक, कुम्भक करके सुषुम्ना को समभाव में रख लेता है तो ऐसी दशा में :

ओछी मति चन्द्रमा गौ अथई, त्रिकुटी संगम स्वामी बसई।

मन की ओछी भावना और छिछलापन नष्ट हो जाता है। तदुपरान्त त्रिकुटी के ऊपर जो स्वामी वसता है अर्थात् साधक अपने मूलस्वरूप का निरन्तर दर्शन-पर्शन करते रहता है। वहाँ पर रज एवं तमोगति दोनों नष्ट हो जाती हैं। सत्वगति का उद्भव हो जाता है और कर्म-धर्म वाली वुद्धि भी निर्मूल हो जाती है। तत्पश्चात् ज्ञानरूपो रवि का उदय हो जाता है एवं सारे संसार के लौकिक गुण तारावत् छिप जाते हैं। योगी चर-विहर अर्थात् चराचर दोनों में जो व्याप्त सत्ता है, उसमें एकीभूत होकर विचरण करते रहता है।

सद्गुरु कबीर साहब कहते हैं कि विषपान करने से विष नहीं जाता है। वह तो गुरु रूपी गारूणी से ही दूर हो सकता है। अर्थात् सांसारिक विषय संसार के द्वारा नष्ट नहीं होते। वहाँ तो अलख में दृष्टि लगानी पड़ती है। अलख में दृष्टि लगाने से पलक में ही वैराग्य रूपी सर्प डस लेता है। वैराग्य जब छू लेता है तो किसी विषहरी के मान का नही रह जाता है। गारुणी भी अब उसको संसार में नहीं उतार सकता। वहाँ पर सब यत्न फीके पड़ जाते हैं। वह समसत्ता में विलीन हो जाता है। कबीर साहब का यही मीनमार्ग है जिस पर चलकर मनुष्य अपना उद्धार कर सकता है।

उपर्युक्त दोनों ही मार्गों को कबीर साहब अति श्रेष्ठ बतलाते हैं। कपि, पिपीलमार्ग को हठयोगियों की क्रिया-कलाप मात्र कहकर टाल देते

हैं। वे उस पर विशेष विचार नही करते। यद्यपि स्थल-स्थल पर षट्चक्र आदि बेधन की बात करते हैं तो यह नहीं कि षट्चक्र बेधन हठयोग की क्रियाओं से ही सम्भव है। षट्चक्रों का बेधन सहजयोग, विहंगममार्ग एवं मीनमार्ग के द्वारा भी किया जा सकता है। जप के द्वारा भी षट्चक्रों का बेधन सम्भव है। षट्चकों के बेधन एवं किसी भी क्रिया में सुरति की ही प्रधानता होती है। इसलिए सारा खेल सुरति का ही समझना चाहिए। सुरति से ही सारा कार्य सम्भव है।

सद्गुरु कबीर ने मनुष्यों को जटिलताओं से मुक्ति दिलाने के लिए ही सहजयोग का उपदेश दिया था जिसके द्वारा परमतत्व की प्राप्ति सम्भव एवं सम्भावित है।

सहजयोग के बिना क्लेश

सहज योग की महत्ता : परम तत्त्व अति गहन गुह्य है। उसकी प्राप्ति विना गुरु के नहीं होती जिसके लिए शिवजी जैसे योगी भी वियोगी बन-कर श्मशान की खाक छानते-फिरते हैं और अंग में विभूति लगाकर सारे संसार से उदास रहते हैं। कबीर साहब कहते हैं कि श्मशान और विभूति से कोई लाभ होने वाला नहीं है। उनका कहना है कि जिसका रूप, रेख कुछ भी नहीं है जो अकथनीय है भला उसका क्या ध्यान धर रहे हो। सद्गुरु का कहना है कि जब तक गुरु शब्द रूपी वोहित पर नहीं चढ़ोगे और रहन-गहन की बात तुझमें नहीं आयेगी तब तक तुम्हें उसी प्रकार का भय बना रहेगा। जिस प्रकार जंगल के उस पार बैठा हुआ व्यक्ति अनुभव करता है कि मैं चल रहा हूँ परन्तु बिना जंगल को पार किये हुए उसे भय से मुक्ति नहीं मिलती है। अर्थात् संसार रूपी जंगल में विषय वासना रूपी भोग में जो रत है केवल स्वांग बनाकर संसार का आनन्द ले रहा है और योग-युक्ति-मुक्ति की भी बात करता है। क्या वह कभी मुक्त हो सकता है? अथवा योगी बन सकता है। 'जलयोग न्याय' के अनुसार जबतक वस्तु का पूर्णरूपेण त्याग नहीं कर देगा, तबतक दूसरी वस्तु उपलब्ध नहीं हो सकती। कबीर साहब का कहना है कि मनुष्यों को चाहिए कि संसार से मन को उदास कर जितने बनावटी स्वांग हैं उन सभी को उतार फेंके। मन को स्थिर करके किसी से अनावश्यक वाद-विवाद न करे अहर्निश अपने कार्य में तल्लीन रहे। जबतक तन-मन की एकता में अभेद नहीं हो जाता तब तक किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

तन राता मन जात है, मन राता तन जाय।
तन मन एकै होय रहे, तब हंस कबीर कहाय॥

अर्थात् जहाँ मन है वहीं पर तन को भी रखना चाहिए। दोनों को एक स्थान पर होने से हंस की गति प्राप्ति हो जाती है। अन्यथा तन-मन अलग होने से कुछ बनने का नहीं है :

महादेव मुनि अन्त न पाया। उमासहित उन जन्म गँवाया॥

वाली बात हो जायेगी। यदि तन-मन स्थिर हो जाय, और सत्य शब्द का जप करते रहें तो :

छट्ठे माह दरस सो पावै, ऐसी विधि जो मो कह ध्यावे॥
एकौ बार न होइहैं बाँको, बहुरि जन्म न होइहै ताको॥
जाय पाप सुख होइहैं घना, निश्चय बचन कबीर के माना॥

साधु सन्त तेई जना, जिन्ह मानल बचन हमार।
आदि अन्त उत्पत्ति परलय, देखहु दृष्टि पसार॥

यहाँ पर गुरु आदेश को ही विशेष महत्त्व दिया गया है। जबतक गुरु के आदेशों का पूर्ण रूपेण पालन नहीं होता है तव तक कुछ होने जाने वाला नहीं है। कबीरसाहब कहते हैं कि यदि तुम मेरे वचन से विमुख रहोगे तो तुझे हैरान रहना होगा। तुम्हारे घर में ही भारी झगड़ा उत्पन्न हो जायेगा और रात-दिन झगड़ा चलता रहेगा। पंच ज्ञानेन्द्रिय माया रूपी नारी से शरीर में ही धूम मचायेंगे एवं भिन्न-भिन्न भोगों की चाह में लगे रहेंगे क्योंकि ये पाँचों बड़े स्वादी हैं। ये किसी के मना करने से विरत नहीं होने वाली हैं। कान शब्दों का, नेत्र रूपों का पिपासा है। घ्राण सुगन्धों की ओर ध्यान लगाये है। जिह्वा सुस्वाद पदार्थों की ओर लालायित रहती है। त्वचा सुकोमल (मुलायम) वस्तुओं में अनुरक्त रहती है। यही पाँच पुरुष हैं। संसार ही इनकी स्त्री है। उसके भोग के लिए ये लोग सतत निष्ठावान् रहते हैं।

सद्गुरु कबीर साहब कहते हैं कि हे भाई साधो! जो यह दुर्गति दोहागिन माया है उसे अपने ऊपर आधिपत्य न जमाने दो। तुम उसके स्वामी हो। इसलिए तुम्हीं उसे प्रयत्न करके अपने वश में रखो। उस पर आधिपत्य करके, पंच ज्ञानेन्द्रियों को भी उनके विषय से विरत करो। तभी मेरा जन हो सकते हो तुम्हारे घर का झगड़ा जब तक शान्त नहीं होगा तब तक तुम मेरे दास एवं भक्त कुछ भी कहला नहीं सकते।

सन्तों घर में झगड़ा भारी ।
राति दिवस मिलि उठि-उठि लागैं, पाँच ढोटा एक नारी ।
न्यारो-न्यारो भोजन चाहैं, पाँचों अधिक सवादी ।
कोई काहू का हटा न मानैं, आपुहि आप मुरादी ।
दुर्मति केर दोहागिन मेटै, ढोटहिं चाँपि चपेरै ।
कहहि कबीर सोई जन मेरा, जो घर की रारि निबेरै ।

क्योंकि घर का झगड़ा बहुत दुष्परिणामकारी होता है। जैसे वाह्य मतभेदों के कारण, रावण, कंस, बालि आदि धुरन्धरों का नाश हो गया। उसी प्रकार से आन्तरिक शरीरस्थ परिवार के झगड़े से तुम्हारा सर्वनाश हो जायेगा क्योंकि काम, क्रोध रूप शत्रु बड़े ही प्रबल हैं और पंच ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने भोगों के लिए लड़ती-झगड़ती रहती हैं। तुम्हारा परम शत्रु मन सभी को वर्गलाए रहता है जिसके कारण तुझे कभी आत्मानुभव नहीं होने पाता है। तुम्हें आत्मप्राप्ति के लिए जो मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ है, स्वरूपप्राप्ति से बंचित होने पर जिसने तुम्हारे शरीर को बनाया है वह अति कुपित होकर तुझे अन्य योनियों में डाल देगा। क्योंकि प्रभु की गति बड़ी न्यारी है। यदि तुम उसके विरुद्ध रहोगे तो तुझे सदा-सदा के लिए आत्मानुभव से विमुक्त होना पड़ेगा और योगयुक्ति भी तुम्हारी भूल जायेगी। इसलिए उसको विस्मृत न करो। उसका ध्यान सहज मार्ग से करते रहो। उसका ध्यान करने से ऐसे चन्दन की प्राप्ति होगी जो बिना फूल का मूल उत्पन्न करता रहता है। संसार रूपी जल में जो तुम्हारी मन रूपी मछली घूम रही है वह सहस्रार रूपी जंगल में काम, क्रोध रूपी शिकार को करने लगेगी एवं तुम्हारे अन्दर जो पंच क्लेशों के उद्भावक तत्व हैं उन सभी को ज्ञान रूपी सिंह के प्रहार से निर्मूल हो जाना पड़ेगा। तुम्हारा अरण्य रूपी नीरस मन मलयागिरि के समान हो जायेगा एवं चारो ओर सुवासयुक्त गंध फैल जायेगी। रहस्य के द्वार खुल जायेंगे। उस रहस्यमयी परमात्मा के दर्शन से तूँ संतृप्त हो जायेगा। तीन लोक जो ब्रह्माण्ड में दिखायी नहीं पड़ रहा है, दीखने लग जायेगा। जिस कर्म रूपी रस्सी ने तुझे पंगु बनाया है, जो तुम्हारे हाथ पैर अर्थात् मन, बुद्धि को जकड़े हुए है एवं विवेक, वैराग्य, सद्विचारों से वंचित किये हुए हैं, तुम उस कृपामयी के दर्शन से अति शक्तिमान हो जाओगे और इन सबसे छुटकारा पा जाओगे। तुममें इतनी शक्ति आ जायेगी कि लघु से लघु बड़े से बड़े पर्वतों को अर्थात् आकाश, पाताल सबको लाँघकर त्रिभुवन

के स्वामी के साथ रमण करने लगोगे। तुम्हारी ऐसी दशा हो जायेगी कि सतत अपने को भूल जाओगे। तुम कुछ भी कहने में असमर्थ रहोगे। जैसे जिस प्रकार गूँगा व्यक्ति कुछ कहने में असमर्थ रहता है उसी प्रकार तुम इस महासुख को व्यक्त करने में सर्वथा असमर्थ रहोगे। सद्गुरु कबीर साहब कहते हैं कि उक्त सुख, ज्ञानी भक्तों को ही उपलब्ध होता है जो प्रभु की अनपायिनी भक्ति में अहर्निश निमग्न रहता है उसी के लिए प्रभु का सारा वैभव प्राप्त है। प्रभु भी उसके लिए सब कुछ करने को तैयार रहता है। सद्गुरु कबीर अज्ञानियों से भी कहते हैं कि हे अज्ञानी लोग ! तुम सहज में प्राप्त होने वाले उस महासुख को नहीं प्राप्त कर सकते क्योंकि तुम लोग भौतिक सुख को ही सब कुछ मानते हो। इसलिए सहजयोग, सहजभक्ति तुमसे बड़ी दूर रहती है। तुम संसार के सुख में ही तल्लीन रहो। उस सहजयोगी के सन्निकट मत जाओ अन्यथा तुम भी घर से विरक्त होकर योगी हो जाओगे। उस योगी का ज्ञान है। वह संसार से पराङ्मुखी है। उसके घर में काम, क्रोध और मोह रूपी कालाचोला नहीं दिखायी देता। अहंकार रूपी तलवार को रखने के लिए अहंमन्यता रूपी म्यान भी उसके पास नहीं है। जिसके पास केवल शरीर रूपी कन्था (गुदड़ी) ही दृष्टिगोचर होती है। जिसमें वह ज्ञान रूपी धन को रखता है एवं उस गुदड़ी में मूलसंजीवनी संजीविका नामक अमृत तत्व रूपी बूँदों को भी रखता है। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि यदि कोई उस योगी की युक्ति को बूझेगा, वही साधक राम रसायन रूपी रस को क्षण-क्षण पीवेगा और उसे त्रिभुवन सूझने लगेगा।

प्र तद्वोचेदमतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पिताऽसत् ॥

इसी को लक्ष्य करते हुए कबीर साहब कहते हैं कि उस योगी का नाश कभी नहीं होता। वह युग-युग जीता रहता है। कबीर साहब का कहना है कि कच्चे योगियों से सदा सावधान रहो क्योंकि कच्चे योगी लोग हाट-बाजार में तारी-समाधि लगाकर खूब धन-दौलत ऐंठते हैं। जो संसार के सुख के लिए भूमिगत भी हो जाते हैं जिन्हें सांसारिक लोग महायोगी, महाज्ञानी मानते हैं। कबीर साहब कहते हैं कि सांसारिकों को कच्चे योगी की कला बहुत प्रिय लगती है :

"हाट बजारे लावै तारी। कच्चे सिद्धिन माया पियारी ॥"
यह योगिया का उल्टा ज्ञान। काला चोला नहिं वाके म्यान ॥

प्रकट सो कन्था घुमाधारी। तामे मूल सजीवन भारी ।।
वे योगिया की युक्ति जे बूझै। राम रमें तेहि त्रिभुवन सूझै ।।
अमृत बेलि छिन-छिन पीवे। कहैं कबीर योगी युग-युग जीवे ।।

ऐसे योगी संसार में पुनः पुनः जन्मते रहते हैं। पंच ज्ञानेन्द्रियों के तृपिति में ही उनका जीवन-यापन होता है। वे आत्म प्रदेश से संसार रूपी देशान्तर में चले जाते हैं। वे भ्रमरगुफा में पुनः नहीं जा सकते। उनका कन्था रूपी शरीर जल जाता है। ध्वजा रूपी ध्यान टूट जाता है। वैराग्य रूपी दण्ड भग्न हो जाता। भक्ति रूपी खप्पर फूट जाता है। ज्ञान रूपी अमृत का कुण्ड नष्ट हो जाता है। विवेक रूपी मथानी ध्वस्त हो जाती है। क्षमा रूपी तप ध्वस्त हो जाता है। दया रूपी आयु भस्म हो जाती है। जितने भी उनके शुभ गुण होते हैं वे प्रतिध्वंसाभाव में प्रक्षेपित रहते हैं। कवीर साहव कहते हैं कि इस कलिकाल के योगी खोटे होते हैं। वे नाटक-चाटक के द्वारा लोगों को भरमाते फिरते हैं। अन्त में जो उनके पास रहता है वह प्रकट हो जाता है क्योंकि सदा अपनी बुराइयों को छिपाने के लिए ऊपर सत्य का पर्दा ओढ़े रहते हैं जिसके कारण लोग शीघ्र ही नहीं पहचान पाते परन्तु :

"कहहिं कबीर यह कलि है खोटी। जो रहे करवा सो निकरै टोंटी ।।"

वाली बात हो जायेगी। कबीर साहव ऐसे योगियों को दुष्कर्मी (वदकर्मी) के नाम से अभिहित करते हैं। इनके पास गगन, धरणी और पाताल की गति नहीं होती है। इनको सहजयोग रूपी वृक्ष को पकड़ने के लिए भक्ति रूपी हाथ भी नहीं होते एवं उस पर चलने के लिए ज्ञान रूपी पैर भी नहीं होते। ये कुकर्म करने वाले होते हैं। इनमें कोई अच्छे लक्षण भी दिखायी नहीं देते। ये विना हाट के ही हाट लगाते हैं अर्थात् योगयुक्ति के बिना ही लोगों को योग युक्ति सिखाते फिरते हैं और योग की शिक्षा का महत्व भी बहुत देते हैं। इनके पास योग की कोई जानकारी भी नहीं होती है और न धर्म के सही स्वरूप को ही पहचानते हैं। ये केवल मान वड़ाई में पड़कर सांसारिक सुखों के उपयोग को ही मुक्ति मानते हैं। इनके पास अनाहत नाद रूपी शृंगी पात्र भी नहीं होता और प्राणायाम श्वांस-प्रश्वांस की गति अवरुद्ध करने की क्रिया अभी नहीं जानते। लम्बिका क्रियायोग भी इनके पास नहीं है। वदकर्मी योगी अपने भक्तों को अपने तक ही सीमित रखते हैं।

ये कहते हैं कि उत्पत्ति, प्रलय कुछ भी नहीं होता। न कोई ब्रह्म है और न कोई ईश्वर। ऐसी स्थिति में तुम किसका ध्यान धरोगे ? जब तक जीवित रहो संसार का भली प्रकार से उपभोग करो। जीवनपर्यन्त मुझसे भिन्न किसी को ग्रहण मत करो। अद्वैतवादी योगियों ने अपरब्रह्म और परब्रह्म का झगड़ा आनकर खड़ा किया है। तुम मुझ चेतन से भिन्न दूसरा नहीं है। यही चेतन राम ही सब स्थानों में भरपूर है अर्थात् मैं ही सब कुछ जानता हूँ। मैं ही खुदा, ब्रह्म, राम सब कुछ हूँ। संजीवनी बूटी भी मेरे ही पास है। ये नट की भाँति अपनी कला दिखाते हैं। वास्तव में ये योगी, योगी नहीं होते, बाजीगर होते हैं। कबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तों! मेरी बात को श्रवण करो। हाट-बाजार में ध्यान लगाने वाले के पास मत जाओ। नहीं तो राज विराजी हो जायेगी अर्थात् तुम्हारी अच्छी साधना भी विनष्ट हो जायेगी। जो कुछ तुम जानते हो वह भी इन बदकर्मी योगियों के चमत्कार को देखकर छूट जायेगा।

'ऐसो योगिया बदकर्मी जाके गगन आकाश न धरणी
हाथ न वाके पाँव न वाके, रूप न वाके रेखा
बिना हाट हटवाई लावै, करै बयाई लेखा
कर्म न वाके धर्म न वाके, योग न वाके युक्ति'
'मैं तोहि जाना तैं मोहि जाना मैं तोहि माहि समाना'
'उतपति परलय एकहुँ न होते तब कहु कवन ब्रह्म को ध्याना'
जोगी आन एक ठाढ़ कियो है राम रहा भरपूरी
औषध मूल किछहू नहिं वाके राम सजीवन मूरी
नटवर बाजा पेखनि पेखै बाजीगर की बाजी
कहै कबीर सुनो हो संतों भई सो राज विराजी।

योगिया फिरि गयो नगर मँझारी। जाय समान पाँच जहाँ नारी ।।
गयेउ देसान्तर कोई न बतावै। योगिया बहुरि गुफा नहिं आवै ।।
जरि गयो कन्था ध्वजा गइ टूटी। भजि गयो डण्ड खपर गयो फूटी ।।
कहै कबीर यह कलि है खोटी। जो रहै करवा सो निकरै टोटी ।।

कबीर साहब का कहना है कि तुम्हारे अन्तःपुर में ही अनुभव यन्त्र बजाने वाले अन्तर्यामी बैठा हुआ है, जो आठ स्थानों पर अर्थात् आठ कमलों पर उसका निवास है। यहीं पर गाजता रहता है। अलमस्ती में झूमता रहता है। तुम्हारे मन में अज्ञानरूपी यवनिका लगी हुई है जिसके कारण

तुम उसे देख नहीं पा रहे हो। अज्ञान पट ही तुम्हारे और उसके मध्य की दीवार है। तुम उसके विस्मृति के कारण ही शरीर रूपी यन्त्र को लेकर योनियों से लेकर अनेक युगों तक ढोते आ रहे हो। तुम्हारे भीतर इतनी कला है, पर तुझे पता नहीं है ? तुम्हारे एक ही स्वर में छत्तीसों राग व रागनियाँ निवास करती हैं। तुम्हारे अन्दर से अनाहत नाद का उच्चारण होता रहता है। सद्गुरु – परमेश्वर तुम्हारे मानव शरीर रूपी साज को ऐसे बनाया है जो कहते नहीं बनता। शरीर रूपी यन्त्र—बाजे में मुख का नाल दण्ड लगा है और श्रवणरूपी तुम्बी उसमें लगी है। जिह्वा रूपी तार उसमें रागों को बजाने के लिए लगे हैं। नाक रूपी चरई घुमाने वाला कील चरखी लगी है। जिसे मुलायम करने के लिए पाँचों तत्त्वों का अर्थात् माया का मोम लगा है। इस प्रकार से साधक शरीरस्थ यन्त्रों से मन लगाने पर और उसमें रत होने पर गगनमण्डल में परम प्रकाश का दर्शन कर लेता है। संसार से उलट कर जिसने अपनी वृत्ति को विवेकपूर्ण यन्त्र वाले से सम्बन्ध कर लिया है, वही उसका दर्शन करने में समर्थ हो सकता है। अर्थात् इस यन्त्री एवं वस्तुओं को समझने वाला साधक कुछ कालोपरान्त आत्मज्ञान रूपी प्रकाश का दर्शन कर लेता है। परन्तु जो संसाराभिमुख हैं। वह इस प्रकाश को प्राप्त करने में सदैव असमर्थ रहता है किन्तु उसमें उलट-फेर लगा हुआ है। अर्थात् ज्ञान-वाहिनी कुण्डलनी जो है वह ऊर्ध्वारोही न होकर अधोमुखी बैठी हुई है। कबीर साहब कहते हैं, कि उसके द्वार को वही खोल सकता है जिसे सहजयोग का ध्यान है तथा सत्यासत्य का विवेक हो जाता है। क्योंकि हृदयस्थली में बैठा हुआ यन्त्री अहर्निश सचेत रहता है। वह साधक को तभी प्राप्त होता है जब साधक में अति उत्कण्ठा होती है :

'जंत्री जंत्र अनूपम बाजे वाके अष्ट गगन मुख गाजे
तूहीं बाजे तूही गाजे तूहीं लिए कर डोलै
एक शब्द में राग छतीसो अनहद बानी बोले
मुख के नाल श्रवण कौ तुम्बा सतगुरु साज बनाया।
जिभ्या के तार नासिका चरई माया का मोम लगाया
गगन मण्डल में भया उजियारा उलटा फेर लगाया
कहै कबीर जन भये विवेकी जिन्ह जंत्री सो मन लाया।'

और रहस्यमय ररा और ममा दो अक्षरों का उच्चारण करता है जिसके द्वारा सभी सन्तों ने अपने शरीर रूपी चुनरी का उद्धार किया

है। उस चुनरी को बनाने के लिए महर्षि वाल्मीकि ने साधन रूपी कपास बोया। जिस कपास को महात्मा शुकदेव ने चुनकर ज्ञानभक्ति का उपदेश भागवत के माध्यम से जिज्ञासुओं को दिया जो आज तक ज्ञानभक्ति रूपी एकत्रित कपास पुंज अक्षुण्ण रूप में विद्यमान है जिसे लेकर अनेक संत-महात्माओं ने अपने-अपने अनुपम भक्ति रूपी सूत कातकर संसार में प्रचार किया। विशेषकर सत्कर्म रूपी धुनकी से उस कपास को भली प्रकार से सूत के योग्य बनाया। सरस भक्ति रूपी सूत को जयदेव जी ने छन्दों में पिरोया। सन्तों के द्वारा काते हुए सूतों को ब्रह्मा, विष्णु, महेश अर्थात् इनके भक्तों ने ताना ताना। उस ताने के सूत को वैरागरूपी मार्जनी के द्वारा मननशील मुनियों ने मार्जन किया। अर्थात् जिस कपास रूपी भक्ति का शुकादिकों ने सर्जन किया था। वह ज्ञान भक्ति त्रिमूर्ति, त्रैगुण मण्डित (ज्ञान, उपासना, भक्ति) परमात्मा ने ही सर्वप्रथम वेदों में ऋषियों के द्वारा प्रवेश कराया।

अकामो धीरः अमृतः स्वयंभू रसो न तृपितो कुतश्च नोनः।
तमेव भान्ति आत्मानाम् धीरमजरम् युवानाम्॥

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्ट लोकाहितः।
इन्द्रश्च अग्निश्च विश्वमन्तः समाहितः॥

यथे मां वाच कल्याणी सूर्यः चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्
दिवं च पृथ्वी च मथो श्वः त्रिणपदा विचक्रमे विष्णुर्गोप्ता अदाभ्यः
यद् विष्णुं परमं पदम्।

इत्यादि वेद मंत्रों से स्पष्ट है। इन वेद वचनों के अनुसार पराभक्ति ज्ञान गंगा पहले से ही तीन लोक में प्रसिद्ध रही। यह पराभक्ति सर्व-शिरोमणि गति देने वाली है। बिना इसके प्राप्त हुए जीवों का उद्धार होना अति कठिन है। सद्गुरु कबीर ने इसी पराभक्ति को अति सुलभ सहजयोग की संज्ञा दिया है क्योंकि पहले ही कहा जा चुका है कि वृत्ति को निरोध कर पराभक्ति के द्वारा परमतत्त्व में जुड़ने का नाम योग है। उस योग अथवा मिलन को कबीर साहब ने सहजयोग कहकर संबोधित किया है। बिना उस सहज को प्राप्त किये अध्यात्म तत्त्व का अन्वेषण करना परम दुष्कर है। इसलिए उस पुरातन भक्ति का अवलम्बन लेना सर्वोत्कृष्ट है जिसके गुणों का गान करते हुए सुर, नर, मुनि, देवता एवं भर्तृहरि जैसे योगि भी असमर्थ रहे। क्योंकि बिना जिह्वा के भगवान विष्णु ने उसको

जप करने को बताया है। वह विश्व नियन्ता, सर्वान्तर्यामी शरीर रूपी चुनरी में जिस स्थान पर बैठा हुआ है वहाँ बिल्कुल एकान्त है। उसे साधारण लोग बिना परिश्रम के किसी कर्मादि द्वारा पाने की चेष्टा करते हैं, परन्तु ऐसे लोग पूर्णरूपेण भ्रम में पड़े हुए हैं, क्योंकि वह परमेश्वर अति गुह्यतम कन्दरा में बैठा हुआ है जो वहीं से सारे विश्व को संचालित करते रहता है। वहीं से अपने ताने-बाने के द्वारा संसार रूपी चुनरी को बुनते रहता है। उसने ऐसा यंत्र बनाया है जिसकी महिमा कही नहीं जा सकती। जिसको माता के गर्भाशय में स्थापित कर दिया है जो अनेक प्रकार के रूपों का निर्माण करता रहता है। सांसारिक शिल्पी एक ही यंत्र को अनेक बार बनाते हैं, परन्तु परमेश्वर रूपी शिल्पी (जुलाहे) ने ऐसा यंत्र बनाया है जिसमें लड़का, लड़की, नपुंसक सभी उत्पन्न होते हैं। वह यंत्र अति विचित्र है। वह मनुष्यों के मान का नहीं है। उसकी गति-विधि वही जानता है। उस महिमावान की महिमा को वही पुरुष जान सकता है जो उसके नजदीकी होगा। उस वर्णणातीत के बारे में वह भी मौन ही रहता है। उस महिमावान ने इस चुनरी को बुनने के लिए चारों वेदों का कैड़ा अर्थात् गोड़ा बनाया है और निःतत्त्व को करघे की रस्सी बनाकर अपने हाथ में रखा है। कबीर साहब कहते हैं कि इस शरीर रूपी चुनरी को भली प्रकार से रखो ताकि इसमें दाग न लगने पाये। यदि काम, क्रोध रूपी दाग लग जायेंगे तो इसका सर्जक तुझे कभी नहीं चाहेगा, क्योंकि उसने तुम्हें नर-तन रूपी चुनरी इसलिए दिया है कि तुम उसको पहन कर सार्थक बनाओगे और उस करुणामयी की प्राप्ति के लिए सहज-योग की साधना करोगे। उसके प्रत्येक अंगों को सँजोकर रखो जिससे कि वह विकृत न होने पाये।

'ऊतो रहु ररा ममा की भाँति हो, सब सन्त उधारन चुनरी
बालमीक बन बोइया, चुनि लीन्हा सुकदेव।
कर्म बिनौरा होय रहा, सूत काते जयदेव॥

तीनि लोक ताना तनौ, ब्रह्मा, विष्णु, महेस।
नाम लेत मुनि हारिया, सुरपति सकल नरेस॥
विष्णु जिभ्या गुन गाँइया, बिन बस्ती का देस
सूने घर का पाहुना, तासों लाइनि हेत
चारि वेद कैंड़ा कियो, निराकार कियो राछ
बिने कबीरा चुनरी, मैं नहीं बाँधल बाछ।'

कबीर साहब कहते हैं कि शरीर एक पुतला मात्र है जिसका निर्माण पंचभूतों से हुआ है। उसमें से यदि एक भी बिछुड़ेंगे तो वह जहाँ की तहाँ धरी पड़ी रह जायेगी। पुनः उसी बात को निम्नोक्त वचनों से समझाते हुए कबीर साहब कहते हैं कि हे लोगों ! तुम इस प्रकार से समझो—शुद्ध मुख से जब उसका जाप करोगे तभी वह अपने संकेतों से तुम्हें अपनी ओर बुलायेगा और एक ही साथ षट्चक्रों को वेधन करने की कला भी बता-देगा। षट्चक्रों का वेधन करने में तभी तुम सफल हो सकते हो जब उसकी महती कृपा होगी। वह श्वास रूपी चक्र को मन के द्वारा स्वयं घुमाता रहता है। वैराग्य रूपी अग्नि में मन रूपी होम को ब्रह्म रूपी कुण्ड में तुमसे हवन करायेगा। तभी वृत्ति रूपी मछली विषय रूपी जाल से छुटकारा पाकर गगन में चढ़ पायेगी अर्थात् आनन्द लोक में प्रवेश कर सकेगी। जहाँ पर नित्य अमावस्या होती है तथा नित्य ग्रहण भी लगता है। अर्थात् इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना के सम होने पर अमावस्या होती है और इड़ा, पिङ्गला को जब सुषुम्ना ग्रस लेती है तभी ग्रहण भी लगता है। ऐसी दशा में ज्ञान रूपी राहु अज्ञान रूपी सांसारिक विषय-वासनाओं को ग्रस लेता है। ग्रहण शब्द का यही मुख्य प्रयोजन है। वेद ज्ञाता पण्डित सुरति रूपी (खेचड़ी मुद्रा) सुरभि को खा जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि ज्ञानमुख होकर तदाकार वृत्ति होने पर सतोगुण रूपी जो गाय है, अन्त में उसका भक्षण कर जाता है। तात्पर्य यह है कि जो सुरति संसार में फँसी हुई है उसे संसार से खींचकर आत्मोन्मुखी बनाना अभीष्ट है तथा वहाँ स्थिर होने का नाम भक्षण है क्योंकि सुरति जब निरति निःतत्त्व में लय हो जाती है तो उसका अभाव हो जाता है। उसका अभाव होने पर साधक अपने को निर्विघ्न करके उस स्थान पर पहुँच जाता है जहाँ पर अमृत की वर्षा होते रहती है जिसमें साधक स्नान करके ओत-प्रोत हो जाता है। उसका सारा शरीर सराबोर हो जाता है। उसमें कभी रूक्षता नहीं आती। वह एक विरहिणी की भाँति लज्जालु होकर किसी से भेंट करना नहीं चाहता। वह शरीर रूपी यवनिका में छिप कर मात्र अपने प्रियतम को झाँकता रहता है और प्रियतम भी समझ लेता है कि यह पतिव्रता साधिका है जिसके कारण वह अपने अन्तःपुर में प्रवेश कराकर स्थिर कर लेता है। उस अन्तःपुर में अनेक प्रकार के वाद्य बजते रहते हैं। वह मन्दिर जो त्रिकुटी संगम पर स्थित है जिसमें साधक अपने प्रियतम का दर्शन करता रहता है और प्रेम के गीतों को सुनाता रहता है।

उसके आनन्द की बात को कोई दूसरा क्या कह सकता है ? पति-पत्नी के सुख को पति-पत्नी ही अनुभव कर सकते हैं। दूसरा केवल अनुमान ही कर सकता है परन्तु जबतक उसका अनुभव नहीं कर लेता तबतक उसके सारे कर्म-धर्म बेकार होते हैं। दुलहा-दुलहन को मिलाने वाला एक तीसरा होता है जो एक दूसरे के यहाँ एक दूसरे के संदेश को पहुँचाता है। जब तक मिलन की रीति को तथा दोनों के मनोभाव को नहीं समझा जाता तबतक वह बात भी नहीं करता। यहाँ पर तीसरा गुरु है। दुलहन साधक है। दुलहा परम तत्त्व है। दुलहन का चयन दुलहा स्वयं करता है। गुरु देखता है कि जबतक साधक उस योग्य नहीं है अर्थात् जबतक संसार में लगा है। सकाम कर्मों के द्वारा अपने को संसार में उलझाये रहना चाहता है तब तक उसकी अगुवाई गुरु नहीं करता। गुरु जब देख लेता है कि साधक रूपी दुलहन संसार रूपी मैके से ऊब चुकी है तब वह वर का चयन करता है और सहजयोग रूपी मार्ग से दुलहन को उस दुलहे के पास ले जाता है। एक दूसरे की पहचान एक दूसरे से करा देता है।

"तुम यहि विधि समझो लोई, गोरी मुख मन्दिर बाजै।
एक सगुण षट्चक्रहि बेधै, बिना बृषभ कोल्हू माचै ॥
ब्रह्महि पकरि अगिन महँ होमे, मच्छ गगन चढ़ि गाजै।
नितै अमावस नित ग्रहण होई, राहु ग्रास नित दीजै ॥
सुरभी भक्षण करत वेद मुख, घन बरसे तन छीजै।
त्रिकुटी कुण्डल मध्ये मन्दिर बाजै, औघट अम्मर छीजै ॥
पुहुमि को पनिया अम्मर भरिया, ई अचरज को बूझे।
कहै कबीर सुनो हो सन्तो, योगिन सिद्धि पियारी।
सदा रहे सुख संजम अपने, बसुधा आदि कुमारी।"

संसार की रीति के अनुसार तीसरे का होना अति अनिवार्य और आवश्यक है। तीसरा गुरु होता है। इसलिए विना गुरु के अर्थात् अगुवा के विना जैसे संसार का कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। उसी प्रकार आध्यात्मिक गुरु के बिना आध्यात्मिक जगत् की कोई भी जानकारी नहीं हो सकती, क्योंकि अध्यात्म विषय बहुत गहन, गम्भीर और इतना सूक्ष्म है कि निर्बल साधक का वहाँ पहुँचना कठिन ही नहीं दुस्साध्य भी है। उसके लिए दूसरे के बल की अत्यधिक आवश्यकता है। यदि कोई भी साधक गुरु के बिना वहाँ जाना चाहता है तो वह उसी प्रकार से भटक जायेगा जिस प्रकार से किसी घाट पर जाने वाला व्यक्ति घाट का मार्ग बिना जाने

भटक जाता है और अनेक प्रकार की कठिनाइयों से परिपूर्ण कण्टकीय मार्ग उसके सामने उपस्थित हो जाते हैं। इसके विपरीत जिसे सद्गुरु मिल गये हैं उसकी सुरति संसार से उलटकर गगन की ओर उन्मुख हो जाती है। वह अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाओं को लाँघती हुई उस व्योम पर पहुँचती है जहाँ पर सत्य का निवास है। उक्त साधक वहाँ पहुँचकर महान आनन्द का अनुभव करता है। उस आनन्द को समझने वाला कोई विरला साधक ही हो सकता है, क्योंकि वह चर्म चक्षुओं और रसना से परे का है। वहाँ पर इन्द्रियाँ पहुँच नहीं सकतीं और न ही ये उस आनन्द का लाभ ही ले सकती हैं। वह आनन्द स्वयं को होता है सद्गुरु कबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तों ! सहजयोगी को आत्मसिद्धि प्यारी है। वह आत्मसिद्धि रूपी सुख को बहुत बड़े संयम से ही प्राप्त करता है, क्योंकि वह सिद्धि किसी के अधीन सहसा नहीं होती। वह सदा अविवाहिता (कुमारी) की भाँति अज्ञानियों के लिए दुर्लभ बनी रहती है। कारण कि उस आत्म प्रदेश का मार्ग अद्भुत और अगम्य है। अवगाहन होने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। उसे इस शरीर रूपी कंदला (गुफा) में प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि काम, क्रोध, लोभ रूपी आखेट का शरीर रूपी अरण्य में हो सांसारिक विषयानन्द रूपी मृग को बड़ी सुरुचि के साथ ज्ञान रूपी वाण को चलाकर मारना पड़ता है तभी वे वेधित होते हैं।

साहब कहते हैं कि वह साधक जो सहजयोग पर चलने वाला है और मन को स्थिर कर चेत जाता है वही शरीरस्थ स्वामी का स्थान प्राप्त कर लेता है अर्थात् उस सत्ता में तद्रूप होकर विचरण करने लग जाता है। सहज में ही उस मूल तत्त्व को अपने में बाँध लेता है। उस साधक का ध्यान ही धनुष है जिस पर ज्ञान रूपी बाण को चढ़ाकर अन्तःकरण के शत्रुओं का बध कर डालता है। शरीरस्थ सावजों को नष्टकर वह साधक षट्चक्रों को वेधकर कमलों को वेधता है। तदुपरान्त ही प्रकाशपुंज का दर्शन कर पाता है और बाहर-भीतर से अपने सभी शत्रुओं को भगाकर अपने स्वरूप में वृत्ति को सुस्थिर कर निश्चित हो जाता है। जहाँ पर न दिवस है और न रात्रि ही है, न दिशा-प्रदिशाओं का ही अन्तर है। सहज शून्य में वह साधक क्रीड़ा करते रहता है। स्वामी और सेवक में अभेदत्व की प्राप्ति हो जाती है और जो उसके साथी हैं, जो उसे विषया-नन्द की ओर ले जाते थे, प्रभु के दर्शन से उन सभी का साथ छूट जाता है।

कबीर साहब कहते हैं कि इस प्रकार उपदेश को सुनकर लोग आश्चर्य में पड़ जाते हैं परन्तु आश्चर्य की बात नहीं है। यह तो आत्मप्रदेश की बात है जो रहस्य से भरा पड़ा है। उस पद को कोई विरला ही बूझता है :

कबिरा तेरो बन कन्दला में, मानु अहेरा खेलै।
बपुवारी आनन्द मिरगा, रुचि रुचि सर मेलैं।।

चेतत रावल पावन खेड़ा, सहजै मूल बाँधे।
ध्यान धनुष ज्ञानबाण योगेस्वर साधे।।

षट्चक्र बेधि कमल बेधि जाय उजियारी कीन्हा।
काम क्रोध लोभ मोह हाँकि सावज दीन्हा।।

गगन मध्ये रोकिन द्वारा, जहाँ दिवस नहिं राती।
दास कबीरा जाय पहुँचे बिछुरे संग अरु साथी ।।८७।। सबद।

क्योंकि धरती उलटकर आकाश में चली जाती है। चींटी के मुख में हस्ती समा जाती है। बिना पवन के पर्वत उड़ने लगते हैं। जल के जीव जन्तु सब वृक्ष पर चढ़ने लग जाते हैं। सूखे सरोवर में हिलोरा उठने लगता है, जिसमें बिना जल के चकवा किलोल करता है, बिना जल के ही लोग स्नान करते हैं। जहाँ पर खाने वाले को पकड़कर रोटी ही खाती है, जहाँ तावा जलता है, और चूल्ह चिल्लाती है, जहाँ पर सिंह को सियार खाता है, जहाँ पर हस्ति खरगोश आपस में लड़ते हैं, जहाँ पर आकाश, पाताल, मृत्युलोक के प्राणी उल्टी दिशा को जाते दृष्टि-गोचर होते हैं। जहाँ शिव, विरंचि, विष्णु परस्पर में लड़ते रहते हैं। जहाँ पर सूर्य को चन्द्रमा ग्रहण कर लेता है, जहाँ राहु केतु भी भयभीत रहते हैं। उस परम रहस्यमय तथ्य को वह पण्डित बिचारा नहीं जान पाता है जो बैठे-बैठे पुराण की बात करता है और बिना देखे हुए मार्ग में लोगों को स्वर्ग पाताल आदि में ले जाने की बात करता है। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि उपर्युक्त वर्णन पुराणपन्थियों के परे का है। वहाँ पर वेद, पुराण, बाइबिल, कुरान पहुँचने में असमर्थ रहते हैं। वहाँ पर मुल्ला, पादरी, पुरोहित, पोप ये सब पहुँचने के लिए प्रयत्न करते हैं, परन्तु दम्भ के कारण वहाँ जाने में और उस तत्त्व के समझने में निर्बल हैं, क्योंकि ये सब मिथ्या तत्त्व में आस्थावान् होने के कारण वर्णाश्रमाभिमानी होते हैं। ये धर्मान्ध लोग संसार को ही सत्य मानते हैं। अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए संसार के मनुष्यों को सत्य से दूर रखते हैं। जब कोई सत्य का

दर्शन करना चाहता है, और सत्य बोलना चाहता है, तो उसे नास्तिक, काफिर आदि कहकर समाज से बहिष्कृत कर देते हैं। ये पुरोहित, मुल्ला, पादरी आत्मघाती होते हैं। इनके पास सत्य की पहचान के लिए नेत्र नहीं होते। कबीर साहब कहते हैं कि उस परम सत्य को कोई विरला ही साधक समझ सकता है, जो वृत्ति को अहर्निश, ऊर्ध्वारोही ही बनाये रखता है और अन्वेषण के द्वारा ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उस साधक को परमतत्त्व के दर्शन हो जाते हैं। अन्त में वही सगुण से निर्गुण हो जाता है और निर्गुण होने से ढूँढ़ने पर वह दिखायी नहीं देता। तादात्म्य भाव को प्राप्तकर स्वयं वेदानुभूति की उपलब्धि हो जाती है और जन्म मरण से परे होकर निरन्तर आनन्दानुभूति प्राप्त करते रहता है। पुनः कबीर साहब कहते हैं कि परमानन्द की प्राप्ति के लिए तुझे सांसारिक विषयों से क्रीड़ा करना बन्द करना पड़ेगा। तुझे ज्ञान का गेंद बनाना पड़ेगा। सुरति रूपी दण्ड को लेकर हृदयांगन में खेलना पड़ेगा, तुझे जगत् का भरमना छोड़ देना होगा तथा भगवत् वेष को धारण करना पड़ेगा, क्योंकि भगवत् वेष को महिमा का वर्णन शेष भी नहीं कर सकते हैं। इसलिए शेष के सिर पर पैर रखकर तुझे आगे चलना पड़ेगा जो काल का दल है उसे जीत कर कमलदलों को शोधना पड़ेगा। क्रोध को मारकर ब्रह्म का बोध करना पड़ेगा। पवन परिचय के लिए तुझे प्राणायाम की गति को पद्मासन पर बैठकर समझना होगा। गगनगुहा में प्रवेश कर मदन का मर्दन करना पड़ेगा। कबीर साहब कहते हैं कि मदन को मारने वाला कोई विरला ही सन्त होता है, जो कर्म की रेख पर मेष मारता है। अपने अन्तः कषाय को भस्मीभूत कर देता है और सारे प्राणियों को भी वहाँ जाने के लिए मार्ग खोल देता है। विज्ञान रूपी अग्नि में पाप, पुण्य एवं आशा-वाशारूपी बीजों को भस्म कर देता है। जब पाप-पुण्य भस्म हो जाते हैं तब उनके करने वाले पंच चोर भी अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, आदि विज्ञान अग्नि में तिरोहित हो जाते हैं। इनके तिरोहित होने पर ही चिदानन्दकन्दपरानन्द चित्ति प्रदेश में साधक प्रवेश कर पाता है। ऐसी दशा में मन की वृत्ति को कहीं जाने का मार्ग नहीं मिलता। वह एकाकार हो जाती है। उसके एकाकार होने पर साधक भवसागर रूपी महासमुद्र को पार कर उस परम पवित्र लोक में प्रवेश कर लेता है जहाँ से पुनः लौटना नहीं होता है। उस साधक को इतनी शक्ति हो जाती है कि दूसरे को भी संसार सागर से पार उतार देता है और अनन्तकाल तक

परमधाम में विचरण करते रहता है। तत्पश्चात् लइभूत होकर परम भूमिनी में समाकार हो जाता है जिसे वेदों में विष्णु का तृतीय पाद कहा गया है और उसी को परमव्योम्नि भी कहा गया है। उस परमव्योम्नि को प्राप्त करने के लिए ही अध्यात्म वेत्ताओं ने अनेक प्रकार से वहाँ जाने के लिए साधनों और मार्गों का निर्देशन किया है। सत्गुरु कबीर साहब ने भी अपनी अनुभूति के बल पर अनेक मार्गों का उल्लेख किया है, जो सहजयोग से लेकर हठयोग आदि तक दर्शाया है। उनकी वाणियों के अन्दर कहीं-कहीं पर रेचक, पूरक, कुम्भक का विवेचन मिलता है।

रेचक, पूरक, कुम्भक का विवेचन

कबीर साहब का मत है कि यदि साधक लयचिन्तन अर्थात् सहजयोग को करने में असमर्थ है तो वह वहाँ तक पहुँचने के लिए प्राणायाम की अन्य विधियों से जा सकता है जिसके लिए कबीर साहब का आदेश है कि इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, पूरक, कुम्भक, रेचक के भेदों को जानना चाहिए। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना ये ब्रह्माण्ड कला की मुख्य तीन नाड़ियाँ हैं। इड़ा नाड़ो नासिका के बायें छिद्र द्वारा बहता हुआ वायु है। यह स्त्री का अंश मानी गयी है। इसी को यमुना की संज्ञा दी गयी है। चन्द्र नाड़ी भी इसी को कहते हैं। इसी नाड़ी में सावित्री और ब्रह्मा दोनों का निवास माना गया है। यह उत्पत्ति की नाड़ी कहलाती है। पिंगला नाड़ी नासिका के दाहिने छिद्र से निकलता हुआ वायु है। इसका नाम गंगा भी पड़ा हुआ है। इसी को सूर्य नाड़ी भी कहते हैं तथा यह पुरुष का अंग है। इसी के भीतर लक्ष्मी और विष्णु का निवास है। यह पालन की नाड़ी है। सुषुम्ना नाड़ी वह नाड़ी है जो दोनों नासिका छिद्रों से आने-जाने वाला वायु है। अर्थात् जब दोनों नासिकाओं के छिद्र वायु के समान रूप से रेचन और कर्षण होता है इसलिए इसे सुषुम्ना की संज्ञा मिली है जो एक होकर भीतर-भीतर, कभी-कभी सामान्य रूप से चलती है। यह नपुंसक का अंश है। इसी को सरस्वती भी कहा जाता है जो तीनों के समान रूप होने पर संगमा भी कहलाती है। इसका चौथा नाम राहु भी है जो चन्द्र सूर्य रूपी नाड़ियों को ग्रास कर लेती है। अर्थात् इड़ा, पिंगला को रोककर जब सामन्य रूप से चलने लगती है तो उस समय यह राहु हो जाती है क्योंकि दोनों का भक्षण कर जाती है। इसी नाड़ी में महादेव एवं पार्वती का निवास है जो संसार को प्रलय करने में समर्थ होते हैं। इसे प्रलयंकारी भी कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि सुषुम्ना की गति

अवरोध होने पर मनुष्य मृतक हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि श्वास की दोनों नाड़ियों का रुकना मनुष्य के जीवन का अन्त होता है। यदि संसार में वायु का चलना बन्द हो जाय तो चन्द्रलोक की भाँति इस पृथ्वी पर भी प्राणियों का अभाव हो जायेगा। इसलिए सुषुम्ना का नाम प्रलय नाम रखना भी सार्थक है। पर यह बहुत महत्त्व की नाड़ी है। जब यह साधक के प्रयत्न से सामान्य रूप से चलने लगती है तो मनुष्य की कुण्डलिनी शक्ति स्वयं जग जाती है और अनेक दैवीय गुणों का उद्भव हो जाता है एवं साधक सिद्धावस्था में पहुँचकर सुजान बन जाता है। गुप्त-प्रकट सब कुछ दिखाई देने लगता है। इसके जागृत होने पर ऋतम्भरा शक्ति भी जागृत हो जाती है। इसके द्वारा साधक को अन्तः बाह्य वस्तुओं का ज्ञान होना शेष नहीं रह जाता और वही साधक संसार में परमेश्वर का अवतार कहलाता है परन्तु सुषुम्ना के कुप्त होने पर सर्वनाश भी सम्भव है। साधक को योग, भोग दोनों से हाथ धोना पड़ता है। इसलिए साधक को चाहिए कि सुषुम्ना की आराधना बड़े प्रेम और श्रद्धा से करे। अर्थात् पूरक, कुम्भक, रेचक करते समय प्राणों की गति ठीक-ठीक ध्यान में रखे। कोई कार्य उल्टा सीधा न हो जाय अन्यथा विनाशकारी सिद्ध होगा।

रेचक, कुम्भक, पूरक करने की विधि

इड़ा नाड़ी के श्वास को नासिका के भीतर खींचने की क्रिया को पूरक कहा जाता है। इसी प्रकार से पिंगला नाड़ी से श्वास धीरे-धीरे बाहर निकालने की क्रिया को रेचक कहा जाता है। दोनों इड़ा, पिंगला नाड़ियों को मस्तक में छिपा कर स्थिर रखने का नाम कुम्भक है। इन तीनों क्रियाओं को नासापुट द्वारा उलट-पुलट कर अर्थात् एक बार तीनों क्रियाओं को करने से (एक) प्राणायाम कहलाता है। स्मरण रहे कि एक बार रेचक, पूरक और कुम्भक करने का नाम एक प्राणायाम तथा योग का एक अंग है जिसमें पूरक से चौगुना कुम्भक, कुम्भक से दूना रेचक को समय देना चाहिए। कुम्भक की क्रिया करने के बाद साधक को बहुत सावधानी से धीरे-धीरे श्वास को उतारना चाहिए अन्यथा एकाएक उतार देने से सुषुम्ना में विकृति आ जाती है। परिणामस्वरूप हृत्पिण्ड में भयानक रोगों के उत्पन्न होने की सम्भावना हो जाती है। कभी-कभी एकाएक श्वास को उतार देने से हृदय में धड़कन भी बढ़ जाती है और कभी-कभी हृत्पिण्ड के निकट वाली स्नायु के फट जाने का भय भी रहता

है जिसके कारण साधक को अनेक रोग हो जाने की सम्भावना रहती है। इसलिए योगी पुरुष को चाहिए कि प्रत्येक क्रिया को शनैः शनैः खाली पेट करें। यही उसके लिए श्रेयस्कर है। उपर्युक्त क्रियाओं को भरसक गुरु द्वारा सीखना चाहिए, नहीं तो कुछ का कुछ हो जाता है और कोई कार्य सफल नहीं होता है। उक्त क्रियाओं को करने के बाद साधक कम से कम दस मिनट तक नहीं उठे। ज्यों का त्यों बैठा रहे, जिससे कर्षित-आकर्षित प्राणवायुओं का अपने स्थान में शुद्ध रूप से समन्विकरण हो जाय। इस प्रकार से उपर्युक्त क्रिया निरन्तर करते रहना चाहिए। इस क्रिया को करने से आत्मबल बढ़ जाता है और मनुष्य की आयु बढ़ जाती है। यदि उक्त क्रिया में साधक सफल हो जाता है तो किसी प्रकार का रोग-शोक आदि नहीं सताते हैं। इस क्रिया से ब्रह्मचर्य की पुष्टि होती है। सभी नसें अपने कार्य को अच्छे प्रकार से करती हैं। चित्त में एकाग्रता आ जाती है। श्वास को अधिक रोकने की शक्ति होने पर योगी कम्पायमान होने लगता है। बाद में ऊपर की ओर योगी पुरुष अपने आप उठने लग जाता है। इस प्रकार अभ्यास बहुत काल तक करने से योगी में अत्यधिक शक्ति हो जाती है और प्राणों के शक्तिमान् होने से इच्छित स्थानों में आकाशमार्ग से गमन करने में सफल हो जाता है। यह कार्य तभी सम्भव है जब कि अधिक से अधिक प्राणवायु को अन्दर में स्थिर किया जाय। इसकी सफलता साधक पर निर्भर करती है। यदि साधक वर्ष पर्यन्त इस क्रिया को ठीक से करता है तो उसमें स्वयं अनेक गुणों का आभास होने लगता है। इस क्रिया के द्वारा चित्त की अति एकाग्रता हो जाती है। अति एकाग्रता होने पर आत्मोपलब्धि सम्भावित होती है। साधक की गति मन के समान होती है जहाँ मन पहुँचा, साधक भी सशरीर पहुँच जाता है। तात्पर्य यह है कि सिद्धयोगी आत्मवित् होकर इच्छाचारी हो जाता है। उसे देशकाल का बन्धन नहीं होता है। उसपर पंच तत्त्वों का प्रकोप भी नहीं होता है। वह किसी भी लोक में जा सकता है। ऐसे योगी सहस्रों वर्ष तक शरीर को धारण किए रहते हैं। ऐसे योगियों को दिव्य औषधियों का ज्ञान हो जाता है, जिसके बल पर अपने को नवीन बनाये रहते हैं। वेदों में ऐसी औषधियों का वर्णन है कि जिनके पान करने से जरावस्था के मांस आदि गल जाते हैं और पुनः उसमें नवीन तन्तुओं का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार के योगी शरीर निर्माण करने की प्रक्रिया भी जानते हैं। शास्त्रों में सुना गया

है कि भौतिक तत्त्वों को एकत्रित कर उसमें समाविष्ट हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि योगी सर्वज्ञ हो जाता है। वह सृष्टि के प्रत्येक कर्म को जान जाता है। ऐसे योगी कभी-कभी प्राणवायु को ब्रह्माण्ड में छिपाकर सैकड़ों वर्ष तक बैठे रह जाते हैं। ये योगी प्राणों को अपने अधीन कर लेते हैं जिसके कारण परकाय प्रवेश करने में समर्थ भी हो जाते हैं। ऐसे योगी सूक्ष्म शरीर को खींचकर मृतक के शरीर में समाविष्ट हो जाते हैं। उनको सूर्य के विषयुक्त किरणों से भय नहीं होता है। आकाश में विचरण करते समय प्रभाकर की प्रलयंकारी तरंगों से प्रभावित नहीं होते। उसे किसी भी आकाशीय ग्रहों से भय नहीं रहता, क्योंकि इन योगियों में इतनी कला आ जाती है कि इनके लिए प्रत्येक उपाधि से बचना सम्भव हो जाता है। ऐसे योगी अपने इच्छानुसार संसार में रहते हैं। इनकी वृत्ति चेतनाकार हो जाती है। ये संसार में, चराचर में, परमभूमिनी का दर्शन करते हैं। ऐसे योगी जड़ पदार्थों से भी बात कर लेते हैं अर्थात् प्राणियों की भाषा जान जाते हैं। स्थावर, जंगम सभी के विषय में ज्ञान रखते हैं। इनसे कोई भी बात अनवगत नहीं रहती है। ये योगी इच्छानुसार रहकर अन्त में आकाश को चीरते हुए सूर्यलोक में प्रवेश कर जाते हैं। जहाँ से आना-जाना सम्भव नहीं है। परन्तु प्रथमावस्था में इनके लिए कठिन नियम हैं। यदि इन नियमों में सफल हो जाते हैं तो ऊपर की सभी बातें सम्भव हैं अन्यथा क्रिया की असफलता में न योग होगा और न भोग ही होगा। तीसरा उत्पन्न एक रोग होगा। जो सुख के बजाय दुःख देगा। इसीलिए साधक, गुरु के द्वारा ही उपर्युक्त क्रिया को प्रारम्भ करें। साधक यह सुनकर भयभीत न हों कि इस क्रिया को करने से रोग ही हो जायेगा। यहाँ सिर्फ सावधान किया गया है ताकि सभी क्रियाओं को जानबूझकर अच्छी प्रकार से करें जिससे कि कभी भयदायी स्थिति उत्पन्न न हो। निश्चय ही इस क्रिया को करना चाहिए जो मानव-जीवन के लिए परमोपयोगी है।

इसी प्रकार कबीर-साहित्य में कहीं-कहीं पर चाचरी, भूचरी, अगोचरी, उन्मूनि, खेचरी आदि क्रियाओं का उल्लेख है। इसे भी गुरु के द्वारा जानकर साधना करनी चाहिए। आज इन क्रियाओं के करने वालों का बड़ा अभाव हो गया है। यह क्रिया अन्य पंथों से ही नहीं, कबीरपंथ से भी दूर भाग गयी है। इसके भागने के दो कारण हैं, प्रथम तो इस प्रकार के गुरुओं का अभाव होता गया। दूसरा कारण सन्तमत में अपराविद्या के

प्रति स्नेह भाव है। आज तो ये क्रियाएँ सन्तमत से अधिकांश रूप में बाहर हो चुकी हैं जिसके कारण नवीनपंथियों में इन्हीं के नाम पर ठगी भी हो रही है। आज प्रत्येक नवीनपंथी कबीर साहब की वाणियों को लेकर उल्टा-सीधा अर्थ करके जन-समूह को वर्गला रहे हैं। संसार का प्रत्येक मनुष्य परमसुख की इच्छा करता है और प्रत्येक दुःख से निवृत्ति भी चाहता है। आज लोग अध्यात्म योग के इतने पिपासु हैं कि उनको कोई बताने वाला नहीं मिलता। अन्त में वे हार कर हाट-बाजार वालों के पास चले जाते हैं जिनके द्वारा हाट-बाजार वाले बेसुमार धन कमा रहे हैं और बड़े-बड़े महल-मकान बनाकर ऐशआराममय जीवन बिताने में अनुरक्त हैं। भोली-भाली जनता को योग के नाम पर भोग की शिक्षा दे रहे हैं। एक तो योग इतना गुह्यतम है कि सबके मान का नहीं है, परन्तु हाट-बाजार वाले नवीनपंथी सभी को सन्तमत का योग सिखलाते चलते हैं। अपने को अवतार घोषित करके कोई पाताल लोक पर जाकर बसा जहाँ सुरा-सुन्दरी के अलावा कुछ नहीं है। कोई राजसत्ता पाने के लिए कारा का भी सेवन कर रहा है। कोई कारा में पाँच किलो की बेड़ियाँ पहनकर निकलने पर उसका प्रदर्शन करते दिखाई देता है, कोई छोकड़ा और छोकड़ियों को कुदाने में ही अपने को आचार्य और भगवान दोनों कहता है।

सद्गुरु कबीर साहब कहते हैं कि इधर मुख अकेला है उधर अनेक मुख। इधर सीधा मार्ग है, उधर ठेलमठेला है। वे बहुत पहले ही कह चुके हैं :

ये कलि गुरु बड़े परपंची, डारि ठगौरी सब जग मारा।
घर-घर मंतर देत फिरत हैं, महिमा के अभिमाना।
गुरु सहित शिष्य सब बूड़े, अन्त काल पछिताना॥
गुरुआ तो सस्ता भये, पैसा केर पचास।
राम नाम धन बेचि के, करे शिष्य की आस॥
गुरुआ तो घर-घर फिरे, दीक्षा हमरी लेव।
कै बूड़े कै ऊबरे टका परदनी देव॥
गुरुआ तो कुत्ता भये, ज्ञान न जाने मूल।
शिष्य साखा अठई भये, रहे कान में झूल॥

इस प्रकार कबीर साहब ने अनेक चेतावनियाँ दी हैं जिनका नाम संकेत किया गया है। संसार को चाहिये कि वे लोग अपने अर्थ को गलत

जगह न फेंके, अपने जीवन को नष्ट न करें। सही गुरु का अन्वेषण कर सच्चे मार्ग का अनुसरण करें अन्यथा इन हाट-बाजार वाले अवतारों और भगवानों से उनको कुछ मिलने वाला नहीं है। यदि कोई गुरु प्रत्यक्ष में नहीं मिलता है तो लोगों को चाहिये कि आर्ष ग्रंथों एवं आर्ष सन्तों के ग्रन्थों में योग की अनेक पद्धतियाँ लिखी गयी हैं जिनमें जप योग का बड़ा महत्त्व है। यदि कोई गुरु नहीं मिलता है तो परमेश्वर के किसी भी नाम का श्रद्धापूर्वक जप करना चाहिए। जप करने वाले साधक का मार्ग-निर्देशन परमेश्वर स्वयं करते हैं। इसलिए साधक निर्भय होकर प्रभु के किसी भी नाम का अपने प्रत्येक श्वास के द्वारा जपता रहे। जप की विधि ऊपर बतलायी गयी है। यहाँ पर उसी का पुनरावर्तन थोड़ा-सा किया जा रहा है।

जप करते-करते जापक का मन अन्तर्मुखी हो जाता है और कुछ दिनों में जप के द्वारा गगनगुफा में पहुँच जाता है। जहाँ पर शान्तचित्त स्थिरभाव से आरूढ़ हो जाता है। रात-दिन, सोते-जागते, खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-फिरते उसकी मनोवृत्ति आत्माकार हो जाती है। अभ्यास करते-करते मन की गति श्वास में मिलकर एक हो जाती है जिसके द्वारा चन्द्र और सूर्य दोनों की गति भी समान हो जाती है। उसी प्रकार से जापक का मन परमतत्त्व में लगकर एक हो जाता है। जैसे चन्द्रमा की ओर चकोर का ध्यान स्थिर हो जाता है उसी प्रकार से जापक की सुरति-निरति में एक होकर परमसत्ता में रमण करने लग जाती है। परिणामस्वरूप निर्विकल्प समाधि प्राप्त हो जाती है और वह जापक संसार की गति को देखता रहता है। उक्त जापक योगी अखिल ब्रह्माण्ड की सारी बातों को बैठे-बैठे देखता रहता है। उसकी जगत् में तथा परमतत्त्व में अभेद भावना हो जाती है। जैसे समुद्र और लहर में कोई भेद नहीं होता। उसी प्रकार से वह योगी भी हो जाता है। समुद्र से उठने वाली लहर भी नीर है और सम होने पर भी नीर ही है। उसमें किसी प्रकार का द्वैतभाव नहीं है। केवल नाम और रूप भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं। वास्तविकता को जानने पर सारी विपरीत भावनायें विनष्ट हो जाती हैं। उसकी पूजा पाव पलक तक ही सीमित नहीं रहती, वह अहर्निश अभेद चिन्तन में लगा रहता है। चौबीसों घण्टा चित्तरूपी ध्वजा गगन में लहराता रहता है। जहाँ पर अनहद की घंटियाँ उसको सचेत करने के लिए घनघनाती रहती हैं। जहाँ वह स्थान है वहाँ बिल्कुल एकाकी शून्य

ही शून्य है। बिना नींव की दीवार निर्मित है जिसमें निर्वाण पुरुष निवास करता है। उसकी प्राप्ति की सारो प्रक्रिया उस गगन के सिंहासन पर ही प्राप्त हो सकती हैं। कबीर साहब कहते हैं कि जिस साधक का मन वहाँ पहुँच जाता है वह साधक सतत परम तत्त्व की आरती उतारता रहता है। उसके सारे कर्म और भ्रम विनष्ट हो जाते हैं। जो सही पीव का परिचय पा जाता है वह सुरति को पकड़कर निरति में बाँधकर श्वास की गति को स्थिर करके गंगा तथा यमुना के घाट पर अर्थात् त्रिवेणी में निवास करने लग जाता है। मन को नाथकर एकीभूत कर देता है। हृदयरूपी आकाश में झूलना झूलता रहता है।

कबीर साहब कहते हैं कि वह सन्त निर्भय हो जाता है जो उन्मुनि-रहनि में स्थितप्रज्ञ होकर संसार को देखते हुये नहीं देखता। गंगा को उलट कर जब वह साधक यमुना में वास करा देता है। अर्थात् पिङ्गला को इड़ा में समावेश कर सुषुम्ना की गति में स्थिर कर एक कर लेता है और त्रिवेणी के संगम में रात-दिन स्नान करता है। जिस स्नान से उसके अन्तःकषाय धुल जाते हैं। परम सौभाग्यशाली पुरुष की आशा इस नाशवान संसार में पुनः आने-जाने की निर्मूल हो जाती है। इस रहस्य को अज्ञानी साधक नहीं जानता, वह मनरूपी बाज के झपट्टे में पड़कर संसार में जरामरण ग्रहण करता रहता है। कबीर साहब कहते हैं कि यदि वह साधक सद्‌गुरु के द्वारा गंगा-यमुना-सरस्वती को एक करने की युक्ति जान लेता है तो वह साधक अविनाशी पद को प्राप्त कर पुनः भवचक्र में नहीं पड़ता है। वह अधर में सुरति की डोर पर बैठकर अहर्निश झूलना झूलते रहता है। जहाँ सावन मास की तरह बूँदों की झड़ी लगी रहती है। प्रियतम को रिझाने के लिए साधक अपनी मस्ती में कजली गीत गाता रहता है। गगन की गर्जना में वह मोर की भाँति नृत्य करता रहता है। वह अनहद नाद सुनता रहता है। उसकी सुरति गगन की ओर बढ़ती जाती है। मन दूसरी ओर नहीं जाता। वहाँ पर बिना सरोवर के ही जल स्थिर है जहाँ कमल खिला रहता है। मन रूपी भ्रमर अहर्निश उस कलियों की खिली पंखुड़ियों में अलमस्त रहता है। वे कमल षट्‌चक्रों के बीचोबीच खिले रहते हैं जिनकी सुगन्ध कोई विरला सन्त प्राप्त कर पाता है। दशों दिशाओं से मन को रोक कर श्वास में मन को लयकर बैठकर भृकुटी के भीतर जो योगी निवास करता है। वह ब्रह्माण्डीय कला के घोर शब्दों को पार करता हुआ, गगन मण्डल को भेदता हुआ आत्म प्रदेश में जा

पहुँचता है जहाँ से अमृत टपकता रहता है। वह साधक उस परम सुख को प्राप्त कर लेता है।

कबीर साहब कहते हैं कि वह अनन्त युग तक चिदानन्दस्वरूप में विचरण करता रहता है। उसका वाह्य जगत् से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। वह योगी सदा के लिए सुस्थिर हो जाता है। जहाँ पहुँचने पर पञ्च विषयों एवं पञ्च क्लेशों की गति समाप्त हो जाती है तथा तीनों तापों से भी परे हो जाता है। कबीर साहब कहते हैं कि यह अगम का खेल है जहाँ पर गैब का चाँदना, चाँद विहीन चाँदनी दिखलायी पड़ती है। जहाँ पर अलख निरंजन निवास करते हैं। जिनके मुख-माथा नहीं हैं, जो हाथ-पैर से भी रहित हैं, जो रूप-अरूप दोनों से भी परे हैं, जो पुष्पवास से भी पतला है। जो अनुमेयत्व है। साधक योगी का मन उन्हीं की परिक्रमा करता रहता है। जहाँ पर यह मन परिक्रमा करता रहता है उस हृदयाकाश में अनेक प्रकार के सुख उपलब्ध हो जाते हैं तथा पच्चीस प्रकृतियाँ उसकी सेवा में नृत्य करती रहती हैं। हृदयरूपी गढ़ में बैठा हुआ साधक अपने चित्त को इतना एकाग्र कर लेता है कि नासिका के आगे मन की गति नहीं होती है। चित्त पंगु हो जाता है। घूम फिर कर सातवें आसमान पर निवास करता है। कबीर साहब कहते हैं कि वही सन्त निर्भय होकर आत्मा तथा परमात्मा में अभेदत्व प्राप्त कर लेता है, जो सर्वश्रेष्ठ सुखालय है। ऐसे साधक अमरलोक के निवासी हो जाते हैं। दूध को मथकर जैसे घृत निकाल लिया जाता है उसी तरह इन्द्रियों को नियन्त्रित कर मनरूपी मथानी से हृदयाकाश में बैठकर प्रकृति रूपी दूध को जो मथ लेता है उसको अमरतत्व रूपी घृत की प्राप्ति हो जाती है। तदुपरान्त जन्म-मरण का भय समाप्त हो जाता है।

कबीर साहब कहते हैं कि वहाँ चन्द्र-सूर्य, वेद-कितेब अर्थात् वाह्य ज्ञान की गम नहीं है। उसको कोई गुरुमुख व्यक्ति ही समझ सकता है, क्योंकि बिना मार्ग के बेगमपुर नगर में पहुँचना होता है जहाँ अज्ञानियों के लिए जाना कठिन है और जो जाता है वह गुरु की कृपा से जाता है। वह नगर बहुत दूर है और बिना पथ का है। उस नगर में पहुँचने के लिए विहङ्गम मार्ग का आश्रयण करना पड़ता है। दूसरे मीन मार्गी भी वहाँ जा सकते हैं। वहाँ पिपील और कपिल मार्ग वाले योगी जाने में असमर्थ रहते हैं, क्योंकि उसको बिना नेत्र के देखा जाता है। वह चर्म

चक्षुओं का विषय नहीं है। वह केवल प्रातिभ ज्ञान का विषय है। ज्ञान से ही अनुगम होता है। उस अगम और अगाध के लिए कबीर साहब कहते हैं कि उसके भेद को कोई विरला ही सन्त जानता है। जो जानता है वह कहता नहीं, केवल संकेत करता है और यह भी कहते हैं कि बेगमपुर में जहाँ पर स्वामी का निवास है उस नगर में सांसारिक जीव नहीं जा सकता है। वहाँ वही जा सकता है जो पहले बेगम बन जाय।

बिनु पंखे उड़ी जाय आकाशे, जीवहिं मरण न सूझै।

वहाँ जाने के लिए न तो सांसारिक गुणों की गति है न तो सांसारिक कला के द्वारा पहुँचा जा सकता है। वह रहस्य आश्चर्यमय नगर है। जहाँ पर जाने के लिए कोई डगर नहीं है। न कोई बताने वाला है परन्तु वहाँ पहुँचे बिना विश्राम मिलना अति दुर्लभ है! वहाँ तो वही जा सकता है जो गुरु के सैन (संकेत) को पहचान लेता है। जहाँ पहुँचने पर उसकी वाणी मौन हो जाती है। वह रहस्य ही रहस्य देखता है। उसके सारे संकेत गूंगे की सैन जैसा हो जाता है। उस गूंगे की सैन को गूंगा ही पहचान सकता है, क्योंकि अधर की स्मृति और अधर की चाल है। अधर के बीच में गूंगे का गुरु मठ बनाता है। उस गूंगे गुरु का खेल उल्टा है और उसकी चाल भी उल्टी है। वह कुण्डलिनी के मुख में प्रवेश करने जब चलता है, तो इधर-उधर न देखकर आत्म प्रदेश में दृष्टिपात करता है वहाँ एक ऐसा मार्ग है, जिसके पार्श्व भाग में एक ऐसा यन्त्र लगा है, जिससे उल्टा देखने पर ही सीधा ज्ञान होता है। मार्ग भी उसका बहुत झींना है। वहाँ सुमेरु को सूई के छिद्र में डालना पड़ता है। उसके बाद जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति को पार करता हुआ तुरीयावस्था में पहुँचना होता है। यहाँ पर एक ऐसा खतरा योगी के लिए है, जो सुषुम्ना के मुख के पहले एक व्याघ्र नाड़ी है जो व्याघ्रमुखी होकर स्थित है। यदि साधक उसको पार नहीं कर लेता है, तो श्वास के सहित मन उस व्याघ्रणी के मुख में प्रवेश करने पर लौट नहीं सकता है और साधक के जीवन का अन्त हो जाता है। साधक को चाहिए कि जप के सहारे जिधर से शब्द का टङ्कार होता है, उसी मार्ग को ग्रहण करे, क्योंकि शून्याकाश में सब अदृश्य ही अदृश्य दिखाई पड़ता है। वहाँ की बड़ी विचित्र लीला है।

सद्गुरु कबीर साहब कहते हैं कि हे भाई सन्तों! यह अवधूतों का खेल है। यहाँ पर निगुरा की गम नहीं है। जो अवधूत गुरु ज्ञान रूपी

प्रकाश को प्राप्त कर लेता है। वही सहज शून्य में अलख योगी का दर्शन करके स्थिर हो जाता है एवं वह स्थिर अवधूत उसके दर्शन में अहर्निश छका रहता है। अपनी मस्ती के सामने किसी को कुछ समझता नहीं।

ज्ञान वैराग्य की महिमा

किसी भी मार्ग के लिए मनुष्य को संबल की आवश्यकता होती है। बिना संबल अथवा साधन के कहीं जाना कठिन है। अध्यात्म तत्त्व की प्राप्ति के लिए सबसे पहले वैराग्य भक्तिमय जीवन, गुरु, सत्संग, सन्त सेवा, बड़ों का आदर, विनम्र भावना, उदात्त भाव, परोपकार, परमावश्यक है। बिना इनके अध्यात्म की चर्चा करना फिजूल है।

अध्यात्म को चाहने वाले व्यक्ति को सर्वप्रथम वैराग्य के सहारे संसार की ओर से मुड़कर मनोवृत्ति को अन्तर्मुखी बनाना होता है और सुरति को चिदाकाश में लयकर ध्यानस्थ रहना पड़ता है और दसवें स्थान पर पहुँच कर मन को निमग्न करना पड़ता है। जहाँ पर न उदय है, न अस्त है। वहाँ पर सूर्य और चन्द्रमा के अभाव में रात-दिन का अभाव रहता है। वहाँ केवल प्रेम का ही आलोक रहता है। वहाँ दुःख द्वन्द्व कुछ भी नहीं व्यापता। उस स्थान पर पूर्णानन्द का दर्शन हो जाता है।

कबीर साहब कहते हैं कि उस पूर्णानन्द के दर्शन से दिव्यालोक का उदय हो जाता है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड के सारे पदार्थ दिखलायी देने लग जाते हैं। ब्रह्मरूपी समुद्र में मन हंस बनकर मोती चुगता है। कबीर साहब कहते हैं कि मेरा यह सत्य विचार है। यदि तू उस मार्ग पर चलेगा तो शांति मिलेगी। उस पर चलने के लिए सर्वप्रथम तुझको अपने सिर को काट कर हाथ में रखने का साहस हो तो आना। वहाँ कायरों की गति नहीं है। वहाँ कोई सूरमा ही चल सकता है। जिस हथियार से सूरमा सिर काटता है उसके हथियार निम्नोक्त हैं :

शील, सन्तोष, दया, क्षमा, सद्विचार, औदार्यता, गम्भीरता और आत्म चिन्तन। जिसके बल पर वह काम-क्रोध रूपी बैरियों को नष्ट कर अधर में झूलता है। वह सूरमा जो साधन रत रहता है आन्तरिक संग्राम को देख कर भागता नहीं है। उसकी लड़ाई रात-दिन ही सीमित नहीं है, वरन् वह जीवन पर्यन्त लड़ते रहता है। योगियों की लड़ाई तबतक चलती रहती है। जब तक पूर्णत्व की प्राप्ति नहीं हो जाती है। सती की लड़ाई तबतक जारी रहती है जब तक पति का दर्शन नहीं हो जाता है। सूरमा

की लड़ाई तब तक चलती है, जब तक बैरी को नहीं जीत लेता। इसलिए सती और सूरमा की लड़ाई से सन्तों की लड़ाई में बड़ा अन्तर है। उन दोनों की लड़ाई क्षण (पलक) की है परन्तु सन्तों की लड़ाई रैन-दिन चलती रहती है। सदा चौकन्ना रहना पड़ता है। सुरति रूपी डोर जरा सी भी ढीली पड़ने पर वह आकाश से पृथ्वी पर आकर गिर पड़ता है और उसके सारे साधन विनष्ट हो जाते हैं। इसलिए सहजयोगी सदा सावधान रहते हैं।

कबीर साहब कहते हैं कि यही सहजयोग है। जिस दिन से गुरु प्रताप शिष्य पर हो गया है उस दिन से सुरति कहीं अन्यत्र नहीं गयी। जहाँ-जहाँ जाती है वहीं उसकी परिक्रमा होती है और जो कुछ करती है वही पूजा होती है। इस सहजयोग में आँख और कान को मूँदना नहीं पड़ता और न शरीर को कष्ट ही देना पड़ता है। खुले नयनों से हँस-हँस करके सभी में प्रभु के स्वरूप का दर्शन करता रहता है। गुरु कृपा वाले का मन सदा समसत्ता में विचरण करता है। उठते-बैठते हुए वह कभी भी स्वरूप से विचलित नहीं होता है। सदा स्वरूपाकार वृत्ति बनी रहती है। निर्विकल्प समाधि में सदा निमग्न रहता है। मन की समस्त वासनायें विनष्ट हो जाती हैं। सद्गुरु कबीर के अनुसार यह उन्मुनि रहनि है। जिसको स्थित-प्रज्ञावस्था भी कहते हैं। उसी को मैंने आपलोगों के समक्ष प्रकट करके गाया है, निर्भ्रान्त वर्णन किया है।

निर्विकल्प समाधि लगने से लौकिक सुख-दुःख निर्मूल हो जाते हैं। उसके परे जो परम पद है, जिसको प्राप्त कर योगी जन आध्यात्मिक अखिल सुखों के भागी बन जाते हैं। सद्गुरु कबीर के कथनानुसार सहजावस्था तभी बन सकती है, जब साधुओं के अन्दर शील, संतोष विराजने लग जाता है एवं आसुरी भाव का विनाश होकर दैवी भाव आ जाता है। सभी प्राणियों पर दया की भावना उत्पन्न हो जाती है। सबको अपने में और अपने को सब में दर्शन करने लग जाता है। इस भावना के पहले उसमें अहिंसा का आना परमावश्यक है। साथ ही विनम्र होना परम आवश्यक है और सत्यानुयायी होकर हँसी, मसखरी त्याग कर जो स्वप्न में भी झूठ नहीं बोलता। उसकी वाणी में अग्नि का अंश अधिक विराजने लगता है, उसमें वाक् सिद्धि आ जाती है।

उपर्युक्त भक्ति को प्रेम के साथ करना चाहिए तथा आत्मपूजा में निश-दिन अनुराग के साथ लगा रहना चाहिए। साधक मन को चतुर्दिक

से निरुद्ध कर स्वरूप में अभिमुख करें और शान्त भाव से आसन को सुदृढ़ रखें। धैर्य का कभी भी त्याग न करें। साधक में कभी-कभी घबराहट होती है जिसके कारण अनात्म वस्तुओं के सेवन की प्रवृत्ति हो जाती है। वृत्ति को अनात्म पदार्थों की ओर कभो न जाने दें और सत्यवादी, सत्य-वक्ता, आप्तपुरुष, गुरु का साथ न छोड़ें। क्योंकि भागते हुए मन को अन्त-रंग की ओर करता हुआ उस गुरु की सदा सेवा अर्चना में लगा रहे। निर्मल भावना से गुरु के साथ रहना चाहिए। क्योंकि अगर गुरु यह समझेगा कि शिष्य कपटी है तो वह सही बात कभी नहीं बतायेगा इसलिए शास्त्र और सन्तों ने यह शर्त रखी है कि सुधी होना चाहिए। सौम्यता को कभी त्याग न करें। यदि किसी कारणवश गुरु कभी रुष्ट हो जाय तो साधक को उन्हें प्रसन्न करने के लिए उपाय करना चाहिए। प्रसन्न होने पर गुरु जो आदेश करें उसका श्रवण-मनन करता रहे।

कबीर साहब कहते हैं जहाँ पर ऐसे विवेकी सन्त रहते हैं उसी स्थान पर मेरा निवास होता है और यह भी कहते हैं जब उस भक्त में विनम्रता आ जाती है और दासा तन का मार्ग अपना लेता है तो ऐसे पात्र को मैं वह पद देता हूँ अर्थात् उस लोक में पहुँचा देता हूँ जिस लोक को ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी प्राप्त नहीं कर सकते। एक शर्त और कबीर साहब लगाते हैं कि वह भक्त **"औरन को पूरा करि जाने, आपहिं ओछ कहावे।"** अर्थात् किसी में दोष-दर्शन न करें। अपने भीतर के दोषों को खोजे कि कोई विकार तो नहीं रह गया है। यदि ऐसा भक्त मिल जाता है तो हे अवधू! तुमसे सत्य कहता हूँ कि वह मेरे को अति प्रिय लगता है। मैं उसके लिए अपना सब कुछ न्योछावर कर देता हूँ। मैं उसके पीछे-पीछे घूमता हूँ। उसका कोई बाल बाँका नहीं कर सकता। अन्त में मैं उसको अपने में समाविष्ट कर लेता हूँ और उसको ऐसी बुद्धि देता हूँ कि सभी गुणों से सम्पन्न हो जाता है। उस परम भक्त को शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पाँचों विषयों में नहीं पड़ने देता हूँ। इन विषयों से अस्नेही बनाकर आत्मा का दर्शन कराता हूँ। उस भक्त की अभेद दृष्टि हो जाती है। वह प्रत्येक प्राणियों में एक ही समसत्ता का दर्शन करता है। वह जाति-पाँति, वर्णाश्रम का अभिमान त्याग देता है। उसका द्वैतभाव सदा के लिए विनष्ट हो जाता है। वह सत्य शब्द में निरन्तर निवास करता है। वह वेद शास्त्रों को पढ़कर विस्मृत हो जाता है। उसमें से केवल सार-भाव को ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार की बुद्धि मैं उसको साधु के मुख

से और उनकी संगति से बना देता हूँ। हे अवधू! तुमसे पुनः कहता हूँ तुम सुनो, जो इस प्रकार की रहनी-गहनी से रहता है वह अवश्य ही परम पद को प्राप्त कर लेता है। उसमें ऐसी लगन होती है कि इसके सारे कार्य सिद्ध हो जाते हैं। अन्ततोगत्वा मनुष्य शरीर का फल उसको मिल जाता है, जिसके लिए देवता भी लालायित रहते हैं, क्योंकि देवताओं को मानव-शरीर नहीं मिलता। इसलिए आत्म-सुख से वंचित रहते हैं। जैसे स्वाती बूँद के लिए पपीहा पी-पी का रट लगाता है, उसी प्रकार से जो साधक प्रभु का भक्त बन जाता है वह किसी दूसरे देवी-देवता का ध्यान और दर्शन नहीं करना चाहता। चाहे उसके प्राण रहें या चले जायँ। वह अपने शरीर की चिन्ता नहीं करता। वह मृत्यु का वरण लेता है। अपने प्राणों को हाथ पर लेकर घर-द्वार सब छोड़कर सत्य का सौदा करने निकल पड़ता है। चाहे उसके सामने आग का अंगार ही क्यों न जलता हो। उसको रंच मात्र भी भय नहीं होता। अर्थात् यदि वह साधक गुरु ज्ञानाग्नि के घेरे में हो तो भी वह प्राणों का मोह छोड़कर कूद पड़ता है। जैसे दो दल आपस में लड़ने के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं जिसको देखकर कायर भाग जाते हैं, परन्तु सूरमा रणांगन में कूद पड़ता है। बिना विजयश्री प्राप्त किए पीछे की ओर नहीं देखता। चाहे वह टूक-टूक क्यों न हो जाय। वह शत्रुओं को मारकर ही वापस होता है। जैसे मृगा मधुर नाद का प्रेमी होता है और नाद को सुनते-सुनते प्राणों का न्योछावर कर देता है। उसी प्रकार आत्म तत्त्व प्रापक साधक को भी होना चाहिए।

कबीर साहब का कहना है कि जब गुरु से लगन लगानी हो तो तन, मन, धन सबकी आशा छोड़कर निर्भय होकर प्रभु के चरणों में लिपट जाओ। तभी वे स्वयं तुमसे आकर मिलेंगे। तुम सावधान हो जाओ। इस प्रकार का शुभावसर तुझे कभी नहीं प्राप्त होगा। जो तुझसे बन सके तो मनोवाञ्छित भलाई कर लो जिसके द्वारा तुझे जन्म-जन्म आनन्द प्राप्त होता रहेगा। इन सांसारिक सुखों में कुछ भी नहीं है। ये क्षण पलक में नष्ट होने वाले हैं। कल तन छूटने पर तुम क्या कर सकोगे अर्थात् कुछ नहीं। इसलिए प्रभु का सुमिरण, भजन यावत् जीवन कर लो जिससे इनके दूत तुझे नहीं पकड़ेंगे। मन से, वचन से, कर्म से प्रत्येक श्वास में प्रभु का नाम लेते रहो। एक भी श्वास बेकार न जाने दो। तुझे कुछ भी पता नहीं कि आने वाला श्वास कब रुक जायेगा। इसलिए तुमसे बार-बार कहता हूँ। तुम प्रत्येक श्वास की सुमरणी बना लो। इसी के द्वारा

प्रभु के पावन नामों का जप करते रहो। साथ ही यह संसार क्या है ? मैं क्या हूँ ? इसका भी चिन्तन करते रहो। ऐसा चिन्तन करते-करते तुम्हारो गमनागमन करने वाली वृत्ति प्रभु के स्वरूप में लय हो जायेगी। पुनः तू जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ोगे।

ईश्वर का अस्तित्व और उसकी प्राप्ति

प्रभु के विषय में बड़ा विवाद छिड़ा हुआ है, कोई कहता है ईश्वर नहीं है, कोई कहता है निर्गुण है, कोई कहता है सगुण है, कोई कहता है जीव ही ईश्वर है, कोई कहता है, ईश्वर आदर्श शब्द है। किसी ने तो यह कहा है कि सत्य ही ईश्वर है, प्रभृति विचार देखने-सुनने को मिलते हैं। ईश्वर नहीं है, ईश्वर है, यह विवाद बहुत पुराना है। यह लड़ाई वैदिक युग से लेकर आज तक अस्तिनास्ति के सम्बन्ध में विद्यमान है। दोनों के पक्ष सबल और तर्क पूर्ण दिखायी देते हैं।

तीसरी श्रेणी वैकल्पिकों की है जो पुरुष विशेष को ही ईश्वर मानते हैं, परन्तु मुझे यह देखना है कि कबीर साहब के मत से ईश्वर है या नहीं। मेरे अन्य लेखों द्वारा कबीर साहित्य की प्रामाणिकता पर विचार किया जा चुका है, जिसमें 'बीजक' कबीरवाणी, (कबीर ग्रंथावली), बाबा मलूकदास द्वारा संग्रहीत एवं 'चौरासी अंग की साखी'। ये ग्रन्थ कबीर साहब के मान लिए गये हैं। इनकी कसौटी, भाषा-विज्ञान, भाव-व्यंजन प्रयोग तथा भावात्मक शब्दावलियों के कारण कबीर-साहित्य के रूप में निश्चित हो चुकी है। इन तीनों पुस्तकों में यदि निष्पक्ष भाव से तटस्थ होकर विचार किया जाय तो ईश्वर विषयक पद्य अधिक विद्यमान हैं।

सद्‌गुरु कबीर की दो कथन शैलियों के द्वारा ईश्वर की सिद्धि की गयी है। सर्वप्रथम कुछ पंक्तियों को उद्‌धृत किया जा रहा है जिनसे यह उप-लक्षित होता है कि एक परमतत्त्व सर्जक और संहारक के रूप में विद्यमान है। जो जीव तत्त्व से भिन्न सर्वगत और सर्वज्ञ है। जीव तत्त्व इसलिए वह नहीं है क्योंकि जीव अभावग्रस्त तत्त्व है और अल्पज्ञावस्था में विद्यमान रहता है। जीव का अपना अलग अस्तित्व है, परमात्मा का अपना अलग अस्तित्व है, परन्तु चैतन्य भाव में अभेदत्व है। दूसरी बात ईश्वर भावयुक्त पदार्थ है। ईश्वर में छः गुण—आधिपत्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य विद्यमान रहते हैं जिससे उसके ईश्वरत्व में अभिघटत्व

कल्पनाकाल का अभाव रहता है और क्षरत्व, वर्धत्व को कभी प्राप्त नहीं होता।

यहाँ ईश्वर से मेरा तात्पर्य शुद्ध चिति-भूमा से है जो व्यक्ताव्यक्त से परे है, जिसमें देश-काल का अभाव रहता है। उसी को कबीर साहब ने राम, रमैया, रमुरा, रामराई, गोविन्द, गोपाल, रघुराई आदि नामों से उद्घोषित किया है। सर्वप्रथम 'बीजक' में प्रथम रमैनी की अन्तिम साखी में राम शब्द का प्रयोग किया गया है :

कहै कबीर पुकारि के, ई लेऊ व्यवहार।
राम-नाम जाने बिना, भव बुड़ि मुवा संसार ॥

उसके पहले चौपाई में अविगति भी कहा है और यह भी कहा है कि उसकी महिमा का सांगोपांग वर्णन नहीं किया जा सकता है तथा दूसरे स्थल पर अविनाशी भी कहा है :

'अब कहूँ राम-नाम अविनाशी। हरि छोड़ि जियरा कतहूँ न जासो ॥'

जीवों से यह भी कहते हैं कि वह अविनाशी है उसको छोड़कर अन्यत्र न जाओ अर्थात् उसकी प्राप्ति के लिए सहजयोग का अवलम्बन करो। तात्पर्य यह है कि 'बीजक' में सैकड़ों स्थानों और पदों में इस प्रकार की बातें भरी पड़ी हैं। 'चौरासी अंग की साखी' में गोविन्द का नाम, हरि-नाम एवं रामनाम सैकड़ों पदों में आया है। जैसे :

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागौं पाय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविन्द दियो लखाय ॥

राम-नाम के पट तरे, देवे को कछु नाँहि।
कह लौं गुरु संतोषिये, हौंस रहि मन माँहि ॥

ना कछु किया न करि सका, न करने योग्य शरीर।
जो कछु किया सो हरि किया, भया कबीर-कबीर ॥

हरि से जन हेत कर, कर हरिजन से हेत।
माल मुलुक हरि देत है, हरिजन हरिहिं सेत ॥

सपनेहुँ वरराई के, मुख से निकले राम।
ताके तन की पार्नाहि, मेरे तन के चाम ॥

कबीर वह दिन याद कर, पग ऊपर तल शीश।
मृतमण्डल में आइके, विसर गया जगदीश ॥

इत्यादि प्रकार के पद कबीर साखी में भरे पड़े हैं जिसके द्वारा ईश्वर की सिद्धि सरल एवं सम्भावित है। इसी प्रकार से 'कबीरवाणी' में भी पद भरे पड़े हैं। कुछ पंक्तियों को नीचे उद्धृत किया जा रहा है :

तू निरंजन, तू निरंजन, तू निरंजन रामराया।
तेरे रूप नाहिं रेख नाहि, मुद्रा नाहिं माया॥
राम निरंजन न्यारा रे, अंजन सकल पसारा रे।
अंजन उत्पत्ति बरतन लोई, बिना निरंजन मुक्ति न होई॥
अहो ! गोविन्द तुम्हारा जोर।

आदि पंक्तियाँ अनेक प्रकार की भरी पड़ी हैं जिनका पूरा उदाहरण देने से पुस्तक का कलेवर अधिक बढ़ जायेगा। इसलिए विस्तार-भय से सबको उद्धृत न करके दिग्दर्शन मात्र किया गया है।

उपर्युक्त पंक्तियों से ईश्वर की सिद्धि की गयी है। उसकी प्राप्ति के लिए सद्गुरु कबीर साहब ने ज्ञान, उपासना सुकृतों का उल्लेख किया है। अन्तिम रूप उनका सहजयोग है। सहजयोग के बिना उसकी प्राप्ति वे सम्भव नहीं मानते। ईश्वर के बारे में बहुतों की धारणा यह है कि वह दिखलायी नहीं पड़ता। इसलिए उसका अस्तित्व नहीं है। इस विषय में कबीर साहब कहते हैं :

रेख रूप वै है नहीं, अधर धरी नहिं देह।
गगन मण्डल के मध्य में, निरखो पुरुष विदेह॥
धरे ध्यान गगन के माहिं, लाये बज्र किवार।
देखि प्रतीमा आपनी, तीनिऊँ भये निहाल॥

के अनुसार वह गगन मण्डल में है, उसको ध्यान के द्वारा अर्थात् चारों ओर से वज्र किवाड़ लगाना पड़ेगा और सहजयोग उसके लिए साधन है। क्योंकि परमेश्वर परमगुप्त तत्त्व है। अतीन्द्रिय पदार्थ होने के कारण सहज बुद्धि से ग्राह्य नहीं है। वह हृदय गुफा में छिपा हुआ तत्त्व है। वह दृष्टिगोचर होनेवाला नहीं है। अति सूक्ष्म रूप है। उसको न तो ऊपर ग्रहण किया जा सकता है और न नीचे ही ग्रहण किया जा सकता है। वह मध्य में भी नहीं पकड़ा जा सकता है। जैसे—पुष्प में सुगन्ध है पर दिखाई नहीं देती। उसी प्रकार से परम तत्त्व है परन्तु इन नेत्रों से दिखने वाला नहीं है। जैसे—पुष्प की गन्ध घ्राण के द्वारा अनुभव की जाती है उसी प्रकार से परमेश्वर भी अनुभव का विषय है, वह स्वानुभूति परक

है। जैसे—शरीर की वेदना का अनुभव अन्य द्वारा सम्भव नहीं है। उसी प्रकार से परमेश्वर, जिसको अनुभूत होता है, उसी को होता है अन्य केवल वेदना वाले को देखकर कह सकते हैं कि ज्ञात होता है कि इसको कष्ट है उसी प्रकार से आत्मानुभूति वाले को कुछ लक्षणों के द्वारा जाना जा सकता है। दृष्टिगत वस्तुयें नाश को अथवा परिवर्तन की ओर होती हैं। उनमें क्षरत्व, वर्धत्व भी देखा जाता है। यदि परमेश्वर दृष्टिगत होने लगे तो वह भी एक परिगामी वस्तु सिद्ध होगा। इसलिए नास्तिकों के सारे तर्क विकार भाव वाले हैं। वह अति श्रद्धा का विषय है, बिना श्रद्धा के प्राप्त नहीं हो सकता। कबीर साहब कहते हैं कि वह श्रद्धा, विश्वास एवं प्रेम वाले को ही प्राप्त होता है। वहाँ तर्क के द्वार बन्द हैं। तार्किकों को जगत् का ज्ञान होता है। श्रद्धावाले को प्रभु का ज्ञान होता है। प्रभु की प्राप्ति के लिए तीन ही सहयोगी होते हैं—प्रथम गुरु, दूसरा श्रद्धा, तीसरा शुद्धाचरण। इन्हीं तीनों के सहयोग से प्रभु की प्राप्ति सम्भव है, क्योंकि गुरु के द्वारा सहजयोग का ज्ञान होता या जानकारी होती है और श्रद्धा के द्वारा मन निर्मल होता है, शुद्धाचरण के द्वारा निरोगता प्राप्त होती है। साधना या प्रभु की प्राप्ति में निरोगता की आवश्यकता है। बिना उसके कार्य की सिद्धि नहीं होती। इसलिए शुद्धाचरण की बड़ी उपयोगिता है, जिसमें अन्न-जल, आहार-व्यवहार भी समाविष्ट है। सर्वप्रथम आसन पर बैठने के पहले स्नान करना परमावश्यक है। यदि शरीर कुछ रुग्ण है तो कम से कम हाथ, पैर, मुख आदि अंगों को जल से शुद्ध करने के बाद ही आसन पर उपविशित होकर गुरु के बताये हुए मार्ग से कार्य पद्धति चालू करें। विशेषकर ऐसे स्थान का चयन करें जहाँ पर साधना के लिए अत्यधिक एकान्तता हो। वहीं पर बैठकर साधना करना श्रेष्ठ है। इसकी विशेष विधियाँ पूर्व पृष्ठों पर लिखी गयी हैं। इसलिए उनका उल्लेख करना पुनः उपयुक्त नहीं है।

भक्ति योग

भक्ति की व्युत्पत्ति भज् (भज्+क्तिन्) धातु से हुई है। जिस भक्ति का अर्थ होता है सेवा, सुश्रूषा, भजन, पाद-वन्दन, अर्चन आदि। जिनका उल्लेख पूर्ववर्ती ऋषियों के द्वारा हुआ है।

भक्ति के विषय में महर्षि नारद, शाण्डिल आदि ऋषियों ने विशेष रूप से उल्लेख किया है, परन्तु कबीर साहब की भक्ति सन्तमत की भक्ति

है। इसमें किसी प्रकार का आडम्बर नहीं है, बाह्याचार भी नहीं है। कबीर साहब भक्ति-भावना से ओत-प्रोत होकर कहते हैं :

अर्ब खर्ब ले दर्ब है उदय अस्त ले राज।
भक्ति महातम ना तुले, ई सब कौने काज ॥

कबीर साहब की भक्ति अतुलनीय है। उसकी बराबरी करने वाली संसार में कोई दूसरी वस्तु नहीं है। कबीर साहब भक्तियोग का लक्षण करते हुए कहते हैं :

राम-नाम जिन चिह्नियां, झीना पिंजर तासु।
नैन न आवै नींदरी, अंग न जामें मांसु ॥

दूसरी जगह वे कहते हैं—

जो जन भींजे राम रस, विकसित कबहुँ न रूख।
अनुभव भाव न दरसये, तेहि नर सुख न दुख ॥

अर्थात् राम-नाम को जिसने पहचान लिया है, उसका शरीर क्षीण हो जाता है। उसे नींद नहीं आती है और न अंग पर मांस की ही वृद्धि होती है।

जो राम रस में भींगा हुआ है, वह विकसित अवस्था को प्राप्त होता है। उसमें रूक्षता नहीं आती। सांसारिक सुख-दुख राम रसायन के आगे अनुभव नहीं होता। वह राम-भक्ति में तल्लीन रहता है। राम-भक्ति के स्वरूप का चिन्तन करने को कहते हैं। वह मानसिक रूप से अहर्निश प्रभु के नाम और स्वरूप का चिन्तन करता रहता है। यही राम की भक्ति है। इसी भक्ति के लिए सद्गुरु कबीर गुरुदेव की शरण में जाने को बार-बार निर्देशित करते हैं। उनका कहना है कि बिना इस प्रकार की भक्ति के तुम्हारा उद्धार होना सम्भव नहीं है। वे यह भी कहते हैं कि जब तक राम के वियोग में तुम विकल नहीं हो जाते तब तक तुम राम को पा नहीं सकते। इसलिए तन, मन, सब सौंपकर राम के शरणागत हो जाओ तब तुम्हारी दशा इस प्रकार हो जायेगी :

राम वियोगी विकल तन, इन दुखिवो मति कोय।
छुअत ही मर जायेंगे, ताला बेली होय ॥

विरह भुवंगम पैठि के, कीन्ह करेजे घाव।
साधू अंग न मोरिहैं, ज्यों भावे त्यों खाव ॥

वे कहते हैं कि राम-नाम ही मूल है। उसी को ग्रहण करने से तुम्हारे कार्यों को सिद्धि होगी। तुम अन्यत्र न भूलो। यदि अन्यत्र भूल जाओगे तो तुम्हारा मन समुद्र के समान है उसका मनसा ही लहर है। यदि कहीं अन्यत्र जाते हो तो उसी में डूब मरोगे। इसलिए मन के सारे व्यवहार को त्यागकर परमेश्वर की भक्ति करो और जन्म-मरण से पार होने के लिए राम-नाम रूपी नौका पर बैठकर समुद्र रूपी संसार से पार हो जाओ।

वाणी पर संयम

कबीर साहब कहते हैं कि जिह्वा को बन्द रखो। बहुत बोलना कम करो। आत्मवित् सन्तों से संग करो और जो गुरुदेव का दिया हुआ शब्द है उसपर विचार करो अर्थात् उसका चिन्तन करो।

जिभ्या को तो बन्द दे, बहु बोलन निरुवार।
पारखी से संग करु, गुरुमुख शब्द विचार॥

पुनः वे कहते हैं कि जिसकी जिह्वा बन्द नहीं है, जो बहुत बोलता है वह झूठ का शिकार हो जाता है। उसका हृदय कभी सच्चा नहीं होता। ऐसे लोगों की संगति नहीं करनी चाहिए। यदि ऐसे लोग तुझे साधना के मार्ग में मिलकर धोखा देना चाहते हैं तो उनको बीच मार्ग में ही त्याग दो।

जाके जिभ्या बंध नहीं, हृदया नाहिं साँच।
ताके संग न लागिये, घाले बटिया माँझ॥

वे कहते हैं कि बोलना अनेक प्रकार का है, जिसको विचारकर बोलना चाहिए। विना विचारे यदि बोलते हो तो तुम असत्यवादी ठहरते हो और उसके द्वारा दूसरों को भी कष्ट पहुँचेगा। इसलिए अपने और पराये हृदय को समझाकर समान रूप से सोचकर जैसे दुख-सुख मुझे होता है उसी प्रकार एक दूसरे को भी होता है इसलिए सच्चाई और सरलता के साथ वाणी का उच्चारण करो। मैं तुझको बिल्कुल मौन होने के लिए नहीं कहता हूँ। केवल विचार करके बोलने के लिए मन्त्रणा देता हूँ :

बोलन है बहु भाँति का, नैनन किछुउ न सूझ।
कहैं कबीर बिचार के, तैं अकिल कलाले बूझ॥

सद्गुरु कहते हैं कि मेरा सच्चा शब्द हृदय में है, जरा विचार कर देखो। पर तुम विचारते नहीं हो कि मैं क्या कहता हूँ। मुझे बहुत दिनों से कहते हो गया, और तुम्हें सुनते भी। परन्तु तुम्हारी इन्द्रियाँ इतनी बहिर्मुखी हो गयी हैं कि तुम्हें मेरे शब्दों की ओर जाने नहीं देती हैं। यदि तुम सच्चा वणिक् बन रहे हो तो साँची हाट लगानी चाहिए। अर्थात् सत् व्यवहार करना चाहिए। पहले भीतर की सफाई करो और उस कूड़े को बाहर दूर फेंक आओ :

साँचा शब्द कबीर का, हृदया देखु बिचारि।
चित्त देय समुझे नहिं, कहत भयल जुग चारि॥
जो तू साँचा बानियाँ, साँची हाट लगाव।
अन्दर झारू देइ के, कूरा दूरि बहाव॥

क्योंकि सबसे श्रेष्ठ सत्य बोलने वाला होता है। यदि उसका सत्य दिल है तो उसके समान दूसरा कोई संसार में नहीं है और बिना सत्य के सुख भी नहीं हो सकता, चाहे तू कितना भी प्रयत्न करो। सत्याभाव में दुःख ही दुःख है। इसीलिए तू सत्य वस्तु का क्रय करो। सर्वप्रथम अपने मन में उसको जमा लो कि वह सत्य है कि नहीं! यदि पहचान नहीं पाओगे तो सत्य वस्तु के क्रय से तुम्हारा अनिष्ट होगा। मैं तुझे इतना समझाता हूँ जिसको सीमा नहीं है, परन्तु तुम सुकृत वचन को मानते नहीं हो और अपने भी विचार नहीं करते हो कि मैं हीरा का क्रय कर रहा हूँ कि कोई पत्थर का अथवा कानो कौड़ी तो नहीं। तुझे पुकार-पुकार कर कहते मेरी सारी अवस्था बीत गयी, पर तुमने अनसुनी कर दिया। सांसारिक सुखों में तू इतना लिप्त हो गया कि स्वप्न के समान तुम्हारा परमानन्द सुख चला गया। अर्थात् तुम्हारा मानव जन्म बेकार हो गया :

सबते साँचा है भला, जो साँचा दिल होय।
साँच बिना सुख नाहिना, कोटि करे जो कोई॥
साँचा सौदा कीजिये, अपने मन में जानि।
साँचे हीरा पाइये, झूठे मूलहु हानि॥
सुकृत बचन माने नहिं, आपु न करै विचार।
कहहिं कबीर पुकारिके, सपने गया संसार॥

यदि तुझे बोलना ही है तो अच्छे लोगों से बोलो जिनसे बात करने पर सुख की उपलब्धि हो। वैसे लोगों से मत बोलो जिनसे बोलने पर

सारा बखेड़ा खड़ा हो और अपने मन में विच्छेद उत्पन्न हो और बोलते-बोलते इतना विकार बढ़ जाय कि मार-काट की नौबत आ जाय। इसलिए विचारवान् से बोलो, जो संत हो उसी से दो चार बातें कर लो। असंतों से मौन रहो अन्यथा बड़ी हानि होगी :

बोलना कासो बोलिये रे भाई। बोलत ही सब तत्त्व नसाई ॥
बोलत-बोलत बाढ़ विकारा, जो बोलिये जो परे विचारा।
मिलहिं संत वचन दुइ कहिये, मिलहिं असंत मौन होय रहिये ॥
पंडित से बोलिये हितकारि, मूरख से रहिये झख मारि।
कहहिं कबीर अर्ध घट डोले, पूरा होय विचार ले बोले ॥

यदि हितैषी से भी बोलते हो तो निश्छल होकर मीठा बोलो, वाणी में किसी प्रकार की वक्रता नहीं, हास-परिहास न हो, सत्य होते हुए भी :

मधुर वचन है औषधि, कटुक वचन है तीर।
श्रवण द्वार ह्वै संचरै, सालै सकल शरीर ॥

साधु भया तो क्या भया, बोले नाहिं विचार।
हते पराई आतमा, जीभ बाँधि तरवार ॥

यदि तुझे कोई कुछ कड़ुवा बोलता भी है तो तुम उसका प्रत्युत्तर मीठे में दो या मौन धारण कर लो, जिससे झगड़ा का अन्त हो जाय :

जो कोई गालि देय, जवाब न दीजै।
गम अमृत तेरे पास, घोलि क्यों न पीजै ॥
आवत गारि एक है, उलटत होय अनेक।
कहहिं कबीर न उलटिये, रहे एक कि एक ॥

सद्गुरु कबीर की यह वाणी विषयक शिक्षा मनुष्यमात्र के लिए महान् औषधि है। यदि इसका पालन किया जाय तो जनसाधारण से लेकर प्रवुद्धवर्ग तक, एक परिवार से लेकर ग्राम तक, एक ग्राम से लेकर एक प्रान्त तक, एक प्रान्त से लेकर एक देश तक, एक देश से लेकर पूरे विश्व तक उपर्युक्त वाणियाँ प्रत्येक प्रकार के विवादों को सुलझाने में परमोपयोगी सिद्ध होंगी। इनके द्वारा कोई भी समस्या उत्पन्न होने पर उसके निवारणार्थ एक स्थान पर बैठकर सुलझाया जा सकता है।

संसार की असारता

सम् (सृ+घञ्) धातु से संसार की व्युत्पत्ति होती है जिसका अर्थ होता है—जगत्, मार्ग-पंथ, बार-बार जन्म लेना, पुनर्जन्म लेने की

परम्परा अर्थात् जो स्थिर न रहे जो चलता रहता है। संसरति इति संसार:। जिसमें प्रत्येक क्षणों में परिवर्तन होता रहता है वही संसार है। जो मायिक तत्त्वों से बना हुआ है वही संसार है। जिसमें कहीं स्थिरता नहीं है वही संसार है। जो इन्द्रजाल जैसा दिखलाई पड़ता हो वही संसार है। जिसमें मिथ्यात्व विद्यमान हो, जो अनादि काल से बनता-बिगड़ता हो, वही संसार है।

इसी को सद्गुरु कबीर भी संसार कहते हैं। उनका कहना है कि यह जगत् 'झूठ-झूठा करि डारहूँ' अर्थात् यह संसार असत्य है। इसमें कोई वास्तविकता नहीं दिखलाई दे रही है। यह विस्मृति में बना है। इसमें जो आता है वह फँसकर नष्ट हो जाता है। इसलिए सावधानी के साथ निवास करो। देखो इसमें कोई बात सुस्थिर नहीं है। इसमें न कोई सुख है और न कहीं शांति ही दिखलाई दे रही है। यह विष का वृक्ष है। जिसको करायल भी कहा गया है। जो सदा विष उगलता रहता है। इसके नीचे निवास करनेवाले इसकी हवा से निष्प्राण हो जाते हैं। इसमें जन्म लेकर तुम भूलो नहीं। चेत करो। तुमको मैं बड़ा अपराधी देखता हूँ, क्योंकि तुम इसमें मनुष्य जन्म ग्रहण कर चुक गये हो। तुम्हारे मानव तन के अनेक भागीदार हैं। माता-पिता कहते हैं—यह मेरा पुत्र है; मेरे कार्य का होगा। इसीलिए तुम्हारा प्रतिपालन करते हैं। उन्हें अपने स्वार्थों की बड़ी तुमसे अभिलाषा है। वे तुझे प्रभु के चरणों में लगने नहीं देते। जिस मार्ग से अपने अनुगमन करते हैं, उसी मार्ग पर तुमको भी चलने के लिए बाध्य कर देते हैं। जिस संसार की वे रचना कर रहे हैं, उसी में तुम्हें भी बाँध देते हैं। तुम्हारे साथ एक कामिनी सुन्दरी को लगा देते हैं। जो (कामिनी) तुम्हें अपना पीव, भरतार, अर्थात् भरण-पोषण करने वाला समझती है और तुम उसको अपनी अर्द्धांगिनी या साधिका समझने लग जाते हो, परन्तु तुम्हें जानकारी नहीं, वह तो व्याघ्रनी = बाघिनी के समान है, जो तुम्हें ग्रसन करना चाहती है। तुम उसके क्षणिक सुख के कारण अपने को भूल जाते हो, प्रभु तुमसे बहुत दूर हो जाते हैं। तुम रात-दिन उसी के भरण-पोषण में लगे रहते हो। वह तुम्हें छोड़ना नहीं चाहती है। जब तक तुमसे उसका स्वार्थ सधता रहता है तब तक वह तुम्हारे पीछे लगी रहती है। तुमको तो वह तभी छोड़ती है जब तुम नाकामयाब हो जाते हो। क्या अन्धा, लंगड़ा, विकलांग होने पर वह तुम्हें चाहती है? क्या नपुंसक हो जाने पर वह तुम्हें चाहती है!

क्या निर्धन हो जाने पर वह तुम्हें चाहती है ? तुम बड़े मूर्ख हो। तुम उस चूसने वाली बाघिनी को सुखदायिनी मान लिये हो। भला उसके साथ से कौन सा सुख तुम्हें प्राप्त होता है ? तुम सदा उसी की प्रसन्नता के लिए कार्य करते हो। जरा सा भी उसकी असंतुष्टि में तुझे क्लेश होता है। वह तो दुःख का घर है। परन्तु तुम समझ नहीं रहे हो, क्योंकि उससे उत्पन्न पुत्र और पुत्रियाँ भी ध्यान लगाये हुए हैं। वे भी सदा सुख की चाहना तुमसे करते हैं। तुम भी विमोहित होकर उनके लिए कुछ करने से शेष नहीं रहते हो। यावत् जीवन पुत्र-पुत्रियों के लिए अथवा उत्पन्न संतान के लिए कार्यरत रहते हो। जिसके चलते तुम्हें कभी भी प्रभु को स्मृति नहीं होती। तुझे यह मालूम नहीं है कि ये पुत्र-पुत्रियाँ तुम्हारे जन्म-मरण के हेतु हैं। ये सदा यमराज की भाँति तुम्हारी तरफ मुख फैलाये दौड़ते रहते हैं। जिसको तुम स्नेह समझते हो, वह अति दुःखदायो है। संसार में व्यर्थ का जीवन बिताने के बाद तुम्हारी वृद्धावस्था को देखकर काक, गिद्ध, कुत्ता, सियार आदि तुम्हारे मृत्यु वाले पंथ का अवलोकन करते रहते हैं कि कब यह मरेगा कि जिसको हम भक्षण करके अपनी तृप्ति करेंगे। पर तुझे यत्किंचित् इसकी चिन्ता नहीं है कि मेरा क्या कर्तव्य है। इतना ही नहीं, अग्नि देवता भी कहते हैं कि मैं इसके तन को जलाऊँगा; जल के देवता कहते हैं कि मैं अपने में मिलाऊँगा, धरतो कहती है कि यह मेरे में मिल जायेगा, पवन देवता कहते हैं कि मैं अपने संग इसको उड़ा ले जाऊँगा, आकाश कहता है कि मैं परमाणु बनाकर अपने में लय कर लूँगा। अर्थात् ये चारों तत्त्व वाले पदार्थ मेरे में विलीन हो जाते हैं, क्योंकि गमनागमन की गति हमेशा आकाश में ही होती है। बिना आकाश के इनका कहीं स्थान नहीं है। ऐ मूर्ख ! जिस घर को तुम अपना मान रहे हो अर्थात् जिस संसार को तुम अपना समझ रहे हो वही तुम्हारा बैरी होकर तुम्हारे गले का फंदा बना है, जिसमें फँस कर तुम अनेक जन्मों तक दुःख के भागी बने रहते हो, तुम इतना नहीं समझ पा रहे हो जो तुम्हारा साथ कभी नहीं दे सकता। इस तन को भी तुमने अपना मान लिया है। अरे वह तो विषय स्वरूप है जिसमें तुम भूले पड़े हो। तुम्हें जरा सा भी विचार नहीं आता है, तुम्हारे इस तन के कितने भागीदार हैं, जिनके चलते तुम जीवन भर दुःख पाते हो। इस पर भी तुम चेत नहीं कर रहे हो। यह मेरा है, वह मेरा है आदि उद्घोष करते हो। इतना ही नहीं, तुम यदि कभी उपराम भी होते हो तो संसार के ही सुख में पड़े

रहते हो। घर का त्याग कर वन की ओर भी जाते हो वहाँ भी तुम्हारा संसार से सम्बन्ध नहीं छूटता। वेष तो तुम प्रभु से मिलने का बनाते हो, पर सांसारिक विषय मान-बड़ाई तुम्हें धर दबोचती हैं। तुम वेद-शास्त्र भी पढ़ते हो, तुम दूसरों को उपदेश भी करते हो, पर स्वयं धारण नहीं करते। कथा, कीर्तनों के द्वारा सम्पत्ति का अम्बार लगा देते हो, तमाम लोगों को चेला-चेली भी मुड़ते हो, किसी मठ के महन्त बन जाते हो, कहीं मण्डलेश्वर बन जाते हो, बड़े-बड़े सेठ साहूकारों के सामने विनम्र बनकर गिड़गिड़ाते रहते हो। तुझे अर्थ की भावना बनी रहती है। तुम अपने को श्रेष्ठ बनने के लिए महादेव-पंथी कहते हो और उस पंथ के बड़ा महन्त भी बनते हो। हाट-बाजार में समाधि भी लगाते हो, तुम्हें कच्ची सिद्धि बड़ी प्यारी लगती है, धन-मठ के लिए लड़ाई भी करते हो, हत्या भी करते हो। क्या जिन पंथों का नाम तुम लेते हो, क्या वे दत्तात्रेय ने मोर्चा तोड़ा था ? क्या शुकदेव जी ने तोपों का संग्रह किया था ? क्या नारद बन्दूक चलाते थे ? क्या व्यासदेव ने लड़ाई के लिए बिगुल बजाया था ? इन सबों की बड़ी महिमा गाते हो, परन्तु वे लोग उपर्युक्त काम कभी नहीं किये थे और कोई कहता भी नहीं। अरे भाई लड़ाई तो मतिमंद लोग करते हैं। परन्तु मुझे आश्चर्य है कि तुम अतीत अर्थात् संन्यासी होकर तरकस बाँधे हो, तुम्हारे हाथों में तीर-प्रत्यञ्चा दिखाई दे रही हैं। तुम अनाचार के लिए उद्यत हो, भला किसको मारोगे ? सब में तो प्रभु का निवास है। क्या तुझे उनसे भय नहीं है ? तुम विरक्त हो। तुम्हारे मन में कितना लोभ जमा हुआ है। तुम सोना पहनकर अर्थात् सोने का आभूषण धारण कर इस संत वेष को क्यों लजा रहे हो ? क्या तुम्हारे लिए यह शोभा देता है ? भला तुम इन घोड़ा-घोड़ियों, ऊँट और हस्तियों को जमात में लेकर करोड़पतियों की भाँति गाँव-गाँव घूमते रहते हो, अपने सैन्यदल के बल पर साधारण जनता को भयभीत कर चूस रहे हो। भेष तो तुम सनकादिक विरक्तों का बनाये हो, पर तुम्हारे साथ देखता हूँ कि सुन्दरी शोभा दे रही है। तुम अपने दोषों को छिपाने के लिए शिष्या कहते हो, यह गलत कहते हो। वह तुम्हारे साथ में है, कभी न कभी दाग तुझे लगायेगी क्योंकि वह अग्नि पिण्ड के समान है, तुम तृण के समान हो। दोनों एक साथ नहीं रह सकते। जैसे कालिख वाली हण्डी हाथ में लेने पर कभी न कभी तुम्हारे वस्त्रों में अवश्य कालिख लगायेगी। जो बन्धन तुझे संसार में था, परिवार में था, उसी बन्धन में तुम आज भी बँधे पड़े हो। जिन पुत्र-पुत्रियों के चलते उनकी

आसक्ति में तुझे प्रभु भूल गये थे। वही बात आज तुममें मैं यहाँ भी देखता हूँ। शिष्य-शाखाओं में बँधकर अपने स्वरूप से वंचित हो रहे हो। भला, तुझे मैं बार-बार कहता हूँ कि हे जीव! अपने दुःख को तुम संभालो, जो सारे संसार को आच्छादित किये हुए है उससे वचने का उपाय तो करो। जिस माया-मोह में समस्त लोग बँधे हुए हैं उसमें थोड़ा सा लाभ ऊपरी भाग में दिखाई दे रहा है, परन्तु उसके चलते मूल का पूर्णरूपेण अभाव देखता हूँ।

जिस मोर-तोर में सभी लोग उलझे हुए हैं, जिसके कारण माता के गर्भाशय में दस मास तक अचेतावस्था में कष्ट भोगते हैं उसी कार्य में तुम भी लगे हो। तुम तो साधु-संन्यासी हो, तुझे उससे न्यारा होना चाहिए। तुम बहुत खिलवाड़ बन्द करो, तथा अनेक प्रकार का स्वाँग बना रहे हो उसको भी बन्द करो। ये सब दुःख के हेतु हैं। ये उसी प्रकार से हैं जैसे भ्रमर घ्राणेन्द्रिय के वश में होकर कमल की पंखुड़ियों में बन्द हो जाता है और अपनी इहलीला को समाप्त कर देता है। उसी प्रकार से जो संसार में तुम्हारी आसक्ति है उसको मैं देखता हूँ तो तुम्हारे बार-बार जन्म-मरण का कारण लग रहा है। जिसमें सुख का लेश सपने में भी नहीं है। इस संसार में लगे रहने पर तुझे दुःख, संताप, विताप, कष्ट ही तो प्राप्त होंगे। अति आसक्ति होने पर तुझे बचाने वाला भी कोई नहीं मिलेगा, क्योंकि मन में अधिक सांसारिक वासनाओं के भर जाने पर गुरु का ज्ञान भी काम नहीं करता है। जिस मोर-तोर में सारा संसार जल रहा है, भला तुम साधु-संन्यासी होकर उसी में जल रहे हो, तुम्हें धिक्कार है जो तुम इस झूठे स्वार्थ के कारण स्वीकारात्मक दृष्टिकोण अपनाये हो। भला जिस झूठी आशा में जग लगा है उसी में तुम भी लगे हो, जिस अग्नि अर्थात् दैहिक, दैविक, भौतिक तापों के भय से घर से भागा था। आज साधु-संन्यासी होने पर तुझे यह भी जला रही है। जिस चीज को सभी लोगों ने हित समझा था। अर्थात् जिन सांसारिक वस्तुओं को लोग अपना हित साधन समझे थे उसी में तुम्हारे जैसे बहुत से सयाने डूब रहे हैं जिससे छुटकारा पाना दुर्लभ है। जब तक तुम अपने आप को चेत न करोगे, सत्यासत्य का विवेक नहीं करोगे, क्या सही है, क्या झूठ है, यह नहीं समझ पाओगे, तब तक मेरे वचन तुझे कष्ट देते रहेंगे और तुम रुष्ट हो जाओगे, क्योंकि तुम्हारी वुद्धि संसाराभिमुख है। तुम्हें हिताहित का ज्ञान न होने पर, अविवेकावस्था में हित की बात में दुःख होता है। मैं पुकार कर कहता हूँ कि यदि तुम अपने

आप नहीं जागते हो तो न तुम्हें सुख होगा, न तुझे शांति मिलेगी और क्या सत्य है, क्या असत्य है; यह नहीं जान पाओगे।

अरे भाई ! अब भी तो चेत करो। देखते नहीं हो सारा संसार चला जा रहा है। संसार की कोई वस्तु स्थिर नहीं है। जो जन्म ले रहे हैं वे मर रहे हैं। क्या यह देखकर तुझे-सांसारिक सुखों से वैराग्य नहीं हो रहा है। बड़े-बड़े प्रतापी, शूर-वीर, योद्धा एवं चक्रवर्ती चले गये। भला तुम किस आधार पर रहने की आशा कर रहे हो। इस संसार में आकर तुमने कभी भी अच्छी संगति नहीं की। तुम्हारा मानव जन्म बेकार में ही चला गया। तुम ऐसे पवित्र मनुष्य तन को पुनः नहीं प्राप्त कर सकोगे। तुमने संतों की संगति नहीं की। अब तुम्हारा मानवेतर दुःखरूपी योनियों में निवास होगा। इसलिए कि तूने निश-दिन लबारों के साथ निवास किया है। भला तू पशुयोनि में जाओगे तुम्हारा दुःख-सुख कौन समझेगा। कण्ठ शक्ति से विहीन होने के कारण अपनी वेदना किसी से कह भी नहीं सकोगे। मैं तो इसी प्रकार से सभी लोगों को जाते देख रहा हूँ। यदि तुझे चेतना हो तो चेत लो। अन्यथा दिन में ही तुम्हारे घर में डकैती पड़ जायेगी अर्थात् मानव शरीर में होने पर भी तुझे काल भगवान् उठा ले जायेंगे। तुम्हीं को नहीं, तुम्हारे पूर्ववर्ती बड़े-बड़े चले गये। हिरण्यकशिपु, रावण, कंस, भगवान् कृष्ण, सुर-नर-मुनि ये सब आज दिखाई नहीं दे रहे हैं। भला ये सब कहाँ चले गये। संसार तो अस्थिर है। इसमें कोई कैसे रह पावेगा। यहाँ तक कि लोकपितामह ब्रह्मा जी भी चले गये जिन्होंने इस संसार को बनाया था। वे भी स्थूल शरीर से नहीं रह पाये। उनके जाने का मार्ग भी कोई नहीं जान पाया। जितने बड़े-बड़े बुद्धिमान् थे सब चले गये। प्रभु की कहानी, उनकी लीला कोई समझ नहीं सका। क्योंकि वह सर्वज्ञ, अविगति है। उसका रहस्य कोई जान नहीं पाता। क्या वह करेगा, क्या वह करना चाहता है ? जितना दूर चलना था उतना दूर नहीं चल पाया। अर्थात् जिस तत्त्व की प्राप्ति करनी चाहिए थी, वह तत्त्व अछूता ही रह गया। मानव-शरीर नरकगामी हो गया। अन्त में चल बसा। चले जाने पर दसों दिशाएँ शून्य हो गयीं। जिस ग्राम में रहता था वह भी नष्ट हो गया। चारों तरफ शून्य ही शून्य दिखाई देने लगा। इसका कारण यह है कि यह संसार जाल स्वरूप है और जीव मीन के सदृश हैं जिसमें फँसकर जीवन का अन्त कर लेते हैं। दूसरी बात यह है कि संसार रूपी समुद्र को पार करने के लिए सत्कर्म रूपी काष्ठ की नाव

की आवश्यकता होती है, परन्तु तुमने दुष्ट कर्मरूपी लोहे की नौका बनवायी और उसमें फलरूपी पाषाण के कण भर रखा। उसपर भी तुम दम्भ हाँकने लगा कि सभी लोग खेते हैं परन्तु मरम मेरे सिवा कोई नहीं जानता है। मैं खेने के लिए प्रस्तुत हूँ, पर पार करने वाली उतरावनी कोई देने को नहीं तैयार है। इस प्रकार के डींग हाँकने वाले वंचक लोग डूब मरे। उनकी दशा उसी प्रकार हो गयी जिस प्रकार से वंशी में केचुवे को नाथ कर मछुये लोग जल में फेंककर मछलियों को फँसाते हैं और अन्त में मछली का प्राण चला जाता है।

दूसरा दृष्टान्त सर्प और दीर्घटुण्डी (छछूँदर) का है। सर्प छछूँदर को पकड़ लेता है, परन्तु पकड़ने के बाद सर्प की दशा घातक हो जाती है। यदि सर्प छछूँदर को खा जाता है तो वह मर जायगा। यदि उसे उगल देता है तो अन्धा हो जाता है। छछूँदर को ग्रहण करने पर जिस प्रकार सर्प की किसी प्रकार भलाई नहीं होती है, उसी प्रकार से सांसारिक विषयों को ग्रहण कर लेने पर मनुष्य का उपकार होना असंभव हो जाता है। यदि अन्त में, वृद्धावस्था में छोड़ देता है तो उसमें योग, भजन, भक्ति भी नहीं हो सकती है। उनके शरीर को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है और नहीं छोड़ता है तो काल वैसे ही खा लेगा। इसीलिए मनुष्य को प्रथमावस्था में ही सब कुछ त्यागकर श्री हरि के परायण होकर सहजयोग के द्वारा आत्मतत्त्व को प्राप्त करना चाहिए। अन्यथा कुशल होना कठिन है। चाहे तुम अपने को कितना ही कुशल समझते हो, तुम्हारा अंत अवश्यम्भावी है। जिस प्रकार से कपट करनेवाले जरासंध, शिशुपाल, सहस्रार्जुन, रावण, दुर्योधन, शकुनि आदि मारे गये उसी प्रकार से छल कपट करने पर तुम्हारा भी अंत हो जायेगा। इसलिए छल-छद्म से विमुक्त होकर श्री हरि के परायण हो जाओ। मन को चतुर्दिक विषयों से हटाकर आनन्दरूप हो जाओ, सहजयोग में लग जाओ। इसी से तुम्हारा और जगत् का कल्याण हो सकता है। कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

स्वर विषयक ज्ञान : स्वर ज्ञान भी योगशास्त्र के अन्तर्गत आता है जिसका विवेचन अनेक स्वरोदय के ग्रन्थों में हुआ है। सर्वप्रथम स्वरज्ञान विषयक कथन 'शिव स्वरोदय' नामक ग्रन्थ में हुआ है। कुछ विद्वानों का मत है कि स्वरज्ञान के ज्ञाता इससे पहले भी विद्यमान थे, परन्तु प्रसिद्धि 'शिवस्वरोदय' से ही दिखती है। तदुपरान्त अनेकानेक सन्त महात्माओं ने

प्रकथन किया है। जैसे सन्त चरणदास जी महाराज एवं कबीर साहब के नाम पर भी स्वर विषयक ग्रन्थ मिलते हैं। 'कबीर स्वरोदय', 'श्री चरणदास जी स्वरोदय' आदि स्वर ज्ञान की साधना सरल एवं सीधी है। छः मास में ही स्वर विषयक अनेक बातों की जानकारी हो जाती है। सर्वप्रथम स्वरज्ञान के लिए नाड़ियों की जानकारी करना अत्यावश्यक है। नाभिदेश के ऊपरी भाग में अंकुर के समान निकलने वाली बहत्तर सहस्र नाड़ियाँ देह के मध्य भाग में स्थित हैं। नाड़ीस्थ कुण्डलिनी शक्ति भुजंगाकार में अवस्थित है, जिसके ऊर्ध्वगामी दस और अधःगामी भी दस हैं। जिनमें दो-दो नाड़ियाँ तिरछी गयी हैं जिनकी संख्या चौबीस है। उनमें दस प्रधान नाड़ियाँ हैं एवं दस पवन का उद्वाहन करने वाली हैं। तिर्यक ऊर्ध्व प्रभृति सभी नाड़ियाँ शरीर में चक्र के समकक्ष स्थित और प्राणसमाश्रित हैं। उपर्युक्त नाड़ियों में दस नाड़ियाँ अधिक श्रेष्ठ हैं। उनमें भी तीन नाड़ियाँ विशेष उत्तम हैं। वे हैं इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना। इनके अतिरिक्त गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, पयस्विनी, अलम्बुषा, कुहू तथा दसवीं शंखिनी है। इड़ा बायें भाग में, पिंगला दायें में, सुषुम्ना मध्य देश में और गान्धारी बायें नेत्र में निवास करती है। दायें नेत्र में हस्तिजिह्वा, दायें कर्ण में पूषा, बायें कर्ण में पयस्विनो और अलम्बुषा मुख में रहती है। कुहू लिंग स्थान में और शंखिनो मूल देश में होतो है। इस प्रकार से शरीर के दश स्थानों में दसों नाड़ियाँ निवास करतो हैं। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना तीनों हो प्राणमार्ग के आश्रित हैं। उपर्युक्त दसों नाड़ियाँ शरीर के मध्य भाग में अवस्थित हैं। उक्त नाड़ियों के आश्रित निम्नोक्त प्राण भी रहते हैं, प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान। इनके अतिरिक्त पंच उपवायु भी है, जिनके नाम हैं—नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय। वायुओं का निवास स्थान भी बता देना अधिक उपयोगी होगा। प्राणवायु हृदय में और अपानवायु गुदा में रहता है। इसी प्रकार से नाभि देश में समान वायु, कंठ देश में उदान वायु और सम्पूर्ण देह में व्यान वायु निवास करता है। यही दसों वायु प्रधान माने जाते हैं।

उद्गार में नाग, नेत्रोन्मीलन में कूर्म, छींकने में कृकल, जम्हाई लेने में देवदत्त नामक वायु कहा गया है और पूरे शरीर में धनंजय वायु परिव्याप्त है जो मृतक देह को भी नहीं त्यागता है। इस प्रकार यह जीवरूप दसों वायु सभी नाड़ियों में भ्रमण करते हैं। शरीर में जो प्राण का संचार होता है वह इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के कारण होता है ऐसा विद्वान् लोग

मानते हैं। बाम भाग में इड़ा एवं दक्षिण भाग में पिंगला नाड़ी का निवास है। शरीर के दोनों अङ्गों में एक दूसरे के विपरीत दोनों रहती हैं। इड़ा में चन्द्रमा और पिंगला में सूर्य विद्यमान है। सुषुम्ना शम्भुरूप में तथा हंसरूप में स्थित है।

श्वास के निकलने में 'हकार' और प्रविष्ट होने में 'लकार' होता है। 'हकार' शिवरूप है। इसी प्रकार से 'लकार' शक्तिरूप कहा गया है। यहाँ पर शिव से तात्पर्य परमसत्ता चैतन्य से है और शक्ति का तात्पर्य तदाश्रित चैतन्य शक्ति से है। उभय का ज्ञान स्वर साधक जानते हैं। स्वासा को वड़ी बारीकी से देखना पड़ता है जिसके द्वारा शुभाशुभ फल स्वरवेत्ता कहते हैं। स्वर का ज्ञान ठीक-ठीक से होने पर संसार की बहुत सी घटनाओं का जाननेवाला स्वर ज्ञानी होता है इस वात को स्वर शास्त्रों में कहा गया है। यहाँ पर मैंने दिग्दर्शन मात्र कराया है। स्वर साधकों को चाहिए कि स्वरविद् गुरुओं से मिलें एवं विशेष प्रक्रिया वाले ग्रन्थों को देखें।

●

कुण्डलिनी जागरण योग

(संकलन अनेक स्रोतों से)

कुण्डलिनी जागरण योग

स्थिरसुखमासनम्

जिस रीति से स्थिरता पूर्वक विना हिले-डुले और सुख के साथ बिना किसी प्रकार के कष्ट के दीर्घकाल तक बैठ सकें, वह स्थिर सुख आसन कहलाता है। हठयोग में नाना प्रकार के आसन हैं। जो शरीर को स्वस्थ, हल्का और योग साधन के योग्य बनाने में सहायक होते हैं। यहाँ उन आसनों से अभिप्राय है, जिनमें सुख पूर्वक निश्चलता के साथ अधिक से अधिक समय तक ध्यान लगा कर वैठा जा सके। उनमें से ज्यादा उपयोगी निम्न हैं—

स्वस्तिकासन, सिद्धासन, समासन, पद्मासन, वद्धपद्मासन, वीरासन, गोमुखासन, वज्रासन।

१. स्वस्तिकासन की विधि—दायें पाँव के अँगूठे और अन्य चार अँगुलियों को कैंची के सदृश फैलाकर उसके अन्दर बायें पाँव और जङ्घा के जोड़ने वाले नीचे भाग को दबायें और दायें पाँव की तली बायीं जङ्घा के साथ लगाएँ। इसी प्रकार बायें पैर को दायें पैर के नीचे ले जाकर अँगूठे और अङ्गुलियों की कैंची में दायाँ पाँव और जङ्घा के जोड़ वाले नीचे वाले भाग को दबायें और बायें पाँव की तली दायीं जाँघ के साथ लगायें। दायें पाँव के स्थान पर बायें पाँव का तथा बायें के स्थान पर दायें पाँव का भी उपयोग किया जा सकता है।

२. सिद्धासन—बायें पैर की एड़ी को सीवनी अर्थात् गुदा और उपस्थेन्द्रिय के बीच में इस प्रकार दृढ़ता से लगावें कि उसका तला दायें पैर की जङ्घा को स्पर्श करें। इसी प्रकार दाहिने पैर की एड़ी को उपस्थेन्द्रिय की जड़ के ऊपर भाग में इस प्रकार दृढ़ लगावें कि उसका तला बायें पैर की जङ्घा को स्पर्श करे। इसके पश्चात् बायें पैर के अँगूठे और तर्जनी को दायीं जाँघ और पिड़नी के बीच में ले लें। इसी प्रकार दायें पैर के अँगूठे और तर्जनी को बायीं जङ्घा और पिण्डली के बीच में ले लं। सारे शरीर का भार एड़ी और सीवनी के बीच की ही नश पर तुला रहना चाहिए।

इससे नाड़ीसमूह में आग सी जलन होने लगती है। इसलिए नितम्बों के नीचे आध इञ्च मोटी गद्दी अथवा कपड़ा लगा देना चाहिए। यह आसन वीर्य रक्षा के लिए अति उपयोगी है। इस आसन के सम्बन्ध में कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि इससे गृहस्थियों को हानि पहुँचती है, यह भ्रम-मूलक है।

३. समासन—सिद्धासन से केवल इतना भेद है कि इसमें पहले उपस्थेन्द्रिय की जड़ के ऊपर के भाग में बायें पैर की एड़ी को, फिर उसके ऊपर दायें पैर की एड़ी को सिद्धासन की विधि से रखते हैं। इससे कमर सीधी तनी रहती है।

४. पद्मासन—चौकड़ी लगाने में दाहिने पैर को बायें पैर के दाहिने रान के मूल में जमा कर रखने से पद्मासन बनता है। इस आसन से शरीर नीरोग रहता है और प्राणायाम की क्रियाओं में सहायता मिलती है।

५. बद्ध-पद्मासन—यह पद्मासन सिद्ध होने के पश्चात् किया जा सकता है। इसमें दोनों जंघाओं को दोनों पैरों से दबाकर रखना होता है और पैरों के अँगूठे भूमितल से लगे रहते हैं।

६. वीरासन—दाहिना पैर बायीं जङ्घा पर और बायाँ पैर दाहिनी जङ्घा पर रख कर दोनों हाथों को घुटने पर रखें।

७. गोमुखासन—दाहिने पृष्ठपार्श्व (चूतड़) के नीचे बायें पैर के (गाँठ) को और बायें पृष्ठपार्श्व के नीचे दाहिने पैर के गुल्फ को रखकर दाहिने हाथ को सिर की ओर से और बायें हाथ को नीचे की ओर से पीठ पर ले जाकर दाहिनी तर्जनी (अंगूठे की बगल वाली अँगुली) से बायीं तर्जनी को दृढ़ता पूर्वक पकड़ लें।

८. वज्रासन—दोनों जंघाओं को वज्र के समान करके दोनों पावों के तलवों को गुदा के दोनों ओर पार्श्वभाग में लगाकर घुटने के बल पर बैठ जायँ जिससे कि घुटने से निचले भाग से पाँव की अङ्गुलियों का भाग भूमि को स्पर्श कर सके।

आसन के समय गर्दन, सिर और कमर को सीधी एक रेखा में रखना चाहिए और मूलबन्ध के साथ अर्थात् गुदा और उपस्थ को अंदर की ओर खींचकर बैठना चाहिए।

खेचरी मुद्रा के साथ अर्थात् जिह्वा को ऊपर की ओर ले जाकर-तालु से लगाकर बैठने से ध्यान अच्छा लगता है और आसन में दृढ़ता

आती है। एक ही आसन से शनैः शनैः अधिक समय तक बैठने का अभ्यास बढ़ाते रहना चाहिए। पैर आदि किसी अंग में एक आसन में बैठे रहने से यदि दर्द मालूम हो तो उस अंग पर नरम कपड़ा रखकर बैठना चाहिए। यदि अधिक पीड़ा हो तो रतनजोत के तेल की मालिश कर सकते हैं। एक आसन से जब ३ घंटा ३६ मिनट तक बिना हिले-डुलें बैठा जा सके, तब उस आसन की सिद्धि समझना चाहिए। आरम्भ में बीच में दो-एक बार आसन को बदल सकते हैं। आसन को दृढ़ करने का सरल उपाय यह है कि जब बैठने का अवसर मिले तो उसी एक आसन से बैठने का यत्न करे। जो अभ्यासी स्थूल अथवा विकारी शरीर होने के कारण उपर्युक्त आसनों से न बैठ सके, वे अर्द्धपद्म, अर्द्धसिद्धि अथवा किसी सुख आसन से तथा दीवार का सहारा ले सकते हैं पर मेरु-दण्ड को सीधा तथा कमर, गर्दन, सिर को सम रेखा में रखना अति आवश्यक है। प्रथम तीन-अर्थात् स्वस्तिक सिद्ध और सम आसनों में हाथों को उलटा करके घुटनों पर रखकर तर्जनी अथवा अँगूठे के पास की अंगुली तथा अँगूठे को एक दूसरे ओर फेरकर दांनों के सिरे आपस में मिलाने और शेष अंगुलियों को सीधा फैलाकर रखने को ज्ञानमुद्रा कहते हैं अन्य तीन अर्थात् बद्धपद्म तथा वीरासन में दोनों हाथों को उठाकर सीने से लगाए रखना हितकर है। सब आसनों में बायाँ हाथ एड़ियों के ऊपर सीधा रखकर उसी प्रकार दायाँ हाथ उसके ऊपर रखकर अथवा जिसमें सुगमता प्रतीत हो उस विधि से हाथों को रखकर बैठ सकते हैं। मुख को पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर करके बैठना चाहिए।

अभ्यास पर बैठने से तीन घंटे पूर्व कुछ न खाय। बैठने के लिए एक चौकी होनी चाहिए, जो अधिक न ऊँची हो न अधिक नीची हो। चौकी के ऊपर कुशासन, उसके ऊपर ऊन का आसन, उसके ऊपर रेशम या (उसके अभाव में) सूत का वस्त्र होना चाहिए। अहिंसा में निष्ठा रखने वाले अभ्यासियों को किसी प्रकार के चर्म का आसन के रूप में प्रयोग न करना चाहिए। देश, काल और परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए किसी किसी स्मृति में मृगचर्म की व्यवस्था दी गयी है, किन्तु वर्तमान समय में उत्तम से उत्तम ऊनी आसन सुगमता से प्राप्त हो सकते हैं और निरपराधी पशुओं की हिंसा अधिकतर चर्मप्राप्ति के लिए ही की जाती है।

अभ्यास ऐसी कोठरी या कमरे में करना चाहिए जो शुद्ध, शान्त, एकान्त और निर्विघ्न हो। हर प्रकार के शोरगुल, मच्छर, पिस्सू और

शीत आदि से रहित हो। अभ्यास से पहले अथवा पीछे हवन अथवा घी के साथ धूप-दीप आदि सुगन्धित वस्तुओं को जलाकर उसको सुगन्धित रखना चाहिए। नदी तट अथवा पाँच हजार फीट से अधिक ऊँचाई वाले पहाड़ी वाले स्थानों का वायुमंडल शुद्ध और भजन के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होता है, गरम मैदान वाले स्थानों में शरद् और वसन्त ऋतु में भजन अच्छा हो सकता है। पहाड़ों में अथवा जमीन में खुदी हुई गुफा समाधि लगाने के लिए अति उत्तम है किन्तु उसमें शीत किंचित् मात्र भी न होने पावे और शुद्ध हो। योगाभ्यास में खान-पान संयम रखना अति आवश्यक है और शरीर तथा नाड़ी शोधन से शीघ्र सफलता प्राप्त होती है जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन विशेष विचार में कर दिया गया है। यहाँ शरीर के शुद्ध सात्विक शुद्ध स्वस्थ नीरोग आसन को दृढ़ और ध्यान को स्थिर करने तथा कुण्डलिनी को जागृत करने वाले कुछ उपयोगी बन्ध मुद्राएँ और आसन बतलाये देते हैं—

१. मूल-बन्ध—मूल गुदा एवं लिंग स्थान के रन्ध्र को बन्द करने का नाम मूल-बन्ध है। वाम पाद की एड़ी को गुदा और लिंग के मध्य भाग में दृढ़ लगाकर गुदा को सिकोड़ कर योनि स्थान अर्थात् गुदा और लिंग एवं कन्द के बीच के भाग को दृढ़तापूर्वक संकोचन द्वारा अधोगत अपान-वायु को बल के साथ धीरे-धीरे ऊपर की ओर खींचने को मूलबन्ध कहते हैं। सिद्धासन के साथ यह बन्ध अच्छा लगता है। अन्य आसनों के साथ एड़ी को सीवनी पर बिना लगाए हुए भी बन्ध लगाया जा सकता है।

फल—इससे अपानवायु का उर्ध्व गमन होकर प्राण के साथ एकता होती है। **कुण्डलिनी शक्ति सीधी** होकर ऊपर की ओर चढ़ती है। कोष्ठ-बद्ध दूर करने, जठराग्नि को प्रदीप्त करने और वीर्य का उर्ध्व-रेता बनाने में यह बन्ध अति उत्तम है। साधकों को न केवल भजन के अवसर पर किन्तु हर समय-मूल बन्ध को लगाए रखने का अभ्यास करना चाहिए।

२. उड्डीयान बन्ध—दोनों जानुओं को मोड़ कर पैरों के तालुओं को परस्पर भिड़ाकर पेट के नाभि से नीचे और ऊपर के आठ अंगुल हिस्से को बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) से ऐसा लगा दें, जिससे कि पेट के स्थान पर गड्ढा सा दीखने लगे। जितना पेट को अंदर की ओर अधिक खींचा जायगा उतना ही अच्छा होगा। इसमें प्राण पक्षी के

सदृश सुषुम्णा की ओर उड़ने लगता है, इसलिए इस बन्ध का नाम उड्डीयान रखा गया है। यह बन्ध पैरों के तालुओं को विना भिड़ाये हुए भी किया जा सकता है।

फल—प्राण और वीर्य का ऊपर की ओर दौड़ना, मन्दाग्नि का नाश, क्षुधा की वृद्धि, जठराग्नि का प्रदीप्त और फेफड़े का शक्तिशाली होना।

३. जालन्धर-बन्ध—कण्ठ को सिकोड़कर ठोड़ी को दृढ़तापूर्वक कंठकूप में इस प्रकार स्थापित करें कि हृदय से ठोड़ी का अन्तर केवल चार अंगुल का रहे, सीना आगे की ओर तना रहे। यह बन्ध कण्ठस्थान के नाड़ी जाल के समूह को बाँध रखता है इसलिए इसका नाम जालन्धर बन्ध है।

फल—कण्ठ का सुरीला, मधुर और आकर्षक होना, कण्ठ के सङ्कोच द्वारा इड़ा, पिङ्गला नाड़ियों के बंद होने पर प्राण का सुषुम्णा में प्रवेश करना।

लगभग सभी आसन, मुद्राएँ और प्राणायाम मूलबन्ध और उड्डीयान-बन्ध के साथ किये जाते हैं। राजयोग में, ध्यानावस्था में जालन्धर-बन्ध लगाने की बहुत कम आवश्यकता होती है।

४. महाबन्ध—पहली विधि—बायें पैर की एड़ी को गुदा और लिङ्ग के मध्य भाग में जमाकर वायीं जङ्घा के ऊपर दाहिने पैर को रख, समसूत्र में हो, वाम अथवा जिस नासारन्ध्र से वायु चल रहा हो उससे ही पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगावे। फिर मूलद्वार से वायु को ऊपर की ओर आकर्षण करके मूलबन्ध लगावे। मन को मध्य नाड़ी में लगाये हुए यथा-शक्ति कुम्भक करें। तत्पश्चात् पूरक के विपरीत वाली नासिका से धीरे-धीरे रेचन करें। इस प्रकार दोनों से अनुलोम-विलोम-रीति से समान प्राणायाम करें।

दूसरी विधि—पद्म अथवा सिद्धासन से बैठे, योनि और गुह्यप्रदेश सिकोड़, अपानवायु को ऊर्ध्वगामी कर, नाभिस्थ समान वायु के साथ मिलाकर और हृदयस्थ प्राणवायु को अधोमुख करके प्राण और अपान-वायुओं के साथ नाभिस्थल पर दृढ़ रूप से कुम्भक करें।

फल—प्राण का ऊर्ध्वगामी होना, वीर्य की शुद्धि, इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्णा का सङ्गम प्राप्त होना, बल की वृद्धि इत्यादि।

५. महावेध-पहली विधि—महाबन्ध की प्रथम विधि के अनुसार मूलबन्ध के पूर्व कुम्भक करके, दोनों हाथों की हथेली भूमि में दृढ़ स्थिर

करके, हाथों के बल ऊपर उठकर दोनों नितम्बों (चूतड़) को शनैः शनैः ताड़ना देवे और ऐसा ध्यान करे कि प्राण इड़ा, पिङ्गला को छोड़कर कुण्डलिनी शक्ति को जगाता हुआ सुषुम्णा में प्रवेश कर रहा है। तत्पश्चात् वायु को शनैः शनैः महाबन्ध की विधि के अनुसार रेचन करें।

दूसरी विधि—मूलबन्ध के साथ पद्मासन से बैठे, अपान और प्राणवायु को नाभि स्थान पर एक (मिला) करके दोनों हाथों को तानकर नितम्बों (चूतड़ों) से मिलते हुए भूमि पर जमाकर नितम्बों (चूतड़ों) को आसन-सहित उठा-उठाकर भूमि पर ताड़ित करते रहें।

फल—कुण्डलिनी शक्ति का जाग्रत् होना, प्राण का सुषुम्णा में प्रवेश करना। महाबन्ध, महावेध और महामुद्रा—तीनों को मिलाकर करना अधिक फलदायक है।

मुद्रा

१. खेचरी मुद्रा—जीभ को ऊपर की ओर उल्टी ले जाकर तालु कुहर (जीभ के ऊपर तालु के बीच का गड्ढ़ा) में लगाए रखने का नाम खेचरी मुद्रा है।

इसके निमित्त जिह्वा को बढ़ाने के तीन साधन किए जाते हैं—छेदन, चालन और दोहन।

पहिला साधन– छेदन-जीभ के नीचे के भाग में सूताकार वाली एक नाड़ी नीचे वाली दाँतों की जड़ के साथ जीभ को खींचे रखती है। इसलिए जीभ को ऊपर चढ़ाना कठिन होता है। प्रथम इस नाड़ी के दाँतों के निकट वाले एक ही स्थान पर स्फटिक (बिल्लौर) का धार वाला टुकड़ा प्रति दिन प्रातः काल चार-पाँच बार फेरते रहें। कुछ दिनों तक ऐसा करने के पश्चात् वह नाड़ी उस स्थान में पूर्ण कट जायगी। इसी प्रकार क्रमशः उससे ऊपर-ऊपर एक-एक स्थान को जिह्वा मूल तक काटते चले जायँ। स्फटिक फेरने के पश्चात् माजूफल का कपड़छान चूर्ण (टेरिन एसिड) जीभ के ऊपर नीचे तथा दाँतों पर मलें और उन सब स्थानों से दूषित पानी निकलने दें। माजूफल चूर्ण के अभाव में अकरकरा, नून, हरितकी और कत्थे का चूर्ण छेदन किए हुए स्थान पर लगावें। यह छेदन विधि सबसे सुगम है और इससे किसी प्रकार की हानि पहुँचने की सम्भावना नहीं है। यद्यपि इसमें समय अधिक लगेगा। साधारणतया छेदन का कार्य किसी धातु, तीक्ष्ण यंत्र से प्रति आठवें दिन उस सिरा को

बाल के बराबर छेदकर घाव पर कत्था और हरड़ का चूर्ण लगा कर करते हैं। इसके छेदन के लिए नाखून काटने वाला जैसा एक तीक्ष्ण यंत्र और खाल छीलने के लिए एक दूसरे यंत्र की आवश्यकता होती है जिससे कटा हुआ भाग फिर न जुड़ने पावे। इसमें नाड़ी के सम्पूर्ण अंश के एक साथ कट जाने से वाक् तथा आस्वादन शक्ति के नष्ट हो जाने का भय रहता है।

इसलिए इसे किसी अभिज्ञ पुरुष की सहायता से न करना चाहिए। छेदन की आवश्यकता केवल उनको होती है, जिनकी जीभ और (यह) नाड़ी मोटी होती है। जिनकी जीभ लम्बी और यह नाड़ी पतली होती है, उन्हें छेदन की अधिक आवश्यकता नहीं है।

दूसरा और तीसरा साधन—चालन व दोहन—अँगूठे और तर्जनी अँगुली से अथवा बारीक वस्त्र से जीभ को पकड़ कर चारों तरफ उलट फेर कर हिलाने और खींचने को चालन कहते हैं। **मक्खन अथवा घी** लगा कर दोनों हाथों की अंगुलियों से जीभ को गाय के थन दोहन जैसे पुनः पुनः धीरे-धीरे आकर्षण करने की क्रिया का नाम दोहन है।

निरन्तर अभ्यास करते रहने से अंतिम अवस्था में जीभ इतनी लम्बी हो जाती है कि नासिका के ऊपर भ्रू-मध्य तक पहुँच जाय। इस मुद्रा का बड़ा महत्त्व बतलाया गया है, इससे ध्यान की अवस्था परिपक्व करने में बड़ी सहायता मिलती है। जिह्वा के भी नाना प्रकार के भेद देखने में आए हैं। किसी की जिह्वा में सूताकार नाड़ी के स्थान में मोटा मांस होता है, जिसके काटने में अधिक कठिनाई होती है। किसी-किसी जिह्वा में न नाड़ी होती है न मांस। उसमें छेदन की आवश्यकता नहीं है। केवल चालन एवं दोहन होना चाहिए।

२. महामुद्रा—प्रथम विधि मूलबन्ध लगाकर बायें पैर की एड़ी से सीवन (गुदा और अण्डकोश के मध्य का चार अंगुल स्थान) को दबाएँ और दाहिने पैर को फैलाकर उसकी अंगुलियों को दोनों हाथों से पकड़ें। पाँच घर्षण करके बायीं नासिका से पूरक करे और जालन्धरबंध लगाये। फिर जालन्धरबंध खोलकर दाहिनी नासिका से रेचक करें। यह वामांग की मुद्रा समाप्त हुई। इसी प्रकार दक्षिणांग में इस मुद्रा को करना चाहिए।

दूसरी विधि—बायें पैर की एड़ी को सीवन (गुदा और उपस्थ के मध्य के चार अंगुल भाग) में बल पूर्वक जमाकर दायें पैर को लम्बा

फैलावें। फिर शनैः शनैः पूरक के साथ मूल तथा जालन्धरबंध लगाते हुए दायें पैर का अंगुठा पकड़ कर मस्तक को दायें पैर के घुटने पर जमा कर यथा शक्ति कुम्भक करें। कुम्भक के समय पूरक की हुई वायु को कोष्ठ में शनैः शनैः फुलावें और ऐसी भावना करें की प्राण कुण्डलिनी को जाग्रत करके सुषुम्णा में प्रवेश कर रहा है, तत्पश्चात् मस्तक को घुटने से शनैः शनैः रेचक करते हुए उठकर यथा स्थिति में बैठ जायँ इसी प्रकार दूसरे अंग से करना चाहिए। **प्राणायाम** की संख्या एवं समय बढ़ाता रहे।

फल—मंदाग्नि, अजीर्ण आदि उदर के रोगों तथा प्रमेह का नाश, क्षुधा की वृद्धि और कुण्डलिनी का जाग्रत होना।

३. अश्विनी मुद्रा—सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठ कर योनि-मंडल को अश्व के सदृश पुनः पुनः सिकोड़ना **अश्विनी मुद्रा** कहलाती है।

फल—यह मुद्रा प्राण के उत्थान और कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत करने में सहायक होती है। अपानवायु को शुद्ध और वीर्यवाही स्नायुओं को मजबूत करती है।

४. शक्तिचालिनी मुद्रा—सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठ कर हाथों की हथेलियाँ पृथिवी पर जमा दें। बीस-पच्चीस बार शनैः शनैः दोनों नितम्बों को पृथ्वी से उठा-उठा कर ताड़न करे। कुम्भक के समय अश्विनी मुद्रा करे अर्थात् गुह्य प्रदेश का आकर्षण, विकर्षण करता रहे। तत्पश्चात् जालन्धरबन्ध खोल कर यदि दोनों नासिका पुट से पूरक किया हो तो दोनों से अथवा पूरक से विपरीत नासिका पुट से रेचक करे और निर्विकार होकर एकाग्रता पूर्वक बैठ जाय।

घेरण्डसंहिता में इस मुद्रा को करते समय बालिस्त भर चौड़ा, चार अंगुल लम्बा, कोमल, श्वेत, और सूक्ष्म वस्त्र नाभि पर कटिसूत्र से बाँध कर सारे शरीर पर भस्म मल कर करना बतलाया है।

फल—सर्व रोग नाशक और स्वास्थ्य वर्धक होने के अतिरिक्त कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने में अत्यंत सहायक है। इससे साधक अवश्य लाभ प्राप्त करें।

५. योनि मुद्रा—सिद्धासन से बैठ समसूत्र हो षण्मुखी मुद्रा लगाकर अर्थात् दोनों अंगूठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनियों से दोनों नेत्रों को, दोनों मध्यमाओं से नाक के छिद्रों को बंद करके और दोनों अनामिका

एवं कनिष्ठिकाओं को दोनों ओठों के पास रख कर काकी मुद्रा द्वारा अर्थात् जिह्वा को कौवे की चोंच के सदृश बना कर उसके द्वारा प्राण वायु को खींच कर अधोगति अपानवायु के साथ मिलावें। तत्पश्चात् ओम् का जाप करता हुआ ऐसी भावना करें कि उसकी ध्वनि के साथ परस्पर मिली हुई वायु कुण्डलिनी को जाग्रत करके षटचक्रों का भेदन करते हुए सहस्त्र दल कमल में जा रही है। इससे अन्तरज्योति का साक्षात्कार होता है।

६. योग मुद्रा—मूलबंध के साथ पद्मासन से बैठ कर प्रथम दोनों नासिका पुटों से पूरक करके जालन्धरबन्ध लगावे, तत्पश्चात् दोनों हाथों को पीठ के पीछे ले जा कर बायें हाथ की और दायें हाथ से बायें हाथ की कलाई को पकड़े, शरीर को आगे झुका कर पेट के अन्दर एड़ियों को दबाये हुए सिर को जमीन पर लगा दें। इस प्रकार यथा शक्ति कुम्भक करने के पश्चात् सिर को जमीन से उठा कर जालन्धरबंध खोल कर दोनों नासिकाओं से रेचन करें।

फल—पेट के रोगों को दूर करने और कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने में सहायक होती है।

७. शाम्भवी मुद्रा—मूल और उड्डीयानबंध के साथ-साथ सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठ कर नासिका के अग्रभाग अथवा भ्रूमध्य में दृष्टि स्थिर करके ध्यान जमाना साम्भवी मुद्रा कहलाती है।

८. तडागी मुद्रा—तडाग (तालाब) के सदृश कोष्ठ को वायु से भरने को तडागी मुद्रा कहते हैं। शवासन से चित्त लेट कर जिस नासिका का स्वर चल रहा हो उससे पूरक करके तालाब के समान पेट को फैला कर वायु से भर ले। तत्पश्चात् कुम्भक करते हुए वायु को पेट में इस प्रकार हिलावें जिस प्रकार तालाब का जल हिलता है। कुम्भक के पश्चात् सावधानी से वायु को शनैः शनैः रेचन कर दें इससे पेट के सर्व रोग समूल नाश होते हैं।

९. विपरीतकर्णी मुद्रा = शीर्षासन = कपालासन—पहिले जमीन पर मुलायम गोल लपेटा हुआ वस्त्र रख कर उस पर अपने मस्तक को रखे। फिर दोनों हाथों के तलों को मस्तक के पीछे लगा कर शरीर को उल्टा ऊपर उठा कर सीधा खड़ा कर दें। थोड़े ही प्रयत्न से मूल और उड्डीयान स्वयं लग जाता है। यह मुद्रा पद्मासन के साथ भी की जा सकती है।

इसको ऊर्ध्वपद्मासन कहते हैं। आरम्भ में इसको दीवार के सहारे करने में आसानी होगी।

फल—वीर्य की रक्षा, मस्तिष्क, नेत्र, हृदय तथा जठराग्नि का बलवान होना। प्राण की गति स्थिर और शान्त होना, कब्ज, जुकाम, सिर-दर्द आदि का दूर होना, रक्त शुद्ध होना और कफ के विकार का दूर होना।

१०. वज्रोली मुद्रा—मलत्याग के समय कई बार मूत्र को बलपूर्वक ऊपर की ओर आकर्षित करे। ऐसा करते समय इस बात को ध्यान से देदें कि मूत्र धारा कितने नीचे से आकर्षित हो कर लौटती है और पुनः उतरते समय कितना समय लगता है। निरन्तर अभ्यास से जब मूलधार दस-बारह अंगुल नीचे से आकर्षित हो कर खींची जा सके और उतारने में कुछ शक्ति लगाना पड़े तो समझना चाहिए कि वज्रोली क्रिया सिद्ध हो गयी है। तत्पश्चात् क्रमशः जल, दूध, तेल अथवा घी, शहद अथवा अन्त में पारा खींचने का अभ्यास करे।

दूसरी विधि—एक चौदह अंगुल रबर की मूत्र निष्कासन (कैथिटॅर् नलिका जो कि अंग्रेजी दवाखानों में मिल सकती है) पानी में उबाल कर लिङ्ग-छिन्द्र में प्रवेश करने का अभ्यास करें। यह अभ्यास एक अंगुल से प्रारम्भ करके क्रमशः एक-एक अंगुल बढ़ाता जाय। जब बारह अंगुल प्रविष्ट होने लगे तो चौदह अंगुल लम्बी और लिंग के छिद्र के अनुसार चौड़ी जस्ते की सलाई जो दो अंगुल मुड़ी हुई ऊपर को मुँह-वाली हो जिससे कि लिङ्गेन्द्रिय में प्रविष्ट कर सके उपयुक्त रबर कैथिटॅर् की रीति से लिङ्ग छिद्र में प्रवेश करने का अभ्यास करे। जब बारह अंगुल तक प्रविष्ट होने लगे, तब चौदह अंगुल लम्बो लिङ्गछिद्र के अनुसार चौड़ी अन्दर से पोली एक चाँदी की सलाई बनावें, जो दो अंगुल टेढ़ी और ऊर्ध्वमुखी हो। इस टेढ़े भाग को लिंग छिद्र में प्रविष्ट कर दो अंगुल बाहर रहने दें, फिर सुनार की धमनी के सदृश धमनी से उस पर सलाई में लगातार फूत्कार करे। इस प्रकार लिङ्ग मार्ग का अच्छी तरह शुद्ध हो जाने पर वायु को खींचने और छोड़ने का अभ्यास करे, इस अभ्यास के सिद्ध हो जाने पर लिंग छिद्र से उपर्युक्त रीति से जल, तेल, दूध, शहद और पारे के खींचने का क्रमशः अभ्यास करे।

फल—लिंगेन्द्रिय के छिद्र की शुद्धि और अपानवायु पर पूर्णतया अधिकार प्राप्त हो जाता है, पथरो को तोड़ कर निकालने में सहायता मिलती

है। इस मुद्रा का फल हठयोग में अलौकिक सिद्धियाँ बतलाई गयी हैं परन्तु जरा सी असावधानी होने पर इन्द्रिय छिद्र में विकार होने से भयंकर शारीरिक रोग उत्पन्न होने तथा स्त्री के रज खींचने की चेष्टा में ऊँचे से ऊँचे अभ्यासी के लिए भी आध्यात्मिक पतन होने की अधिक सम्भावना है। इस प्रकार के बहुत से उदाहरण दृष्टिगोचर हुए हैं। इन मुद्राओं आदि को किसी अनुभवी की सहायता से करना चाहिए अन्यथा लाभ के स्थान में हानि पहुँचने की अधिक सम्भावना है।

चित लेटकर करने के आसन

१. पादाङ्गुष्ठ-नासाग्र-स्पर्शासन—पृथ्वी पर समसूत्र में पीठ के बल सीधा लेट जाय। दृष्टि को नासाग्र में जमाकर दायें पैर के अँगूठे को पकड़ कर नासिका के अग्रभाग को स्पर्श करे, इसी प्रकार पुनः पुनः करे, मस्तक, बायाँ पैर और नितम्ब पृथ्वी पर जमे रहें। इसी प्रकार दायें पैर को फैलाकर बायें पैर के अँगूठे को नासिका के अग्रभाग से स्पर्श करे। फिर दोनों पैरों के अँगूठों को दोनों हाथों से पकड़कर नासिका के अग्रभाग को स्पर्श करे। कई दिन के अभ्यास के पश्चात् अँगूठा नासिका के अग्रभाग को स्पर्श करने लगेगा।

फल—कमर का दर्द, घुटने की पीड़ा, कंद-स्थान की शुद्धि एवं उदर सम्बन्धी सर्वरोगों का नाश करता है। यह आसन स्त्रियों के लिए भी लाभदायक है।

२. पश्चिमोत्तानआसन—दोनों पाँवों को उड्डीयान और मूल बन्ध के साथ लम्बा सीधा फैलावे। दोनों हाथों की अँगुलियों से दोनों पैरों की अँगुलियों को खींचकर शरीर को झुका कर, माथे को घुटने पर टिका दे, यथाशक्ति वहीं पर टिकाए रहें। प्रारम्भ में दस-बीस बार शनैः शनैः रेचक करते हुए मस्तक को घुटने पर ले जायँ और इसी प्रकार रेचक करते हुए ऊपर उठते चले जायँ।

फल—पाचनशक्ति का बढ़ना, कोष्ठबद्धता दूर करना, सब स्नायु कमर तथा पेट की नश-नाड़ियों को शुद्ध एवं निर्मल करना, बढ़ते हुए पेट को पचकाना इत्यादि।

इस आसन को कम से कम दश मिनट तक करते रहने से उचित लाभ प्रतीत होगा।

३. सम्प्रसारण भू-नमनासन (विस्तृत पाद भू-नमनासन)—पैरों को लम्बाकर यथा शक्ति-चौड़ा फैलाने, तत्पश्चात् दोनों पैरों के अँगूठों को पकड़ कर सिर को भूमि में टिका दे।

फल—इससे उरु और जंघा प्रदेश बन जाते हैं। टाँग, कमर, पीठ और पेट निर्दोष होकर वीर्य स्थिर होता है।

४. जानुशिरासन—एक पाँव को सीधा फैलाकर दूसरे पाँव की एड़ी को गुदा और अण्डकोष के बीच में लगाकर उसके पाद तल से फैले हुए पाँव की रान को दबावे। मूल और उड्डीयान बन्ध के साथ फैले हुए पैर की अँगुलियों को दोनों हाथों से खींचकर धीरे-धीरे आगे झुका कर माथे को घुटने पर लगा दे, इसी प्रकार दूसरे पाँव को फैलाकर माथे को घुटने पर लगावें।

फल—इस आसन से सब लाभ पश्चिमोत्तान आसन के समान हैं। वीर्य रक्षा तथा कुण्डलिनी जागृत् करने में सहायक होना, यह इसमें विशेषता है। वास्तविक लाभ प्राप्त करने के लिए कम से कम इसको भी दस मिनट करना चाहिए।

५. आकर्ण धनुषासन—दोनों पाँव एक दूसरे के साथ जमीन पर फैलाकर दोनों हाथों की अँगुलियों से दोनों पाँव के अँगूठे पकड़ लें। एक पाँव सीधा रखकर दूसरे पाँव को उठाकर उसी ओर के कान से लगावे, हाथों और पैरों के हेर-फेर से यह आसन चार प्रकार से किया जा सकता है।

(क) दाहिने हाथ से दाहिने पाँव का अँगूठा पकड़ कर, बायें हाथ का अँगूठा बायें हाथ से खींचकर बायें कान को लगावें।

(ख) बायें हाथ से बायें पाँव का अँगूठा पकड़ कर, दाहिने पाँव का अँगूठा दाहिने हाथ से खींचकर दाहिने कान में लगावें।

(ग) दाहिने हाथ से बाँयें पाँव का अँगूठा पकड़ कर उसके नीचे दाहिने पाँव का अँगूठा बायें हाथ से खींचकर बायें कान को लगावें।

(घ) बायें हाथ से दाहिने पाँव का अँगूठा पकड़ कर उसके नीचे बायें पाँव का अँगूठा दाहिने हाथ से खींचकर दाहिने कान को लगावें।

फल—बाहु, घुटने, जंघा आदि अवयवों को लाभ पहुँचता है।

६. **शीर्षपादासन**—चित लेटकर सिर के पृष्ठ भाग और पैरों की दोनों एड़ियों पर शरीर को कमान के सदृश कर दे। इस आसन को पूरक करके करे और ठहरे हुए समय में कुम्भक बना रहे, तत्पश्चात् धीरे से रेचक करना चाहिए।

फल—मेरुदण्ड का सीधा और मृदु होना सम्पूर्ण शरीर की नाड़ियों, गर्दन और पैरों का मजबूत होना।

७. **हृदयस्तम्भासन**—चित्त लेटकर दोनों हाथों को सिर की ओर और दोनों पैरों को आगे की ओर फैलावें, फिर पूरक करके जालन्धर-बन्ध के साथ दोनों हाथों और दोनों पैरों को छ-सात इञ्च की ऊँचाई तक धीरे-धीरे उठावें और वहीं पर यथाशक्ति ठहरावें, जब स्वाँस निकलना चाहे तब पैरों और हाथों को जमीन पर रखकर धीरे-धीरे रेचक करे।

फल—छाती, हृदय, फेफड़े का मजबूत और शक्तिशाली होना तथा पेट के सब प्रकार के रोगों का दूर होना।

८. **उत्तानपादासन**—चित लेटकर शरीर के सम्पूर्ण स्नायु ढीले कर दें, पूरक करके धीरे-धीरे दोनों पैरों की (अँगुलियों को ऊपर की ओर खूब ताने हुए) ऊपर उठावें, जितनी देर आराम से रख सकें रखकर पुन: धीरे-धीरे भूमि पर ले जाय और स्वाँस को धीरे-धीरे रेचक कर दे। प्रथम बार तीस डिग्री तक, दूसरी बार पैंतीस डिग्री तक, तीसरी बार साठ डिग्री तक पैरों को उठावें। इस आसन के आधुनिक अनुभवियों ने नौ भेद किये हैं—

क. **द्विपाद चक्रासन**—हाथों के पंजे नितम्बों के नीचे रख कर, चित लेट, एक पैर घुटने से मोड़कर घुटने को पेट के पास लाकर तथा दूसरा पैर किंचित् ऊपर उठाकर बिल्कुल सीधा रखें, और इस प्रकार पैर चलावें—जैसे साइकिल पर बैठकर चलाते हैं।

इससे नितम्ब, कमर, पेट, पैर और टाँगें निर्दोष होकर वीर्य शुद्ध-पुष्ट और स्थिर रहता है।

ख. **उत्थित द्विपादासन**—चित लेटकर दोनों पैर पैंतालीस डिग्री तक ऊपर उठाकर जमीन से बिना लगाये धीरे-धीरे ऊपर नीचे करें। इससे पेट के स्नायु मजबूत होते हैं और मलत्याग क्रिया ठीक होती है।

ग. उत्थित एकैकपादासन—चित लेट कर, दोनों पैर (एक पैर ३० डिग्री में और दूसरा ४५ डिग्री में) अधर में रखकर बिना जमीन में लगाए ऊपर नीचे करें।

इससे कमर के स्नायु मजबूत होते हैं, मलोत्सर्ग क्रिया ठीक होती है, वीर्य शुद्ध और स्थिर होता है।

घ. उत्थितहस्त-मेरुदण्डासन—हाथ, पैर एक सीध में फैलाकर चित लेटें। दोनों हाथ उठा कर पैरों की ओर ले जा, इस प्रकार पुनः पुनः पीठ के बल लेट कर पुनः पुनः उठें।

इससे कमर, पेट, छाती, रीढ़ निर्दोष होते हैं।

ङ. शीर्षबद्धहस्त-मेरुदण्डासन—पूर्ववत् पीठ के बल लेट कर, सिर के पीछे हाथ बाँधे बिना पैर उठाए, कमर से शरीर ऊपर उठावे।

इससे पीठ, छाती, गर्दन और रीढ़ के दोष दूर होते हैं।

च. जानुस्पृष्टभाल-मेरुदण्डासन—उपर्युक्त आसन करके घुटना मोड़ कर बारी-बारी से धीरे-धीरे माथे में लगावें, नीचे का पैर भूमि पर टिका हुआ सीधा रहे।

इससे यकृत (जिगर), प्लीहा (तिल्ली), फेफड़े आदि नीरोग हो कर पेट, गर्दन, कमर, रीढ़, ऊरु, बलवान और निर्विकार होते हैं।

छ. उत्थित हस्तपाद मेरुदण्डासन—पूर्ववत् पीठ के बल लेट कर हाथ पैर दोनों एक साथ ऊपर उठावें और पुनः पूर्ववत् एक रेखा में ले जाएँ, चार-पाँच बार ऐसा करें।

इससे पेट, छाती, कमर, और ऊरु निर्दोष होते हैं।

ज. उत्थितपाद मेरुदण्डासन—पैर सामने को फैला कर हाथों की कोहनियों के बल धड़ को उठावें, अनन्तर पैर ४५ डिग्री तक ऊपर उठा कर ऊपर-नीचे करें।

इससे कमर, रीढ़ और पेट निर्दोष होते हैं।

झ. भालस्पृष्ट द्विजानु-मेरुदण्डासन—ऊपर कहे अनुसार ही करें, किन्तु इसके अतिरिक्त सिर दोनों घुटनों में लगा दें।

इससे पीठ, छाती, रीढ़, गर्दन और कमर के सब विकार दूर होते हैं।

९. हस्तपादांगुष्ठासन—चित लेट कर दोनों नासिका से पूरक करके बायें हाथ को कमर के निकट लगाए रखें, दूसरे, दाहिने हाथ से दाहिने

पैर के अँगूठे को पकड़े और समूचे शरीर को जमीन पर सटाए रखें, दाहिना हाथ और पैर ऊपर की ओर उठा कर तना हुआ रखें। इसी प्रकार दाहिने हाथ को दाहिनी ओर कमर से लगाकर बायें हाथ से बायें पैर के अँगूठे को पकड़ कर पूर्ववत् करना चाहिए। फिर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अँगूठे पकड़ कर उपर्युक्त विधि से करना चाहिए।

फल—सब प्रकार के पेट के रोगों का दूर होना, हाथ-पैरों का रक्त संचार, बल-वृद्धि।

१०. स्नायु संचालनासन—चित लेटकर दोनों पैरों को पृथिवी से एक इंच उठाकर पूरक करके जालन्धर-बंध लगा ले और हाथों को सिर की ओर ले जाकर एक इंच ऊपर उठावे। बायें पैर तथा बायें हाथ को मोड़े और फैलावे, फिर दाहिना हाथ तथा दाहिने पैर को मोड़े और फैलावे जब तक कुम्भक रह सके। इसी प्रकार उलटफेर से हाथों और पैरों को मोड़ता और फैलाता रहे। तत्पश्चात् जालन्धर-बंध खोलकर हाथ और पैरों को जमीन पर रखकर धीरे-धीरे रेचक करे।

फल—शरीर के स्नायुओं में प्रगति उत्पन्न होना, पैर की सिराओं, घुटने एवं मेरुदण्ड का पुष्ट होना।

११. पवनमुक्तासन—चित लेटकर पहले एक पाँव को सीधा फैलाकर दूसरे पाँव को घुटने से मोड़कर पेट पर लगाकर हाथों से अच्छी प्रकार दबाये फिर इस पाँव को सीधा करके दूसरे पाँव से भी पेट को खूब इसी प्रकार दबावे। तत्पश्चात् दोनों पाँवों को इसी प्रकार दोनों हाथों से पेट पर दबावे। पूरक करके कुम्भक के साथ करने में अधिक लाभ होता है।

फल—उत्तानपाद आसन के समान इसके सब लाभ हैं। वायु को बाहर निकालने में तथा शौच शुद्धि में विशेष रूप से सहायक होता है। इसे बिस्तर पर लेटकर किया जा सकता है। देर तक कई मिनट तक करते रहने से वास्तविक लाभ की प्राप्ति होगी।

१२. ऊर्ध्व सर्वाङ्गासन—भूमि पर चित लेटकर दोनों पैरों को तान-कर धीरे-धीरे कंधों और सिर के सहारे से पूर्ण शरीर को ऊपर खड़ा कर दें। आरम्भ में हाथों के सहारे से उठावे, कमर और पैर सीधे रहें। दोनों पैरों के अँगुठे दोनों आँखों के सामने रहें। मस्तक कमजोर होने के कारण जो शीर्षासन नहीं कर सकते हैं उनको इस आसन से लगभग वही लाभ

प्राप्त हो सकता है। एक पाँव को आगे और दूसरे को पीछे इत्यादि करने से इसके कई प्रकार हो जाते हैं। इसमें ऊर्ध्व पद्मासन भी लगा सकते हैं।

फल—रक्त शुद्धि, भूख की वृद्धि और पेट के सब विकार दूर होते हैं। सब लाभ शीर्षासन के समान जानना चाहिये।

१३. सर्वाङ्गासन (हलासन)—चित लेटकर दोनों पाँवों को उठाकर सिर के पीछे जमीन पर इस प्रकार लगावें कि पाँव के अँगुठे और अँगुलियाँ ही जमीन को स्पर्श करें। घुटनों सहित पाँव सीधे समसूत्र में रहे, हाथ पीछे भूमि पर रहे।

दूसरा प्रकार—दोनों हाथों को सिर की ओर ले जाकर पैर के अँगूठों को पकड़कर ताने।

फल—कोष्ठ बद्ध का दूर होना, जठराग्नि का प्रदीप्त, आँतों का बलवान् होना, अजीर्ण, प्लीहा, यकृत् तथा अन्य सब प्रकार के रोगों की निवृत्ति और क्षुधा की वृद्धि।

१४. कर्णपीडासन—हलासन करके घुटने कानों पर लगाने से कर्णपीडासन बनता है। इसमें दोनों हाथों को पीठ की ओर जमीन में लगाना चाहिये।

फल—सर्वांगासन के समान, पेट के रोगों के लिए इसमें कुछ अधिक विशेषता है। नादानुसंधान में भी सहायक होता है। देर तक करने से वास्तविक लाभ की प्रतीति होगी।

१५. चक्रासन—चित लेट कर हाथों और पैरों के पंजे भूमि पर लगा कर कमर का भाग ऊपर उठावें। हाथ-पैरों के पंजे जितने पास-पास आ सकें उतने लाने का यत्न करें। यह आसन खड़ा होकर पीछे से हाथों को जमीन पर रखने से भी होता है।

फल—कमर और पेट के स्थान को इससे अधिक लाभ पहुँचता है, पृष्ठवंश सदा आगे की ओर झुकता है, उसका दोष इस आसन द्वारा विरुद्ध झुकाव होने से दूर हो जाता है।

१६. गर्भासन—चित लेट कर दोनों पैरों को ऊपर उठाकर सिर की ओर जमीन में लगावे, फिर दोनों पैरों को गर्दन में एक पर दूसरे पैर को देकर फँसावे, तत्पश्चात् दोनों हाथों को पैरों के अन्दर की ओर से ले जाकर कमर का एक दूसरे हाथ से पकड़ कर बाँधे। इससे पेट के सब

प्रकार के रोग, कोष्ठबद्ध, यकृत, प्लीहा (तिल्ली) आदि के रोग दूर होते हैं।

१७. शवासन (विश्रामासन)—शरीर के सब अंगों को ढीला करके मुर्दे के समान लेट जाय। सब आसनों के पश्चात् थकान दूर करने और चित्त को विश्राम देने के लिए इस आसन को करें इससे बहुत लाभ होता है—रक्तचाप एवं नींद का दोष दूर हो जाता है।

पेट के बल लेट कर करने का आसन

१८. मस्तकपादांगुष्ठासन—पेट के बल लेट कर सारे शरीर को मस्तक और पैरों के अँगूठे के बल पर उठा कर कमान के सदृश्य शरीर को बना दे। शरीर को उठाते हुए पूरक, ठहराते हुए कुम्भक और उतारते हुए रेचक करें।

फल—मस्तक, छाती, पैर, पेट की आतें तथा सम्पूर्ण शरीर की नाड़ियाँ शुद्ध और बलवान होती हैं। पृष्ठवंश या मेरुदण्ड के दोष में इससे विशेष लाभ पहुँचता है।

१९. नाभ्यासन—पेट के बल समसूत्र में लेट कर दोनों हाथों को सिर की ओर आगे दो हाथ की दूरी पर एक दूसरे हाथ से अच्छी तरह फैलावे, दोनों पैरों को भी दो हाथ की दूरी पर ले जा कर फैलावे। फिर पूरक करके केवल नाभि पर समूचे शरीर को उठावे, पैरों और हाथों को एक या डेढ़ हाथ की ऊँचाई पर ले जाय, सिर और छाती को आगे की ओर उठाए रहें, जब स्वाँस बाहर निकलना चाहे तब हाथों और पैरों को जमीन पर रख कर रेचक करे।

फल—नाभि की शक्ति का विकास होना, मन्दाग्नि, अजीर्णता, वायु-गोला तथा पेट के अन्य रोगों तथा वीर्य दोष का दूर होना।

२०. मयूरासन—दोनों हाथों को मेज अथवा भूमि पर जमाकर दोनों हाथों की कोहनियाँ नाभि स्थान के दोनों पार्श्व से लगाकर मूल तथा उड्डीयान-बन्ध के साथ सारे शरीर को उठाये रहे। पाँव जमीन पर लगे रहने से हंसासन बनता है।

फल—जठराग्नि का प्रदीप्त होना, भूख लगना, वात-पित्तादि दोषों को तथा पेट के रोग—गुल्म-कब्जादि का दूर करना और शरीर को नीरोग रखना। वस्ती तथा एनीमा के पश्चात् इसके करने से पानी तथा आँव जो पेट में रह जाते हैं, वह निकल जाते हैं, मेरुदण्ड सीधा होता है।

२१. भुजंगासन (सर्पासन)—आधुनिक आसन व्यायाम के अनुभवियों ने भुजंगासन के निम्न तीन भेद किये हैं—

(क) उत्थितैकपाद भुजंगासन—पेट के बल लेटकर हाथ छाती के दोनों ओर से कोहनियों में से घुमाकर भूमि पर टिकावे, भुजंग के सदृश छाती ऊपर को उठाकर दृष्टि सामने रखे, एक पैर भूमि पर टिका रहे, दूसरा पैर घुटने को बिना मोड़े जितना जा सके ऊपर उठावे, इसी प्रकार बारी-बारी से पैरों को नीचे ऊपर करे। इससे कटि दोष, यकृत, प्लीहादि के विकार दूर होते हैं।

(ख) भुजंगासन—पैरों के पंजे उल्टी ओर से भूमि पर टिका कर हाथों को भी भूमि पर किंचित् टेढ़े रखकर धड़ को कमर से उठाकर भुजंगाकार होवे। इससे पेट, छाती, कमर, उरु, मेरुदण्ड आदि के सब दोष दूर होते हैं।

(ग) सरल हस्त भुजंगासन—हाथों को भूमि पर सीधा रखकर पैरों को पीछे की ओर ले जाकर दोनों हाथों के बीच कमर आ जाय इस रीति से कमर झुकाकर छाती और गर्दन भरसक ऊपर उठाकर सीधे आकाश की ओर देखें। इससे पेट की चर्बी निकल जाती है, पेट, कमर और गर्दन के सब विकार दूर होते हैं।

२२. शलभासन—शलभ टिड्डी को कहते हैं। पेट के बल लेटकर दोनों हाथों को अँगुलियों की मुट्ठी बाँधकर कमर के पास लगावे, तत्पश्चात् धीरे-धीरे पूरक करके छाती तथा सिर को जमीन में लगाये हुए हाथों के बल एक पैर को यथाशक्ति एक डेढ़ हाथ की ऊँचाई पर ले जाकर ठहराए रहें, जब स्वाँस निकलना चाहे तब धीरे-धीरे पैर को जमीन पर रखकर शनैः शनैः रेचक करे। इसी प्रकार दूसरे पैर को उठावे, फिर दोनों पैरों को उठावे।

फल—जंघा, पेट, बाहु आदि भागों को लाभ पहुँचता है, आँतें मजबूत होती हैं और सब प्रकार के उदर-विकार दूर होते हैं।

२३. धनुरासन—पेट के बल लेटकर दोनों हाथों को पीठ की ओर करके दोनों पैरों को पकड़ लेवे और शरीर को वक्र-भाव से रखे। कहीं-कहीं इस आसन को वज्रासन की भाँति एड़ियों पर बैठकर पीछे की ओर झुककर करना बतलाया है।

फल—कोष्ठबद्धादि उदर के सब विकारों का दूर होना, भूख तथा जठराग्नि का प्रदीप्त होना।

बैठकर करने के आसन

२४. मत्स्येन्द्रासन—इसको पाँच भागों में विभक्त करने में सुगमता होगी—

(क) बाँयें पाँव का पंजा दाहिने पाँव के मूल में इस प्रकार रखें कि उसकी एड़ी टूँडी में लगे और अङ्गुलियाँ पाल्थी के बाहर न हों।

(ख) दायाँ पाँव बायें घुटने के पास, पञ्जा भूमि पर लगाकर रखें।

(ग) बाँया हाथ दाहिने घुटने के बाहर से चित डालकर उसकी चुटकी में दाहिने पाँव का अँगूठा पकड़े, उस दाहिने पाँव के पंजे को बायें घुटने के बाहर सटाकर रखें।

(घ) दाहिना हाथ पीठ की ओर से फिराकर उससे बाँयें पैर का जंघा पकड़ लें।

(ङ) मुख तथा छाती पीछे की ओर फिराकर ताने तथा नासाग्र में दृष्टि रखे। इसी प्रकार दूसरी ओर से करे।

फल—पीठ, पेट के नल, पाँद, गला बाहु, कमर, नाभि के नीचले भाग तथा छाती के स्नायुओं का अच्छा लाभ होता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है और पेट के सब रोग आमवात परिणाम कुल तथा आँतों के सब रोग नष्ट होते हैं।

२५. दृष्टिकासन—कोहनी से पंजे तक का भाग भूमि पर रख कर उसके सहारे सब शरीर को सम्भाल कर दीवार के सहारे पाँव को ऊपर ले जाय तत्पश्चात् पाँव को घुटनों में मोड़कर सिर के ऊपर रख दे। दूसरे प्रकार से केवल पंजों के ऊपर ही सब शरीर को सम्भाल कर रखने से भी यह आसन किया जाता है। यह आसन कठिन है। मोर चाल से चलने वाले लड़के इस आसस को शीघ्र कर सकते हैं।

फल—बाहों में बल वृद्धि, पेट तथा आँतों का निर्दोष होना, शरीर का फुर्तीला और हल्का होना, मेरुदण्ड का शुद्ध और शक्तिशाली होना, तिल्ली, यकृत एवं पाण्डु रोग आदि का दूर होना।

२६. उष्ट्रासन—वज्रासन के समान हाथों से एड़ियों को पकड़कर बैठे। पश्चात् हाथों से पावों को पकड़े हुए चूतड़ को उठाये, सिर पीछे पीठ की ओर झुकावे और पेट भरसक आगे की ओर निकाले।

फल—यकृत, प्लीहा, आमवात आदि पेट के सब रोग दूर होते हैं और कण्ठ निरोग होता है।

२७. सुप्त वज्रासन—वज्रासन करके चित लेटे, सिर को जमीन से लगा हुआ रखें, पीठ के भाग को भरसक जमीन से ऊपर उठाए रखे और दोनों हाथों को बाँध कर, छाती के ऊपर रखे अथवा सिर के नीचे रखे।

फल—पेट, छाती, गर्दन और जंघाओं के रोगों को दूर करता है।

२८. कन्द-पीड़ासन—पृथिवी पर बैठ कर दोनों हाथों से दोनों पैरों को पकड़ कर ठीक पेट के ऊपर नाभि के पास ले जा कर इस प्रकार मिलाए कि पैरों की पीठ मिली रहे और तलुए कुक्षियों की ओर जायँ, दोनों पैर के अंगूठे और कनिष्ठिकाएँ मिली रहें, हाथ इस प्रकार जोड़ कर वैठ जाय कि हाथ की हथेली पैरों के अंगूठों पर और अंगुलियाँ छाती के ऊपर आ जायँ।

फल—पैर, घुटने तथा पेट के रोग दूर होते हैं। क्षुधा की वृद्धि, तिल्ली और वायुगोले का नाश होता है, स्कन्ध-स्थान के पवित्र होने से शरीर की सब नाड़ियों का शोधन होता है।

२९. पार्वती आसन—दोनों पैरों के तलुए इस प्रकार मिलावे कि अँगुलियों से अँगुलियाँ और तलुए से तलुआ मिल जायँ और मिले हुए भागों को इस प्रकार घुमावे कि अँगुलियाँ नितम्बों के नीचे आ जायँ और एड़ियाँ अण्डकोश के नीचे मिलकर सामने दिखाई देने लगें।

फल—घुटने, पैरों की अंगुलियों, मणिबन्धों, अण्डकोश और सीवनी के सब रोगों का नाश होना, वीर्यवाही नशों का पवित्र होना। ब्रह्मचारिणी स्त्रियों के लिए भी यह आसन लाभदायक है।

३०. गोरक्षासन—दोनों पैरों के तलुओं को पूर्ववत् मिलाकर दोनों एड़ियों को सीवनी पर जमाकर पैरों को इस प्रकार चौड़ा करें कि बायें पैर की अँगुलियाँ बायीं पिंडली की ओर आ जायँ और दायें पैर की अंगुलियाँ आ मिलें, फिर दोनों हाथों को पीठ की ओर जंघा के नीचे से लाकर घुटने के पास से पैरों की अंगुलियों को पकड़कर जालन्धर-बंध लगाकर चित्त को स्थिर करके बैठे।

फल—कण्ठ, स्कन्ध, बाहु और हृदयादि ऊपर के अंगों तथा जंघा, पिंडली, पैर, सीवनी, अण्डकोष और कटि प्रदेश की व्याधियों का दूर होना।

३१. सिंहासन—दोनों पैरों को नितम्बों के नीचे इस प्रकार जमावे की बायाँ पैर दायें नितम्ब के नीचे और दायाँ पैर बायें नितम्ब के नीचे आ जाय, फिर दोनों हाथों को पेट की ओर अंगुलियाँ करके जंघा पर जमावे, पेट को अन्दर खींचते हुए, छाती को बाहर निकाले हुए, मुख को खोलकर जिह्वा को बल पूर्वक बाहर की ओर निकाल ठोढ़ी पर जमा दे।

फल—बाहु और पैरों का शक्तिशाली होना, गर्दन का नीरोग होना, कटि और सीवनी आदि की शुद्धि, हकलाना बन्द होना।

३२. वकासन—दोनों हाथों के पंजे जमीन पर रखकर, दोनों घुटनों ो बाहुओं के सहारे ऊपर उठाकर, पाँव सहित सारे शरीर को ऊपर उठावे, केवल हाथों के पंजे भूमि पर रहें, शेष शरीर ऊपर उठाये रहें, घुटनों को अंदर रखकर भी यह आसन किया जा सकता है।

फल—भुजदण्डों में बल वृद्धि, सीने का विकास, रक्त की शुद्धि और क्षुधा की वृद्धि।

३३ लोलासन—वकासन के अनुसार दोनों पंजों को भूमि पर रख कर केवल उन पर ही सारे शरीर को उठावे, वकासन में पाँव पीछे की ओर झुकते हैं और इसमें आगे की ओर।

फल—वकासन के समान।

३४. एकपादाङ्गुष्ठासन—एक पैर की एड़ी को गुदा और अण्डकोष के बीच में लगाकर उसी के अँगुठे को अँगुलियों सहित पृथिवी पर जमाकर दूसरे पैर को ठीक उसके घुटने पर रखकर उस पर सारे शरीर का भार सम्भाल कर बैठे, नासाग्र भाग पर दृष्टि जमाकर छाती को किंचित् उभारे रहे, दायें बायें दोनों अंग से बारी-बारी से करें।

फल—वीर्य दोष का दूर होना और वीर्यवाही नाड़ियों का शुद्ध और पुष्ट होना।

पद्मासन लगाकर करने योग्य आसन

३५. ऊर्ध्व पद्मासन—शीर्षासन और ऊर्ध्व सर्वाङ्गासन के साथ।

३६. उत्थित पद्मासन—पद्मासन लगाकर दोनों हाथ दोनों ओर जमीन पर रखकर उनके ऊपर सारे शरीर को, पेट अंदर खींचे हुए और छाती को बाहर निकाले हुए भरसक पृथ्वी से ऊपर उठावे, जितना पृथिवी से ऊपर उठा रहेगा उतना ही अधिक लाभ होगा।

फल—बाहुबल की वृद्धि, छाती का विकास, पेट के रोगों का नाश और क्षुधा की वृद्धि।

३७. कुक्कुटासन—पद्मासन से बैठकर दोनों पाँवों के पंजे भीतर रहें, इस प्रकार दोनों जाँघों और पिंडलियों के बीच में से दोनों हाथ कोहनी तक नीचे निकालकर, पंजे भूमि पर टिकाकर, सारे शरीर को तोलकर रखे

फल—उत्थित पद्मासन के समान लाभ। जठराग्नि का प्रदीप्त होना, आलस्य का दूर होना आदि।

३८. कूर्मासन—कानों को न पकड़कर हाथों की अँगुलियाँ एक-दूसरे के साथ मिलाकर गला पीछे से पकड़े।

फल—आँतों के विकार का दूर होना, शौच-शुद्धि, क्षुधा-वृद्धि।

३९. मत्स्यासन—पद्मासन लगाकर चित लेटे. दोनों हाथों से दोनों पाँवों के अँगुठे पकड़े और दोनों हाथों की कोहनियाँ जमीन पर टिका दें। सिर को पीछे मोड़कर छाती तथा कमर को भरसक जमीन से ऊपर उठाये रखे।

फल—शौच-शुद्धि, अपानवायु की निम्न गति, आँतों के सब रोगों का नाश इत्यादि। दस-पन्द्रह मिनट तक करने से विशेष लाभ की प्रतीति होती है। इस आसन से देर तक जल में तैरा जा सकता है।

४०. तोलाङ्गुलासन—पद्मासन लगाकर नितम्बों के नीचे हाथों की मुट्ठियाँ रखकर उन पर तराजू के सदृश सारे शरीर को तोल रखे।

फल—मत्स्यासन के समान है।

४१. त्रिबन्धासन—मूलबंध, उड्डीयान-बंध और जालन्धर बन्ध लगाकर पद्मासन से बैठे। फिर निम्न क्रियाएँ करें—दोनों हाथों को मिलाकर भरसक ऊपर उठावें। दोनों हाथों को गोमुख करके रखें। दोनों हाथ

पीछे फेरकर दाहिने हाथ से बायें पाँव के अँगूठे को और बायें हाथ से दाहिने पाँव के अँगूठे को पकड़े। दोनों हाथों को भूमि पर जमाकर उन पर सारा शरीर अर्थात् पूरे आसन को उठावे और नितम्बों को पुनः भूमि पर ताड़न करे।

फल—तीनों बन्धों के फल के अतिरिक्त इससे कुण्डलिनी की जागृति और प्राणों के उत्थान में विशेष सहायता मिलती है किन्तु सावधानी के साथ करे।

खड़े होकर करने के आसन

४२. ताड़ासन—गला, कमर, पाँव की एड़ी आदि सबको समरेखा में करके सीधा खड़ा हो, एक हाथ को भरसक सीधा ऊपर ताने और दूसरे को जंघा से मिलाये रखे। ऊपर वाले हाथ को धीरे-धीरे तानता हुआ नीचे ले जाय और नीचे वाले को ऊपर। इसी प्रकार कई बार करे।

फल—सारे शरीर को नीरोग रखना, मेरुदण्ड का सीधा करना, शौच-शुद्धि, अर्श रोग का नाश करना इत्यादि।

४३. गरुड़ासन—सीधे खड़े होकर एक पैर को दूसरे पैर से लपेटे, तत्पश्चात् दोनों हाथों को भी उसी प्रकार लपेट कर हथेली मिलाकर दोनों हाथों को नाक के पास ले जाय।

फल—पैरों के स्नायु की शुद्धि, अण्डकोश की वृद्धि का रोकना, घुटने और कोहनियों आदि के दर्द का नाश करना।

४४. द्विपाद मध्य शीर्षासन—दोनों पैरों को भरसक फैलावे, मस्तक को आगे की ओर झुकार दोनों पैरों के बीच में ले जाकर पृथिवी पर लगावे।

फल—पेट के स्नायु, मेरुदण्ड और वीर्यवाही नसों का पुष्ट होना।

४५. पादहस्तासन—सीधे खड़े होकर धीरे-धीरे आगे की ओर झुककर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अँगुठे पकड़े, उड्डीयान और मूलबंध के साथ बिना घुटने तथा पाँव झुकाये घुटने पर सिर को लगा दे।

फल—तिल्ली, यकृत, कोष्ठबद्धता आदि का दूर होना। देर तक करने से विशेष लाभ की प्रतीति होगी।

४६. हस्तपादाङ्गुष्ठासन—सीधा समसूत्र में दोनों पैरों को मिलाकर खड़ा हो एक पैर को सीधा उठाकर कटि प्रदेश की जगह तक ले जाय,

दूसरे हाथ से इस पैर के अँगूठे को पकड़कर सीधा ताने, दूसरा हाथ कमर पर रहे। इसी प्रकार दूसरी ओर करे। जब यह आसन लगभग एक मिनट तक टिकने लगे तो मस्तक को फैलाये हुए घुटने पर लगावे।

फल—पेट, पीठ, जंघा, कमर, कण्ठ आदि अवयवों का बलवान् होना।

४७. कोणासन—टाँगों को फैलाकर समसूत्र में खड़ा हो, तत्पश्चात् एक हाथ को सीधा रखकर दूसरे हाथ से बायीं ओर झुककर बायें पैर के घुटने को पकड़े। इसी प्रकार दूसरी ओर करे।

फल—पीठ, कमर का नीरोग होना, स्नायुओं में रक्त का संचार इत्यादि।

यहाँ लगभग सभी मुख्यासन उनके फल सहित बतला दिये गये हैं, किन्तु बहुत से आसनों को करने की अपेक्षा अपने आवश्यकतानुसार थोड़े से विशेष विशेष आसनों को निम्नलिखित सूची के अनुसार विधि पूर्वक देर तक करना अधिक लाभदायक होगा। आसनों को इष्ट के मानसिक जप तथा स्थान विशेष पर ध्यान के साथ करना अच्छा रहेगा। लम्बे समय तक शीर्षासन करने के पश्चात् ऊर्ध्व सर्वांगासन अवश्य करना चाहिए।

आसन	ऊपरोक्त वर्णित आसन-क्रम	कम-से-कम समय
१. विपरीतकरणी मुद्रा (शीर्षासन)	९	२० मिनट
२. मयूरासन	२०	५ ,,
३. ऊर्ध्वसर्वाङ्गासन	१२	१० ,,
४. पश्चिमोत्तानासन	२	१० ,,
५. जानुशिरासन	४	१० ,,
६. उत्तानपादासन	८	५ ,,
७. पवन-मुक्तासन	११	५ ,,
८. भुजङ्गासन	२१	५ ,,
९. शलभासन	२२	५ ,,
१०. त्रिबन्धासन	४१	५ ,,
११. ताड़ासन	४२	५ ,,
१२. पादहस्तासन	४५	५ ,,
१३. सम्प्रसारण भू-नमनासन	३	५ ,,

१४. हृदयस्तम्भासन	७	५ मिनट
१५. शीर्षपादासन	६	५ ,,
१६. सर्वाङ्गासन (हलासन)	१३	५ ,,
१७. कर्णपीड़ासन	१४	५ ,,
१८. मस्तक-पादाङ्गुष्ठासन	१८	५ ,,
१९. नाभ्यासन	१९	५ ,,
२०. धनुरासन	२३	५ ,,
२१. उष्ट्रासन	२६	५ ,,
२२. सुप्तवज्रासन	१७	५ ,,
२३. मत्स्यासन	३७	१० ,,
२४. द्विपाद मध्यशीर्षासन	४५	५ ,,

आसन का उठना—ध्यान की अवस्था में प्राण के दबाव से सूक्ष्म और शुद्ध शरीरवाले साधकों का कभी-कभी आसन स्वयं उठने लगता है। बहुधा साधकों को प्राण के उत्थान में आसन के उठने का भ्रम हो जाता है।

आसन उठाने की विधि—वस्ती अथवा एनीमा आदि से पेट की सफाई करके मूल और उड्डीयान-बन्ध लगाकर पद्मासन से बैठे। फिर नीचे से वायु को भरना चाहिए। कुछ दिनों के अभ्यास के पश्चात् एक विशेष अकथनोय स्वयमेव होने वाली आन्तरिक क्रिया द्वारा सूक्ष्म और शुद्ध शरीरवालों का आसन उठने लगता है। किंतु आसन का उठना केवल शारीरिक क्रिया है। इसमें आध्यामित्कता का लेश मात्र भी सम्वन्ध नहीं है। इसके प्रदर्शन में आध्यात्मिक हानि हो है।

गुफा में बैठना—साधारण मनुष्य अधिक समय गुफा में बैठना ही समाधि मानते हैं।

गुफा में बैठने की पहली विधि—इसमें एक लम्बे समय तक खान-पान तथा अन्य सब शारीरिक क्रियाओं को छोड़ देने का अभ्यास है। गुफा में जाने से कई दिन पूर्व वस्ती-धौती आदि यौगिक क्रियाओं द्वारा शरीर शोधन और दुग्ध तथा बादाम का छोंका आदि सूक्ष्म तथा अल्प आहार लेना होता है। गुफा में जाने वाले दिन वस्ती, धौती, नेती आदि क्रियाओं तथा कैथेटॅर् से शरीर-शोधन करना चाहिए। गुफा में नमी (शीलन) लेश मात्र भी न हो। पक्की होनी चाहिए। कई दिन पूर्व तैयार करा ली जानी चाहिए जिससे उसकी शीलन सब निकल जाय। वायु प्रवेश के लिए एक जालीदार खिड़की होनी चाहिए। दो एक अनुभवी

देख भाल करते रहें, जिससे किसी दुर्घटना की उपस्थित होने पर उसका प्रतिकार किया जा सके। युवक और पुष्ट शरीर वाले ही अपनी शक्ति से कम समय के लिए बैठने की चेष्टा करें। इसके लिए शीतकाल उपयोगी समय है।

गुफा में बैठने की दूसरी विधि—इसमें पहली बतलायी गयी बातों के अतिरिक्त किसी विशेष क्रिया से प्राण की बाह्यगति को रोककर एक ही आसन से निश्चित समय तक बैठना होता है। इसमें खेचरी मुद्रा अधिक उपयोगी होती है। बाह्य प्राण की गति के अभाव में प्राणों की केवल आन्तरिक क्रिया होती रहती है। इसलिए बाहर की हवा की आवश्यकता नहीं रहती। इसमें गुफा को बिल्कुल बन्द कर दिया जाता है। इसमें बेहोशी जैसी अवस्था रहती है। इसलिए श्रोत्र और नासिकादि के छिद्रों को विशेष रीति से बंद कर दिया जाता है, जिससे कोई जीव-जन्तु प्रवेश न कर सकें। शरीर में दीमक न लगने पावे, इसलिए गुफा में राख डाल दी जाय अथवा अन्य किसी तरह से इसका उपचार करना चाहिए। इस क्रिया में पहली विधि की अपेक्षा अधिक शारीरिक बल और देख-भाल की आवश्यकता है। कुछ अनुभवियों को पहले ही से सब बातें समझाकर नियुक्त कर देना चाहिए। अपनी सामार्थ्य से कम समय के लिए बैठना चाहिए तथा गुफा में कोई ऐसी बिजली की घण्टी आदि होनी चाहिए कि जिससे दुर्घटना के समय में सूचना दी जा सके।

वास्तविक समाधि तो तीव्र वैराग्य होने पर ध्यान द्वारा वृत्तियों के निरोधपूर्वक होती है जैसा कि योगदर्शन में बतलाया गया है। उपर्युक्त दोनों प्रकार से गुफा में बैठना न तो वास्तविक समाधि ही है और न आध्यात्मिकता से कोई विशेष सम्बन्ध ही है, पहली विधि में अति कठिन शारीरिक तप है और दूसरी विधि में उससे भी भयंकर प्राण-सम्बन्धी तप और उसकी विशेष क्रियाओं का अभ्यास है। यदि इन दोनों प्रकार की क्रियाओं में कार्य-कुशल साधक जनसमूह में प्रतिष्ठा, मान और धन प्राप्ति की अभिलाषा की उपेक्षा करके वैराग्य और ध्यान द्वारा वृत्ति निरोध की ओर प्रवृत्त हो तो बहुत शीघ्र आत्मोन्नति के शिखर पर आरूढ़ हो सकते हैं। इस प्रकार की समाधि का सबसे कठिन और आश्चर्य जनक प्रदर्शन महाराजा रणजीतसिंह जी के समय में एक प्रमुख हठयोगी हरीदास ने किया था। वह प्राणों की बाह्य गति को किसी विशेष क्रिया द्वारा अन्तर्मुखी करके खेचरी मुद्रा लगाकर एक विशेष आसन से बैठ गया।

उसने नाक और कानों के छिद्रों को मोम तथा अन्य कोई औषधियों द्वारा वंद कर दिया। एक लोहे के बक्स में रखकर ताला लगा कर उसको भूमि खुदवा कर गड़वा दिया गया। तदुपरान्त उस भूमि पर चने बुन दिये गये। छः मास पश्चात् भूमि को खोदकर पेटी में से उसे निकाला गया और उसकी बतलायी हुई विधि के अनुसार होश में लाया गया। इतना सब कुछ होते हुए भी कहते हैं कि उसमें वैराग्य तथा ध्यान द्वारा वृत्ति निरोध के अभ्यास की कमी थी, जिसके फलस्वरूप (बहुत सम्भव है वज्रोली क्रिया की सिद्धि की चेष्टा में) एक क्वाँरी लड़की को भगाकर ले जाने के प्रयत्न में उसकी सारी प्रतिष्ठा और मान पर पानी फिर गया। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार के योग के नाम पर प्रदर्शन आरम्भ में जनसमूह में योगशब्द के प्रति अगाध श्रद्धा और अन्ध विश्वास उत्पन्न कर देते हैं, किन्तु उनके प्रदर्शकों की सांसारिक और स्वार्थमय चेष्टाएँ अन्त में उससे कहीं अधिक योग के सम्बन्ध में अश्रद्धा की उत्पादक हो जाती है। **जैसे आज कल के नये धर्मों के लोग करते हैं?** आसन, मुद्राएँ आदि सभी यौगिक क्रियाओं का हमने वर्णन कर दिया है। इनमें से जो जिसके अभ्यास में सहायक हों, उनको ग्रहण करना चाहिये। (किन्तु मुख्यध्येय आत्मोन्नति को छोड़कर केवल इन शारीरिक क्रियाओं और खान-पान के चिन्तन में लगा रहना अहितकर है।)

संगति—आसन की सिद्धि का उपाय बताते हैं—

प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम्

व्याख्या—सूत्र के अन्त में 'भवति' वाक्य शेष है। प्रयत्न-शैथिल्य = स्वाभाविक शरीर की शिथिलता है। इस प्रयत्न की शिथिलता से आसन सिद्ध होता है अथवा आनन्त्यसमापत्ति = आकाशादि में रहने वाली अनन्तता में चित्त की व्यवधान रहित समापत्ति अर्थात् तद्रूपता को प्राप्त हो जाने से आसन सिद्धि होती है अर्थात् शरीर को प्रयत्न शून्य और मन को व्यापक विषयी वृत्तिवाला करके आसन पर बैठना चाहिए। इस प्रकार शरीर और मन को क्रिया रहित करने से शरीर का अध्यास छूट जाता है और उससे भूला जैसा होकर बहुत समय तक स्थिरता के साथ सुख पूर्वक बैठ सकता है। आनन्त्यसमापत्ति से यह अभिप्राय है कि चित्त वृत्ति रूप में प्रतिक्षण अनेक परिच्छिन्न पदार्थों की ओर **घूमता रहता** है। उनकी परिच्छिन्नता में वह अस्थिर रहता है। अपरिच्छिन्न आकाशादि में जो

अनन्तता है, उसमें चित को तदाकार करने से चित्त निर्विषय होकर स्थिर हो जाता है।

तस्मिन् सतिश्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।

श्वास—बाहर की वायु का नासिका द्वारा अंदर प्रवेश करना श्वास कहलाता है।

प्रश्वास–कोष्ठ–स्थित वायु का नासिकाद्वारा बाहर निकालना प्रश्वास कहलाता है। स्वाँस पर स्वाँस की गतियों का प्रवाह रेचक, पूरक और कुम्भक द्वारा बाह्याभ्यान्तर दोनों स्थानों में रोकना प्राणायाम कहलाता है। रेचक प्राणायाम को वहिर्गति होने के कारण उसमें श्वास की स्वाभाविक गति का तो अभाव होता ही है पर कोष्ठ की वायु का बहिर्विरेचन करके बाहर ही धारण करने से प्रश्वास की स्वाभाविक गति का भी अभाव हो जाता है। इसी प्रकार पूरक प्राणायाम में प्रश्वास की गति का तो अभाव होता ही है, पर बाह्यवायु को पान करके शरीर के अन्दर धारण करने से स्वाँस की स्वाभाविक गति का भी अभाव हो जाता है और कुम्भक प्राणायाम में रेचन-पूरण प्रयत्न के बिना केवल विचारक प्रयत्न से प्राणवायु को एकदम जहाँ के तहाँ रोक देने से श्वास-प्रश्वास दोनों की गति का अभाव हो जाता है।

जब ठीक आसन से बैठ जाय, तब ऊपर बतलाई हुई रीति से प्राणायाम करना चाहिए। प्राणायाम के इन तीनों भेदों का विस्तार पूर्वक वर्णन अगले सूत्र में है। आसन यम नियम की भाँति योग का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, वह प्राणायाम की सिद्धि का उपाय है। इसलिए 'तस्मिन् सति' उसके अर्थात् आसन के हो जाने पर यह शब्द लाया गया है।

संगति—सुखपूर्वक प्रणायाम की प्राप्ति के लिए उसका भेद करके स्वरूप बताते हैं—

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकाल संख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥

बाह्य-वृत्ति (प्रश्वास)—श्वास को बाहर निकाल कर उसको स्वाभाविक गति का अभाव करना रेचक प्राणायाम है।

आभ्यान्तर वृत्ति (स्वाँस) श्वास अन्दर खींचकर उसकी स्वाभाविक गति का अभाव पूरक प्राणायाम है। स्तम्भवृत्ति—श्वास-प्रश्वास दोनों गतियों के अभाव से प्राण को एक दम जहाँ का तहाँ रोक देना कुम्भक

प्राणायाम है। जिस प्रकार तप्त लोहादि पर डाला हुआ जल एक साथ संकुचित होकर सूख जाता है, इसी प्रकार कुम्भक प्राणायाम में श्वास-प्रश्वास दोनों की गति का एक साथ अभाव हो जाता है।

इन तीनों में प्रत्येक प्राणायाम तोन-तीन प्रकार का होता है—

१. **देश-परिदृष्ट**—देश से देखा हुआ अर्थात् देश से नापा हुआ।

जैसे—(१) रेचक में नासिका तक प्राण का निकलना, (२) पूरक में मूलाधार तक श्वास का ले जाना, (३) कुम्भक में नाभि चक्र आदि में एक दम रोक देना।

२. **काल परिदृष्ट**—समय से देखा हुआ, अर्थात् समयोपलक्षित समय की विशेष मालाओं में श्वास का निकालना, अन्दर ले जाना और रोकना। जैसे दो क्षण में रेचक और एक क्षण में पूरक और चार क्षण में कुम्भक।

३. **संख्या परिदृष्ट**—संख्या से उपलक्षित। जैसे इतनी संख्या में पहला, इतनी संख्या में दूसरा और इतनी संख्या में तीसरा प्राणायाम। इस प्रकार अभ्यास किया हुआ प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म अर्थात् लम्बा और हल्का होता है।

भाव यह है कि ज्यों-ज्यों योगी का अभ्यास बढ़ता जाता है त्यों-त्यों रेचक, पूरक, कुम्भक—यह तीनों प्रकार का प्राणायाम, देश, काल और संख्या के परिणाम से दीर्घ (लम्बा), सूक्ष्म (पतला-हल्का) होता चला जाता है, अर्थात् पहले पहल रेचक प्राणायाम में बाहर फेंकते समय जितनी दूर तक प्राण जाता है, धीरे-धीरे अभ्यास से उसका परिणाम बढ़ता जाता है। इसकी जाँच इस प्रकार की जाती है कि रेचक प्राणायाम के समय पहले-पहल नासिका के सामने रुई की पतली परत रखने से जितनी दूर वह श्वास के स्पर्श से हिलती है, कुछ दिनों के अभ्यास के पश्चात् उससे अधिक दूरी पर हिलने लगती है। इस प्रकार जब बारह अंगुल पर्यन्त रेचक स्थिर हो जाय, तब उसको दीर्घ-सूक्ष्म समझना चाहिए।

जिस प्रकार रेचक प्राणायाम में श्वास की लम्बाई बाहर बढ़ती जाती है। अन्दर श्वास खींचने में श्वास का स्पर्श चींटी जैसा प्रतीत होता है। यह स्पर्श अभ्यास के क्रम से नीचे की ओर नाभि तथा पादतल और ऊपर की ओर मस्तिष्क तक पहुँच जाता है। नाभि पर्यन्त पूरक स्थित हो जाने पर उसको भी दीर्घ-सूक्ष्म समझना चाहिए। इस प्रकार

केवल रेचक, पूरक की परीक्षा की जाती है, कुम्भक में न बाहर कुछ हिलता है, न अन्दर स्पर्श होता है। यह देश द्वारा परीक्षा हुई।

काल द्वारा परीक्षा

इसी प्रकार तीनों प्रकार का प्राणायाम अभ्यास द्वारा काल के परिणाम में भी बढ़ता जाता है। आरम्भ में जितने काल तक प्राणायाम होता है, धीरे-धीरे उससे अधिक काल तक बढ़ता जाता है। हाथ को जानु की चारों ओर फिराकर एक चुटकी बजा देने में जितना काल लगता है, उसका नाम मात्रा है। दिनों दिन वृद्धि को प्राप्त हुआ प्राणायाम जब छत्तीस मात्राओं पर्यन्त श्वास-प्रश्वास की गति के आभाव में होने लगे, तब उसको दीर्घ सूत्र जानना चाहिए।

संख्या द्वारा परीक्षा

इसी प्रकार संख्या के परिणाम से प्राणायाम बढ़ता जाता है। प्राणायाम के बल से कई स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास का एक-एक श्वास बनता जाता है। जब बाहर श्वास-प्रश्वास का एक श्वास बनने लगे, तब जानना चाहिये कि दीर्घ-सूक्ष्म हुआ। यह प्रथम उद्‌घात मृदु दीर्घ-सूक्ष्म, चौबीस श्वास-प्रश्वास एक श्वास, द्वितीय उद्‌घात मध्य दीर्घ-सूक्ष्म और छत्तीस श्वास-प्रश्वास का एक श्वास, तृतीय उद्‌घात तीव्र-दीर्घ सूक्ष्म कहलाता है। उद्‌घात का अर्थ नाभि मूल से प्रेरणा की हुई वायु का सिर में टक्कर खाना है। यह प्राणायाम में देश, काल और संख्या का परिणाम है। इस प्रकार प्राणायाम अभ्यास से लम्बा (घड़ी, पहर, दिन, पक्ष आदि पर्यन्त) और सूक्ष्म बड़ी निपुणता से जानने योग्य होता चला जाता है।

यहाँ प्राणायाम का क्रियात्मक रूप बतला देना आवश्यक है। एक स्वस्थ मनुष्य स्वाभाविक रीति से एक मिनट में पन्द्रह बार श्वास लेता है। साधारण स्थिति में श्वास की गति इस क्रम से होती है—(१) श्वास का भीतर जाना, (२) भीतर रुकना, (३) बाहर निकलना, (४) बाहर रुकना। श्वास के भीतर जाने को श्वास, बाहर निकलने को प्रश्वास और अन्दर तथा बाहर रुकने को विराम कहते हैं। इस स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास की गति के वशीकरण से शरीर के भीतर प्राण की समस्त सूक्ष्म-गतियों का वशीकरण हो जाता है और नाना प्रकार की अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त हो सकती हैं। इन दोनों गतियों के नियम पूर्वक रोक देने के अभ्यास

से आयु बढ़ती है, शरीर स्वस्थ रहता है, कुण्डलिनी जाग्रत होती है। और मन जो अति चंचल तथा दुर्निग्रह है, प्राण से संबंध रखने के कारण उसके रुकने से शीघ्र स्थिर हो जाता है। योग का अन्तिम लक्ष्य चित्त की वृत्तियों का रोकना है, इसलिए सूत्रकार ने प्राणायाम को योग का चौथा अंग मानकर उसका लक्षण (नियम पूर्वक) श्वास-प्रश्वास की गति का रोकना किया है। तीन नियमित क्रियाओं से इस गति का निरोध किया जाता है इसलिए प्राणायाम के तीन भेद पूरक = आभ्यन्तर वृत्ति, रेचक = वाह्य वृत्ति और कुम्भक = स्तम्भ वृत्ति किये हैं।

१. पूरक—(आभ्यन्तर वृत्ति) द्वारा श्वास को देश (नाभि, मूलाधार आदि आभ्यन्तर प्रदेश तक ले जाकर), काल (श्वास की मात्राएँ बढ़ाकर) और संख्या (कई श्वासों का एक श्वास बनाकर) के परिणाम से दीर्घ और सूक्ष्म करके उसकी गति का अभाव किया जाता है। इस प्रकार पूरक द्वारा श्वास की गति को रोक देने को पूरक सहित कुम्भक अथवा आभ्यन्तर कुम्भक कहते हैं।

२. रेचक—इसी प्रकार रेचक द्वारा प्रश्वास को देश, काल और संख्या के परिणाम से दीर्घ और सूक्ष्म करके उसको गति को रोक दिया जाता है। इस प्रकार प्रश्वास की गति को रोक देने को रेचक सहित कुम्भक अथवा वाह्य कुम्भक कहते हैं। जहाँ पूरक, रेचक दोनों से श्वास-प्रश्वास की गति को रोक दिया जाता है, वह सहित कुम्भक कहलाता है।

३. बिना पूरक, रेचक किये हुए श्वास-प्रश्वास दोनों की गतियों को कुम्भक द्वारा एकदम जहाँ का तहाँ रोक दिया जाता है। यह भी देश (हृदय की धड़कन, हाथ की नाड़ी आदि की चाल को देखकर), काल (कितनी मात्राओं में गति का अभाव रहा) और संख्या (कितनी विराम की संख्या में गति का अभाव रहा) के परिणाम से दीर्घ और सूक्ष्म होता है। इसको केवल **कुम्भक** कहते हैं।

४. इन तीनों प्रकार के प्राणायामों से भिन्न एक चौथी विलक्षण क्रिया श्वास-प्रश्वास की गति को रोकने की है। इसकी संज्ञा योग दर्शन में **चतुर्थ प्राणायाम** की है। इसमें श्वास-प्रश्वास की गति को रोके बिना केवल रेचक, पूरक किया जाता है। इसके निरन्तर अभ्यास से श्वास-प्रश्वास की गति देश, काल और संख्या के परिगाम से दीर्व और सूक्ष्म होती हुई स्वयं निरुद्ध हो जाती है।

योग दर्शन के समाधि पाद के चौंतीसवें सूत्र में मुख्य प्राण के पाँच भेद—प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान है। प्राण का निवास स्थान हृदय, अपान का मूलाधार और समान का नाभि बतला आये हैं। पूरक में प्राण समान से नीचे जाकर अपान के साथ मिलता है और रेचक में अपान समान से ऊपर जाकर प्राण से मिलता है। इसलिये कई योगाचार्यों ने प्राणायाम का लक्षण 'प्राण और अपान का मिलना' किया है। यथा—

प्राणापान समायोगः प्राणायाम इतीरितः।
प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचक पूरक कुम्भकैः॥

(योगियाज्ञवल्क्य ६।२)

'प्राण और अपान वायु के मिलाने को प्राणायाम कहते हैं, प्राणायाम कहने से रेचक, पूरक और कुम्भक की क्रिया समझी जाती है।'

वर्णत्रयात्मका ह्येते रेचकपूरककुम्भकाः।
स एव प्रणवः प्रोक्तः प्राणायामश्च तन्मयः॥

(योगियाज्ञवल्क्य ६।३)

'रेचक' 'पूरक' और 'कुम्भक'—यह तीनों तीन वर्ण रूप हैं अर्थात् इन तीनों में तीन-तीन वर्ण होते हैं। वहीं यह प्रणव कहा गया है। प्राणायाम प्रणव रूप ही है। अर्थात् जिस प्रकार ओम् में अ, उ, म—ये तीन वर्ण हैं, इसी प्रकार पूरक कुम्भक, रेचक तीनों में तीन-तीन वर्ण हैं, इसलिये यह तीनों प्रणव ही हैं। ऐसा जानकर इन तीनों के अलग-अलग अभ्यास में प्रणव-उपासना की भावना करनी चाहिये। प्राणायाम की क्रियाओं की भिन्नता से कुम्भक के आठ अवान्तर भेद बतलाये गये हैं। यथा—

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा केवली चाष्टकुम्भकाः॥

(गोरक्षसंहिता १९५, घेरण्डसंहिता)

'सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा और केवली भेद से कुम्भक आठ प्रकार के हैं।'

हठयोग प्रदीपिका में कुम्भक का आठवाँ भेद प्लाविनी माना है। इन सब प्रकार के उपर्युक्त कुम्भकों के वर्णन करने से पूर्व इनके सम्बन्ध में कई विशेष सूचनाएँ दे देना उचित प्रतीत होता है।

बन्धों का प्रयोग—स्थिरासन में खेचरी मुद्रा के साथ नेत्रों को बंद करके प्राणायाम अभ्यास करना चाहिये। सिर, गर्दन और मेरुदण्ड सीधे रहें, झुके न रहें। शरीर को तान कर नहीं रखना चाहिये, बल्कि ढीला छोड़ देना चाहिये। मूल बंध आरम्भ से अन्ततक तीनों प्राणायामों में लगा रहना चाहिये। उड्डीयान को भी लगाये रखने का प्रयत्न करें, रेचक में पूरा उड्डीयान करके पेट को पीठ से मिला देना चाहिये। पूरक और कुम्भक के समय पेट की नाड़ियों को फुलाकर आगे की ओर नहीं बढ़ाना चाहिये, प्रत्युत सिकोड़कर ही रखना चाहिये। पूरक करके कुम्भक के समय जालन्धर-बंध लगाकर वायु को अंदर रोकना होता है। कुम्भक की समाप्ति पर जालन्धर-बंध खोलकर रेचक किया जाता है। जालन्धर-बंध यद्यपि बहुत लाभदायक है तथापि तनिक-सी असावधानी होने पर इसमें हानि पहुँचने की भी सम्भावना रहती है तथा इसके द्वारा गर्दन झुकाने की आदत भी कई अभ्यासियों को पड़ जाती है, इसलिये राजयोग के अभ्यासियों के लिये अधिक हितकर नहीं है। बिना जालन्धर-बंध लगाये दोनों नासिका पुट को अंगुलियों से बंद करके अथवा इसके बिना भी कुम्भक किया जाता है।

२ **अंगुलियों का प्रयोग**—वाम नासिका पुट से पूरक करते समय दाहिने नासिका पुट को दाहिने हाथ के अंगूठे से दबाना होता है। कुम्भक के समय वाम नासिका पुट को भी दाहिने हाथ की अनामिका तथा कनिष्ठिका से दबाकर वायु को अंदर रोकना होता है। अर्थात् यदि जालन्धर-बंध न लगाना हो तो कुम्भक में दोनों नासिका पुट (नथुने) सीधे हाथ को नियुक्ति अंगुलियों से बंद किये जाते हैं। दक्षिण नासिका पुट से रेचक करते समय केवल वाम नासिकापुट को बन्द रखना होता है, दाहिने पर से अंगुलियाँ हटा ली जाती हैं, इसी अवस्था में दाहिने नथुने से पूरक किया जाता है और कुम्भक के समय इसको भी पूर्ववत् बन्द कर दिया जाता है। बायें नथुने से रेचक के समय उस नथुने पर से अंगुलियाँ हटा ली जाती हैं। दोनों नथुनों से रेचक तथा पूरक करते समय दोनों नथुने पर से अंगुलियाँ हटा ली जाती हैं। आरम्भ में ही अंगुलियों के प्रयोग की आवश्यकता होती है। अभ्यास परिपक्व हो जाने पर नथुनों को अंगुलियों से दबाये बिना भी रेचक, पूरक, कुम्भक किया जा सकता है। यदि कुम्भक में जालन्धर-बंध लगाया हो तो अंगुलियों द्वारा नथुनों को बन्द करने की आवश्यकता नहीं होती। आगे बतलाये जाने वाले रेचक,

पूरक, कुम्भक में अंगुलियों द्वारा नासिकापुट का खोलना, बन्द करना पाठक गण स्वयं समझ लें, हमें अब उनके बतलाने की आवश्यकता नहीं रही।

३. प्राणायाम के आरम्भ में जिस नासिका पुट से पूरक करना हो उससे प्रथम पूरा श्वास बाहर निकाल देना चाहिये।

सगर्भ (सबीज) सहित कुम्भक—

सहितो द्विविधः प्रोक्तः प्राणायामं समाचरेत्।
सगर्भो बीजमुच्चार्य निर्गर्भो बीज वर्जितः॥

'सहित-कुम्भक सगर्भ और निर्गर्भ भेद से दो प्रकार का कहा गया है। सगर्भ बीज मन्त्र के उच्चारण के साथ किया जाता है और निर्गर्भ बीज मन्त्र को छोड़कर किया जाता है।'

सगर्भ अर्थात् सबीज प्राणायाम की विधि—पूरक का बीज मंत्र 'अं' है, कुम्भक का 'उं' और रेचक का 'मं' है। इस प्रकार सहित—प्राणायाम को प्रणवात्मक समझ कर उसमें 'प्रणव' की उपासना की भावना करते हुए पूरक में 'अं' का, कुम्भक से 'उं' का और रेचक में 'मं' का जाप करते हुए अथवा पूरक, कुम्भक और रेचक तीनों को अलग-अलग प्रणवात्मक जानकर उनमें 'प्रणव' की उपासना की भावना करते हुए तीनों में 'ओम्' की निश्चित मात्रा से जाप करना सबीज अथवा सगर्भ प्राणायाम है। एक बात यह जान लेनी चाहिए कि पूर्व विधि के अनुसार प्रणव का उल्लेख किया गया है। परन्तु जिसका जो बीज मंत्र हो उसी का जाप करना चाहिए।

१. साधारण सहित अथवा अनुलोम विलोम कुम्भक—बीज मन्त्र 'अं' अथवा ओ३म् का छः बार मानसिक जाप करते हुए बायें नासिका पुट से धीमे-धीमे बिना आवाज किये हुए वायु को मूलाधार तक पूरक करे। चौबीस बार बीज मंत्र 'उं' अथवा ओ३म् को मानसिक जाप करते हुए कुम्भक करे। बीज मन्त्र 'मं' अथवा ओ३म् बारह बार मानसिक जाप करते हुए धीरे-धीरे बिना आवाज किये वायु को दायें पुट से रेचक करे, थोड़ी देर (एक क्षण) वायु को बाहर रोक कर पूर्ववत् बारह मात्रा में 'अं' अथवा ओ३म् का जाप करते हुए इसी नासिका से पूरक करे। पूरक के पश्चात् पूर्ववत् कुम्भक तत्पश्चात् बायें नासिका-पुट से रेचक करे, ये दो प्राणायाम हुए। इसी प्रकार दोनों नासिका पुटों से एक साथ पूरक, कुम्भक और रेचक करके प्राणायाम किया जा सकता

है। प्राणायाम की संख्या यही रहे। मात्राएँ—पूरक, कुम्भक और रेचक एक, चार, दो के हिसाब से यथा शक्ति बढ़ाते रहे।

निम्नलिखित क्रमानुसार मात्राओं को शनै-शनैः बढ़ाया जा सकता है—

पूरक-मात्रा	कुम्भक-मात्रा	रेचक-मात्रा	दिन तक
६	८	६	१५
६	१२	९	१५
६	१८	१०	१५
६	२४	१२	१५
६	२८	१४	१५
७	३२	१६	१५
८	३६	१८	१५
९	४०	२०	१५
१०	४४	२२	१५
१२	४८	२४	१५
१३	५२	२६	१५
१४	५६	२८	१५
१५	६०	३०	१५
१६	६४	३२	१५
१७	६८	३४	१५
१८	७२	३६	१५
१९	७६	३८	१५
२०	८०	४०	१५

इसके पश्चात् यदि चाहें तो केवल कुम्भक कर सकते हैं। मात्राओं को बढ़ाने में शीघ्रता न करें, यथा शक्ति शनैः शनैः बढ़ावें।

साधारण सहित कुम्भक के अन्तर्गत कई अन्य उपयोगी प्राणायाम—

(क) तालयुक्त प्राणायाम—हाथ की कलाई पर अंगूठे की ओर नब्ज-वाली नाड़ी पर अंगुलियों को रखकर उसकी धड़कन (गति) की चाल को अच्छी प्रकार पहचानने का अभ्यास करने के पश्चात् इस प्रणायाम को निम्न विधि से करें—

प्रथम विधि—किसी सुखासन से विधि के अनुसार बैठकर उस नाड़ी की धड़कन को १ से ६ तक गिनते हुए पूरक १ से ३ तक गिनते हुए आभ्यान्तर कुम्भक १ से ६ तक गिनते हुए रेचक और १ से ३ तक गिनते हुए वाह्य कुम्भक करे। यह एक प्राणायाम हुआ इस प्रकार सात प्राणायाम करे, मात्राएँ इसी क्रमानुसार यथा शक्ति बढ़ाते जाय। इसी प्रकार अनुलोम विलोम रीति से यह प्राणायाम किया जा सकता है।

फल—मन की एकाग्रता तथा विना तार के तार वाले यंत्र अथवा रेडियो के सदृश दूर-दूर स्थानों में बैठे हुए दो मनुष्य एक निश्चित समय पर इस प्राणायाम द्वारा ताल युक्त होकर अपने विचार की तरंगें (धारे) एक दूसरे तक पहुँचा सकते हैं।

दूसरी विधि—उपर्युक्त विधि के परिपक्व होने पर सातों चक्रों पर क्रमानुसार ध्यान करते हुए इस प्राणायाम को करे।

मूलाधार चक्र—पूरक में ऐसी भावना करे कि श्वास उस स्थान में आ रहा है। आभ्यन्तर कुम्भक के पश्चात् रेचक में ऐसी भावना करे की श्वास वहाँ से बाहर निकल रहा है फिर बाह्य कुम्भक करे, इस प्रकार सात प्राणायाम करे इसी प्रकार क्रमानुसार स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूरक चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्धि चक्र, आज्ञा चक्र तथा ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान करते हुए प्राणायाम करे।

फल—चक्र भेदन में सहायता, शरीर के किसी विशेष अंग के विकारी होने पर उस स्थान पर इस प्राणायाम द्वारा प्राण को भरकर विकार को हटाना।

२. **सूर्यभेदी कुम्भक**—बल पूर्वक सूर्य नाड़ी अर्थात् दाहिने नासिका पुट से धीरे-धीरे आवाज के साथ पूरक करें, (प्राण वायु को पूर्णतया कोष्ठ में भरकर नख से शिखा पर्यन्त फैलाकर) बल पूर्वक जब तक वायु को रोक सकें तब तक कुम्भक करें। इसके पश्चात् चन्द्र नाड़ी अर्थात् वाम नासिका पुट से धैर्य के साथ आवाज करते हुए वेग पूर्वक रेचक करें। यह एक प्राणायाम हुआ। आरम्भ में इस प्रकार पाँच प्राणायाम करे, शनैः शनैः शक्ति के अनुसार संख्या बढ़ाते जायँ। इस प्राणायाम में पुनः पुनः केवल सूर्य नाड़ो से ही पूरक और वाम नाड़ी से ही रेचक किया जाय।

सूर्यभेदी प्राणायाम से शरीर में उष्णता तथा पित्त की वृद्धि होती है। वात और कफ से उत्पन्न होने वाले रोग, रक्त दोष, त्वचा दोष,

उदर रोग, कृमि आदि नष्ट होते हैं। जठराग्नि बढ़ती है और कुण्डलिनी शक्ति के जागरण करने में सहायता मिलती है। इस प्राणायाम का अभ्यास गर्मी के दिनों में तथा पित्त प्रधान प्रकृति वाले पुरुषों के लिए हितकर नहीं है।

चन्द्रभेदी प्राणायाम सूर्यभेदी प्राणायाम से बिल्कुल उल्टा अर्थात् चन्द्र स्वर (बायें नासिका पुट) से पूरक और सूर्य स्वर (दाहिने नासिका पुट) से रेचक करने से चन्द्रभेदी प्राणायाम होता है। इससे थकावट और शरीर की उष्णता दूर होती है।

३. उज्जाई-कुम्भक—मुख को किसी कदर झुकाकर कंठ से हृदय पर्यन्त शब्द करते हुए दोनों नासिका पुट से (अथवा दाहिने नासिकापुट से) शनैः शनैः पूरक करे। कुछ देर तक कुम्भक करने के पश्चात् बायें नासिकापुट से इसी प्रकार रेचक करे। यह एक प्राणायाम हुआ। इस प्राणायाम में कुम्भक, पूरक, रेचक स्वरूप परिणाम में किये जाते हैं। कुम्भक में वायु हृदय से नीचे नहीं जाना चाहिए। रेचक में जितना हो सके शनैः शनैः वायु का विरेचन करना चाहिए। इसमें पूरक में नासिका छिद्र द्वारा वायु को बाहर से खींच कर मुख में, मुख से कण्ठ में और कण्ठ से ले जाकर हृदय में धारण किया जाता है। फिर यथा क्रम रेचक में हृदय से कण्ठ में, कण्ठ से मुख में और मुख से वायु को बाहर निकाला जाता है। पाँच से आरम्भ करके शनैः शनैः यथा शक्ति संख्या बढ़ाते जायँ।

फल—कफ प्रकोप, उदर रोग, आमवात, मन्दाग्नि, प्लीहा आदि का दूर होना, अग्नि प्रदीप्त होना एवं कण्ठ, मुख और फेफड़ों की स्वच्छता।

दीर्घसूत्री उज्जाई—इसमें कण्ठ की सहायता से लम्बी, दीर्घ और हलकी आवाज उत्पन्न करते हुए मन की एकाग्रता के लिए केवल पूरक रेचक किया जाता है।

४. शीतली कुम्भक—काक के चोंच की आकृति में जिह्वा ओष्ठ से बाहर निकाल कर वायु को शनैः शनैः पूरक करे। धीरे-धीरे पेट को वायु से पूर्ण करके सूर्यभेदी प्राणायाम के सदृश कुछ देर कुम्भक करने के पश्चात् दोनों नासिकापुट से रेचक करें। पुनः पुनः इसी प्रकार करे।

फल—अजीर्ण, पित्त से उत्पन्न होने वाले रोग, रक्त-पित्त, रक्त-विकार, पेचिश, अम्ल पित्त, प्लीहा, त्रीखा आदि रोग इससे दूर होते हैं, बल और

सौंदर्य की वृद्धि होती है। कफ प्रकृति वाले मनुष्यों के लिए तथा शीत काल में इस प्राणायाम का अभ्यास हितकर नहीं है।

निम्नलिखित प्राणायामों को शीतली के अन्तर्गत समझना चाहिए। इनकी विधि और फल भी लगभग उसी के समान है। शरीर में ठण्ड पहुँचाने तथा क्षय राज यक्ष्मा आदि रोगों को नाश करने में अति उपयोगी होते हैं।

(क) शीतकारी—जिह्वा को ओठों से बाहर निकाल कर और उसका बिल्कुल अगला भाग दाँतों की पंक्ति में ओष्ठों से साधारण हल्का दबाकर छिद्रों से वायु को शीत्कार पूर्वक अर्थात् शीत्कार की आवाज उत्पन्न करते हुए पूरक करे, अन्य सब विधि शीतली के समान।

(ख) काकी प्राणायाम—इसमें ओष्ठों को सिकोड़ कर काक की चोंच के समान बनाकर वायु को शनैः शनैः पूरक किया जाता है, अन्य सब विधि शीतली के समान।

(ग) कवि प्राणायाम—दोनों दाँतों की पंक्तियों को दबा कर उनके छिद्रों द्वारा वायु को शनैः शनैः पूरक करें, अन्य सब विधि पूर्ववत्। वाणी का मीठा और कण्ठ का सुरीला होना यह इसमें विशेषता है।

(घ) भुजंगी प्राणायाम—भुजंग के सदृश मुख को खोल कर वायु को पूरक करे। अन्य सब विधि पूर्ववत्। इन प्राणायामों में कहीं-कहीं पाँच बार केवल पूरक, रेचक करने के पश्चात् छठीं बार कुम्भक करना बतलाया है।

(५) भस्त्रिका कुम्भक—भस्त्रिका प्राणायाम कई प्रकार से किया जाता है। इसके मुख्य चार भेद हैं—मध्यम भस्त्रिका, वाम भस्त्रिका, दक्षिण भस्त्रिका और अनुलोम-विलोम भस्त्रिका।

(क) मध्यम भस्त्रिका—जैसे लुहार की धौंकनी से वायु भरी जाती है, इसी प्रकार दोनों नासिकापुट से वायु को आवाज के साथ धीमे-धीमे लंबा, दीर्घ और वेग पूर्वक मूलाधार तक पूरक करें। बिना कुम्भक किये इसी प्रकार दोनों नासिका पुट से रेचक करे। इस प्रकार बिना आभ्यन्तर और बाह्य कुम्भक के आठ बार पूरक-रेचक करके नवीं बार पूरक करके यथा शक्ति कुम्भक करके दशवीं बार उसी प्रकार धीमे-धीमे दोनों नासिकापुट से रेचक करें। यह प्राणायाम हुआ। इस प्रकार तीन प्राणायाम करें।

(ख) वाम भस्त्रिका—दक्षिण नासिका पुट को वंद करके उपर्युक्त रीति से वाम नासिकापुट से मूलाधार तक आठ बार पूरक, रेचक करके नवीं बार पूरक करके यथा शक्ति कुम्भक करे। तत्पश्चात् उपर्युक्त विधि के अनुसार दक्षिण नासिका पुट से रेचक करे। यह एक प्राणायाम हुआ।

(ग) दक्षिण भस्त्रिका—वाम नासिकापुट बन्द करके दक्षिण नासिका-पुट से आठ बार बिना आभ्यन्तर और बाह्य कुम्भक के उपर्युक्त विधि के अनुसार पूरक रेचक करने के पश्चात् नवीं बार पूरक करके यथा शक्ति कुम्भक करे। तत्पश्चात् वाम नासिकापुट से रेचक करे। यह एक प्राणायाम हुआ।

वाम भस्त्रिका और दक्षिण भस्त्रिका को मिलाकर करने की विधि—

पहले वाम भस्त्रिका का एक प्राणायाम करे, फिर दक्षिण भस्त्रिका का एक प्राणायाम, तत्पश्चात् वाम भस्त्रिका का एक प्रणायाम। इस प्रकार इन तीन प्राणाणायों में दो बार वाम भस्त्रिका और एक बार दक्षिण भस्त्रिका होगा।

(घ) अनुलोम-विलोम भस्त्रिका—जैसे लोहार की धौकनी से वायु भरी जाती है इसी प्रकार बायें नासिकापुट से वायु को ध्वनि के साथ धीमे-धीमे लम्बा, दीर्घ और वेग पूर्वक मूलाधार तक पूरक करे, बिना कुम्भक किये इसी प्रकार दक्षिण नासिकापुट से रेचक करें। ये चार प्राणायाम हुए। इस प्रकार आठ बार बिना कुम्भक किये केवल पूरक रेचक करते हुए नवीं बार वाम नासिकापुट से पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करें। तत्पश्चात् दशवीं बार दक्षिण नासिका पुट से रेचक करे। यह दश प्राणायाम का पहला प्राणायाम हुआ। अब दक्षिण नासिकापुट से आरम्भ करके नवीं बार कुम्भक के पश्चात् दशवीं बार वाम नासिकापुट से रेचक करे। यह दूसरा प्राणायाम हुआ। अब पहले प्राणायाम की भाँति तीसरा प्राणायाम करें।

इन विधियों में पूरक की समाप्ति पर मूलाधार चक्रपर एक क्षण कुछ (कुछ देर) ध्यान के पश्चात् रेचक करें। इसी प्रकार रेचक की समाप्ति पर नासिका के अग्रभाग पर कुछ देर (एक क्षण) ध्यान के पश्चात् पूरक करें। कुम्भक के समय नाभि स्थान मणिपुर चक्रपर ध्यान लगावें। यह प्राणायाम तीन बार ही करें। अर्थात् तीन से अधिक बार कुम्भक बढ़ाने का यत्न न करें। किन्तु तीनों प्राणायामों की संख्या दस से ऊपर

शनैः शनैः यथाशक्ति चार-चार बढ़ाते हुए १४, १८, २२ इत्यादि करते चले जायँ। पूरक, रेचक और कुम्भक का समय भी यथाशक्ति बढ़ाते जायँ।

इस प्राणायाम से त्रिधातु-विकृति से उत्पन्न सब रोग नष्ट हो जाते हैं, आरोग्यता बढ़ती है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है, गर्मी, सर्दी सब ऋतुओं में किया जा सकता है। कुम्भक बढ़ाने, मन के स्थिर करने और कुण्डलिनी जागृत करने में अति उपयोगी है। अभ्यासी गण ध्यान से पूर्व इसे अवश्य करें। भस्त्रिका में रेचक, पूरक अधिक लाभदायक होता है, इसलिए इनकी संख्या अधिक और कुम्भक की कम बतलायी गयी है।

(१) बलहीन या असक्त साधकों को साधारण वेग पूर्वक, (२) स्वस्थ शक्ति साधकों को लम्बा, दीर्घ वेग पूर्वक और (३) अभ्यस्त साधकों को अति वेग पूर्वक पूरक, रेचक करना चाहिए।

रेचक में पूरक से अधिक समय देना चाहिए। इसलिए पूरक और कुम्भक में उतना ही समय देना चाहिए, जिससे रेचक करने के लिए काफी दम बना रहे।

निम्नलिखित दो प्राणायामों को भस्त्रिका के अन्तर्गत समझना चाहिए।

(क) अन्तरगमन प्राणायाम—सिद्ध आसन से बैठकर वाम नासिका-पुट से रेचक करते हुए पूरे उड्डीयान के साथ वाम घुटने पर सिर को टेक देना तत्पश्चात् पूरक करते हुए सीधा हो जाना। इस प्रकार रेचक, पूरक करते हुए दसवीं बार पूरक करके जालन्धर-बन्ध के साथ सिर को घुटने पर रखकर यथाशक्ति बाह्य कुम्भक करना। इसी प्रकार दक्षिण की ओर करे।

(ख) सिद्ध अथवा पद्मासन से बैठकर वाम नासिकापुट से पूरक करें, फिर जालन्धर-बन्ध लगाकर दोनों हाथों की अँगुलियों को आपस में सटाकर उनको उल्टा करके सिर को दबाते हुए यथाशक्ति कुम्भक करें और ऐसी भावना करे कि प्राण ब्रह्मरन्ध्र में चढ़ रहा है। तत्पश्चात् दोनों हाथों को सिर पर से हटाकर और जालन्धर-बन्ध खोल कर दक्षिण नासिकापुट से रेचक करें। इसी प्रकार कई बार करें।

६. भ्रामरी कुम्भक—इस प्राणायाम में पूरक और रेचक की विशेषता है। पूरक वेग से और भ्रमर के शब्द के सदृश शब्द युक्त होता है।

और रेचक भृङ्गी (भ्रामरी) के सदृश मन्द-मन्द शब्द से युक्त होता है। रेचक का महत्त्व अधिक है इसलिए इसका नाम भ्रामरी रखा गया है।

नेत्र बन्द करके भ्रूमध्य में ध्यान करते हुए दोनों नासिकापुट से भृङ्ग अर्थात् भौंरे के सदृश ध्वनि करते हुए लम्बे स्वर में पूरक करे। यथाशक्ति कुम्भक करके भृङ्गी अर्थात् भौंरी के मन्द-मन्द शब्द के सदृश ध्वनि करते हुए कण्ठ से रेचक करें। आवाज मीठी, सुरीली और एक-तान की होनी चाहिए। इसके साथ-साथ मूल और उड्डीयान-बन्ध लगाते जाना चाहिए। कहीं-कहीं साधारण रीति से वेग पूर्वक रेचक करके दृढ़ता पूर्वक जालन्धर-बन्ध लगाकर कण्ठ से उपयुक्त रीति से शब्द करते हुए रेचक करना बतलाया है।

घेरण्ड संहिता में दोनों कानों को अँगुलियों से बन्द करके शब्द सुनने को बतलाया गया है। इस प्रकार पहले झींगुर, भौंरे और पक्षियों के चहचहाने जैसा शब्द सुनाई देता है। फिर क्रमशः घुँघरु, शंख, घंटा, ताल, भेरी, मृदंग, नफीरी और नगाड़े के सदृश शब्द सुनाई देते हैं। इस प्रकार उन शब्दों को सुनते हुए 'सोहं' शब्द का श्रवण होने लगता है।

अनुलोम-विलोम भ्रामरी प्राणायाम—उपर्युक्त विधि के अनुसार वाम-नासिकापुट से पूरक करके कुछ देर कुम्भक के पश्चात् दक्षिण नासिका-पुट से उसी प्रकार रेचक, फिर दक्षिण नासिकापुट से पूरक, वाम से रेचक, वाम से पूरक, दक्षिण से रेचक यह एक प्राणायाम हुआ।

फल—इस प्राणायाम से वीर्य का शुद्ध होकर ऊर्ध्वगामी होना, रक्त एवं मज्जा-तन्तुओं का शुद्ध होना और मन का एकाग्र होना होता है।

ध्वन्यात्मक प्राणायाम—इस प्राणायाम को भी भ्रामरी के अन्तर्गत समझना चाहिए। विधि यह है कि दोनों नासिकापुट से पूरक करके, किंचित् मुँह को खोलकर जिह्वा और कण्ठ के सहारे 'सोहं' का मीठी सुरीली लगातार एक ध्वनि के साथ उच्चारण करो। आवाज के साथ-साथ मूल और उड्डीयान-बन्ध लगाते जाना चाहिए और रेचक करते जाना चाहिए। इसे प्रणवानुसंधान भी कहते हैं।

फल—भ्रामरी प्राणायाम के सदृश।

मूर्च्छा कुम्भक (षण्मुखी सर्वद्वार-बंद मुद्रा)—इस प्राणायाम में पूरक, रेचक, भ्रामरी प्राणायाम के सदृश किया जाता है। उससे इसमें केवल इतनी विशेषता है कि यह दोनों कान, नेत्र, नासिका और मुँह पर

क्रमशः दोनों हाथों के अंगुष्ठ, तर्जनी, मध्यमा और अनामिका तथा कनिष्ठिका को रखकर किया जाता है, पूरक के समय नासिकापुट से मध्यमा को किंचित् ऊपर उठाकर पूरक किया जाता है। इसके पश्चात् नासिकापुट को मध्यमा से दबाकर कुम्भक किया जाता है। कुम्भक की समाप्ति पर फिर नासिकापुट से मध्यमा को शिथिल करके रेचक किया जाता है। यह प्राणायाम अनुलोम विलोम रीति से भी उपर्युक्त विधि के अनुसार किया जा सकता है।

फल—इससे मन मूर्छित और शान्त होता है। अतः इसका नाम मूर्छा है।

८. प्लावनी कुम्भक—यथाविधि आसन से बैठकर दोनों नासिका-पुट से पूरक करे। नाभि पर मन को एकाग्र कर सब शरीर मात्र की वायु को उदर में भरकर पेट की चारों ओर से मसक या रबड़ के गोले-सदृश फुलाकर ऐसी भावना करे कि सारे शरीर का वायु पेट में एकत्र हो गया है और शरीर के किसी अङ्ग-प्रत्यङ्ग में वायु नहीं रहा है। यथा शक्ति इस स्थिति में कुम्भक करके दोनों नासिका से शनैः शनैः रेचक कर दें।

फल—प्राणवायु पर पूर्णतया अधिकार, पेट के सब प्रकार के रोग, कोष्ठवद्धता आदि का नाश, अपान वायु की शुद्धि, जठराग्नि, शुद्ध वीर्य तथा रक्त की शुद्धि, जल में सुखपूर्वक तैरना इत्यादि।

केवल कुम्भक—केवल कुम्भक बिना पूरक, रेचक किये हुए एकदम स्वाँस की गति को जहाँ की तहाँ रोक देने से होता है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥

(गीता ४।२९)

कोई अपान वायु में प्राण को हवन करते हैं (पूरक सहित अथवा आभ्यन्तर कुम्भक करते हैं)। कोई प्राण वायु में अपान वायु को होमते हैं। (रेचक सहित अथवा बाह्य कुम्भक करते हैं)। कोई प्राण-अपान (दोनों) की गति को रोककर (केवल कुम्भक) प्राणायाम करते हैं। सहित कुम्भक के निरन्तर अभ्यास से केवल कुम्भक होने लगता है। केवल कुम्भक की विधि हठयोग द्वारा-तीनों बन्धों के साथ प्राण को हृदय से नीचे ले जाकर और अपान को मूलाधार से ऊपर उठाकर समानवायु के स्थान नाभि पर दोनों के टक्कर देकर मिलाने से हठयोग विधि से केवल

कुम्भक किया जाता है। पर इसमें हानि पहुँचने की सम्भावना है और राजयोगियों के लिए अधिक हितकर नहीं है, उनके लिए सबसे उत्तम प्रकार निम्नलिखित है—

साधारण स्वस्थ अवस्था में मनुष्य के श्वास की गति एक दिन-रात २१६०० बार बतलायी जाती है। इस स्वाभाविक गति की संख्या गायन, भोजन, करने, चलने, निद्रा, मैथुन, व्यायाम आदि में क्रमशः बढ़ जाती है। जिस प्रकार साधारण घटनाओं को छोड़कर एक घड़ी अथवा अन्य यंत्रों की आयु उसके काम करने की शक्ति पर निश्चित कर देता है। इसी प्रकार मनुष्य की आयु उसके श्वास-प्रश्वास की गति पर निर्भर बतलायी जाती है। श्वास-प्रश्वास की संख्या जिस परिणाम से बढ़ती जायगी उसी परिणाम से आयु का क्षय और जिस परिणाम से घटती जायगी उसी परिणाम से आयु की वृद्धि होती जायगी। केवल कुम्भक में श्वास-प्रश्वास की गति का निरोध होता है। प्राण और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए प्राण के रुकने से मन का भी निरोध हो जाता है, जो योग का अंतिम ध्येय है।

केवल कुम्भक की विधि राजयोग द्वारा—श्वास-प्रश्वास की गति में प्रणव-उपासना की भावना करे, अर्थात् हर समय यह भावना रहे कि श्वास में 'ओ' और प्रश्वास में 'अम्' रूप से प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में 'ओम्' का जाप हो रहा है। इस ओम् के अजपाजाप को केवल कुम्भक में परिणत करने की विधि यह है कि 'ओ' से श्वास लेकर जितनी देर तक शान्ति पूर्वक रोक सकें रोकें, उसके पश्चात् 'अम्' से छोड़ दे। क्रमशः कुम्भक से अभ्यास बढ़ाता रहे।

इसका अभ्यास नासिका के अग्रभाग, भृकुटि, ब्रह्मरन्ध्र आदि स्थानों पर गुरु आज्ञानुसार करना चाहिए। 'ओ' और 'अम्' के उच्चारण की आवश्यकता नहीं है केवल अपने नियत स्थान पर श्वास-प्रश्वास की गति पर इस भावना से ध्यान देना होता है।

प्राणायामों को किसी विशेष अनुभवी से सीखकर उनका अभ्यास करना चाहिए, अन्यथा लाभ के स्थान पर हानि पहुँचने की सम्भावना है। नियमित अहार आदि जो योगियों के लिये बतलाये गये हैं और विशेष रूप से योग दर्शन में बतलाये हुए नियमों का पालन करना भी अति आवश्यक है।

यद्यपि सभी प्राणायाम स्वस्थ निरोगता, जठराग्नि, दीर्घ आयु, नाड़ी तथा रक्तशोधन और मन की स्थिरता के लिए अति उपयोगी हैं और सबकी जानकारी आवश्यक है। पर सबके अभ्यास के लिए पर्याप्त समय मिलना कठिन है, इसलिए राजयोग के साधकों के लिए चतुर्थ प्राणायाम का अभ्यास ही अधिक हितकर हो सकता है। निम्न तीन प्राणायामों को चौथे प्राणायाम और ध्यान तथा अन्य सब प्रकार के प्राणायामों का पूर्व अंग बनाने में शीघ्र सफलता प्राप्त हो सकती है।

१. नाड़ीशोधन-प्राणायाम—वाम नासिकापुट से एकदम बाहर साँस फेंके, फिर उसी नासिकापुट से बाहर से वायु को खींचकर बिना रोके हुए एकदम दूसरे दाहिने नथुने से बाहर फेंक दे। पुनः दाहिने से वायु को खींच कर बाये से फेंके। इस प्रकार कई बार करें। रेचक, पूरक में नासिकापुट को बतलाए हुए नियमानुसार निश्चित अँगुलियों से खोलते और बन्द करते रहें।

२. कपाल भाँति—इसकी विधि घेरण्ड संघिता में विधि पूर्वक बतलाई गई है।

३. अनुलोप-विलोम भस्त्रिका प्राणायाम—इसकी विधि आठ कुम्भकों में पाँचवें प्राणायाम में बतलायी है।

संगति—चौथे प्राणायाम के लक्षण बतलाते हैं।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ—बाह्य–आभ्यन्तर–विषय आक्षेपी = बाहर अंदर के विषय को फेंकने वाला अर्थात् आलोचना करने वाला, चतुर्थः = चौथा प्राणायाम है।

अन्वयार्थ—बाहर-अंदर के विषय को फेंकने वाला अर्थात् आलोचना करने वाला चौथा प्राणायाम है।

व्याख्या व्यास भाष्य—

देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयपरिदृष्ट आक्षितः। तथाऽऽभ्यन्तरविषयपरिदृष्ट आक्षितः। उभयथा दीर्घसूक्ष्मः। तत्पूर्वको भूमिजयात्क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः। तृतीयस्तु विषयानालोचितोगत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसंख्याभि परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात्क्रमेण भूमिजपादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थ प्राणायाम इत्ययं विशेष इति ॥ ५१ ॥

देश काल और संख्या से परिदृष्ट जो बाह्य-विषय (नासा द्वादशान्तादि बाह्य प्रदेश) है उसके आक्षेप पूर्वक (आलोचनपूर्वक = ज्ञानपूर्वक = विषयपूर्वक = विचारपूर्वक), ऐसे ही देशकाल और संख्या से परिदृष्ट जो आभ्यन्तर विषय (हृदय नाभि-चक्रादि आभ्यन्तर प्रदेश) है जो उसके आक्षेप पूर्वक दीर्घ और सूक्ष्म दोनों प्रकार से उत्तरोत्तर क्रम से भूमियों के जय के पश्चात् जो श्वास और प्रश्वास इन दोनों की गति का अभाव है, वह चौथा प्राणायाम है। तीसरा प्राणायाम तो (बाह्य और आभ्यन्तर) विषय के आलोचन बिना ही (श्वास-प्रश्वास की) गति के अभाव से होता है। वह एकदम ही आरम्भ होकर देश काल और संख्या से परिदृष्ट दीर्घ और सूक्ष्म हो जाता है। चौथे प्राणायाम में यह विशेषता है कि यह श्वास-प्रश्वास (आभ्यन्तर और बाह्य) विषय को अवधारण करके उन दोनों (विषयों) के आक्षेपपूर्वक क्रमानुसार भूमियों के जय से (श्वास-प्रश्वास की) गति के अभाव से होता है।

व्यास भाष्य का भावार्थ—पिछले सूत्र में प्राणायाम के तीन भेद रेचक, पूरक और कुम्भक बतलाते हैं।

१. रेचक प्राणायाम से जब स्वाँस को बाहर निकाल कर उसकी गति का प्रभाव किया जाय अर्थात् उसको अन्दर ही रोक दिया जाय, तब वह रेचक सहित कुम्भक अथवा बाह्य कुम्भक कहलाता है।

२. पूरक प्राणायाम से जब स्वाँस को अन्दर खींच कर उसकी गति का अभाव किया जाय अर्थात् उसे अन्दर ही रोक दिया जाय, तब वह पूरक सहित कुम्भक अथवा आभ्यन्तर कुम्भक कहलाता है।

३. जब प्राणवायु को जहाँ का तहाँ एक दम विना रेचक पूरक के केवल विधारण प्रयत्न से रोक कर श्वास-प्रश्वास की गति का अभाव किया जाय, तब वह केवल कुम्भक कहलाता है।

४. चौथा प्राणायाम बाह्य तथा आभ्यन्तर कुम्भक के बिना केवल रेचक, पूरक द्वारा बाह्य तथा आभ्यन्तर विषय (प्रदेश) के केवल आलोचन पूर्वक स्वयं ही श्वास-प्रश्वास की गति विरोध से होता है। इसमें तीसरे प्राणायाम की यह विशेषता है कि जहाँ तीसरा प्राणायाम रेचक, पूरक के बिना एक दोनों श्वास-प्रश्वास की गति के विषय में अभाव से होता है वहाँ चौथा प्राणायाम रेचक द्वारा बाह्य तथा आभ्यन्तर (प्रदेश) के आलोचना पूर्वक उत्तरोत्तर भूमियों के जय के क्रम से स्वयं ही श्वास-

प्रश्वास की गति के अभाव से होता है। उदाहरणार्थ उसकी चार विधियाँ बतलाये देते हैं।

पहली विधि—केवल रेचक द्वारा जहाँ तक जा सके श्वास को बाहर ले जायँ। बिना रोके हुए वहाँ से पूरक द्वारा जहाँ तक जा सके अन्दर ले जाय। यह एक प्राणायाम हुआ। इस प्रकार ११, १५, २० इत्यादि की संख्या में बिना कुम्भक किए हुए केवल रेचक, पूरक देर तक करते रहने से स्वयं दीर्घ और सूक्ष्म होकर दोनों श्वास-प्रश्वास की गतियों का स्वयं अभाव हो जाता है।

दूसरी विधि—ओ३म् के मानसिक जाप के साथ यह भावना करे कि 'ओ' से स्वाँस अन्दर आ रहा है और 'अम्' से बाहर निकल रहा है। इस क्रम से श्वास-प्रश्वास द्वारा ओम् का मानसिक जाप करते रहें अर्थात् बाह्यप्रदेश तथा आभ्यन्तर प्रदेश हृदय नाभि आदि तक जहाँ तक श्वास जाय वहाँ तक उसकी गति की आलोचना पूर्वक दीर्घकाल तक ओम् का इस विधि से जाप करे तो स्वयं श्वास-प्रश्वास दीर्घ और सूक्ष्म होते निरुद्ध हो जायगा।

तीसरी विधि—नासिका के अग्रभाग भृकुटी, ब्रह्मरन्ध्र अथवा अन्य किसी चक्र पर इस भावना से ओइम् का मानसिक जाप करें कि 'ओ' से उसी प्रदेश में श्वास अन्दर आ रहा है और 'अम्' से बाहर निकल रहा है। इस प्रकार उस विशेष स्थान को श्वास-प्रश्वास का केन्द्र बनाए हुए निरन्तर अभ्यास से श्वास-प्रश्वास की गति दीर्घ और सूक्ष्म होते हुए स्वयं निरुद्ध हो जाती है।

चौथी विधि—ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान करते हुए श्वास-प्रश्वास की गति में ऐसी भावना करना कि 'ओ' से श्वास मेरुदण्ड के भीतर सुषुम्णा नाड़ी में होता हुआ मूलाधार तक जा रहा है और 'अम्' के साथ वहाँ से ब्रह्मरन्ध्र में लौट रहा है।

चक्रभेदन में इस प्राणायाम का अभ्यास—इसी प्रकार निचले चक्रों-मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक इत्यादि में ध्यान करते हुए 'ओ' से श्वास और 'अम्' से प्रश्वास की गति की भावना करते हुए उसको ऊपर के चक्रों में आलोचन करने से किया जाता है।

विशेष वक्तव्य—॥ सूत्र ५१ ॥–इस सूत्र के अर्थ भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न किये हैं। 'आक्षेप' के अर्थ फेंकने से है। इससे किसी ने

उलाँघने = त्यागने = हटाने से अभिप्राय लिया है और किसी ने विषय करने = जानने = आलोचन करने से अभिप्राय लिया है। यहाँ सूत्र के आशय को अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से मूल व्यासभाष्य, उसके शब्दार्थ, भावार्थ तथा चतुर्थ प्राणायाम के चार उदाहरण भी दे दिये हैं। चौथे प्राणायाम की विधियाँ राजयोग के उत्तम अधिकारी के लिए हैं तथा गोपनीय और गुरु-गम्य हैं। आक्षेपी के अर्थ उलाँघने अर्थात् त्यागने करने से सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा—

बाहर और अन्दर के विषय को अर्थात् रेचक और पूरक को त्यागने वाला चौथा प्राणयाम है। उसकी विधि निम्न प्रकार होगी।

पाँचवीं विधि—मूलाधार, आज्ञा, ब्रह्मरन्ध्र आदि किसी चक्र अथवा नासिका के अग्रभाग आदि किसी स्थान को रेचक, पूरक के श्वास-प्रश्वास की गति बनाते हुए अर्थात् ऐसी भावना करते हुए कि 'ओ' से विशेष स्थान पर श्वास आ रहा है और 'अम्' से छूट रहा है, ओइम् का मानसिक जाप करे। उसके निरन्तर अभ्यास से श्वास-प्रश्वास की गति निरन्तर निरोध हो जाता है। इस विधि को सबसे प्रथम स्थान देना चहिए। चक्र भेदन में इस विधि से शीघ्र सफलता प्राप्त हो सकती है।

यदि उपर्युक्त रीति से जाप करने में कठिनाई प्रतीत हो तो उस विशेष स्थान पर केवल मानसिक 'ओऽम्' जप करें अथवा ऐसी भावना करें कि वहाँ 'ओऽम्' जाप हो रहा है या 'ओऽम्' शब्द को सुन रहा हूँ। मुख्य बात यह है कि उस विशेष ध्येय स्थान पर मन ठहरा रहे।

संगति—प्राणायाम का फल बताते हैं—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥ (योग दर्शन)

विवेक ज्ञान रूपी प्रकाश तम तथा रजोगुण के कारण अविद्यादि क्लेशों के मलों से ढका हुआ है। प्राणायाम के अभ्यास से जब यह आवरण क्षीण हो जाता है, तब वह प्रकाश प्रकट होने लगता है। जैसे पंचशिखाचार्य ने कहा है—

तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य ॥

'प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है, उससे मल धुल जाते हैं और ज्ञान का प्रकाश होता है।'

इसी प्रकार मनु भगवान् का श्लोक है—

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

जैसे अग्नि से धौंके हुए स्वर्ण आदि धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राणायाम करने से इन्द्रियों के मल नष्ट हो जाते हैं।'

संगति—प्राणायाम का दूसरा फल बताते हैं—

धारणासु च योग्यता मनसः॥ ५३॥ (पों० द०)

प्राणायाम से मन स्थिर होता है। जैसे कि 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्रणास्य' पाद १ सूत्र ३४ में बतलाया है और उसमें धारणा की योग्यता प्राप्त हो जाती है। योग दर्शन के सूत्रों में इस प्रकार की अनेक महत्त्व पूर्णवातें कही गई है।

संगति—प्रत्याहार का लक्षण बताते हैं—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः॥५४॥

प्रत्याहार का अर्थ है पीछे हटना, उल्टा होना, विषयों से विमुख होना। इसमें इन्द्रियाँ अपने बहिर्मुख विषय से हट कर अन्तर्मुखी होती हैं। इस कारण इसको प्रत्याहार कहा गया है, जिस प्रकार मधु बनाने वाली मक्खियाँ रानी मक्खी के उड़ने पर उड़ने लगती हैं और बैठने पर बैठ जाती हैं, इसी प्रकार इन्द्रियाँ चित्त के अधीन होकर सभी कार्य करती हैं। जब चित्त का बाहर विषयों से उपराम होता है, तभी उनको ग्रहण करती हैं। यम, नियम, प्राणायामादि के प्रभाव से चित्त जब बाहर के विषयों से विरक्त होकर समाहित होने लगता है। तव इन्द्रियाँ भी अन्तर्मुख होकर उस जैसा अनुकरण करने लगती हैं और चित्त के निरुद्ध होने पर स्वयं निरुद्ध हो जाती हैं। यही उनका प्रत्याहार है। इस अवस्था में चित्त तो बाह्य विषयों से विमुख होकर आत्मतत्त्व के अभिमुख होता है, पर इन्द्रियाँ केवल बाह्य-विषयों से विमुख होती हैं। चित्त के सदृश आत्मतत्त्व के अभिमुख नहीं होतीं। इसलिए 'अनुकार इव' अर्थात् नकल जैसा कहा गया है। इस प्रकार चित्त के निरुद्ध होने पर इन्द्रियों को जीतने के लिए अन्य किसी उपाय की अपेक्षा नहीं रहती।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

(कठोपनिषद् २।१।७)

'स्वयम्भू ने (इन्द्रियों के) छेदों को बाहर से छेदा है अर्थात् इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है। इस कारण मनुष्य बाहर देखता है, अपने अन्दर नहीं देखता। कोई विरला धीर पुरुष अमृत को चाहता हुआ आँखों अर्थात् इन्द्रियों को बंद करके (अंतर्मुखी होकर प्रत्याहार द्वारा) अन्तरात्मा को देखता है।'

प्रत्याहार का फल बताते हैं—

ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

सूत्र में प्रत्याहार से इन्द्रियों की परमवश्यता बतलाथी हैं। यह परमवश्यता किस अपरमवश्यता को अपेक्षा से है, इसको व्यास भाष्य में इस प्रकार बतलाया है—१—कोई कहते हैं शब्द आदि विषयों में आसक्त न होना अर्थात् विषयों के अधीन न होकर उनको अपने अधीन रखना इन्द्रियवश्यता अर्थात् इन्द्रियजय है।

२—दूसरे कहते हैं कि वेद-शास्त्र से अविरुद्ध विषयों का सेवन और उनके विरुद्ध विषयों का परित्याग इन्द्रियजय है।

३—तीसरे कहते हैं कि विषयों में न फँसकर अपनी इच्छा से विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्प्रयोग होना इन्द्रियजय है।

४—चौथे कहते हैं कि राग-द्वेष के अभावपूर्वक सुख-दुःख से शून्य शव्दादि विषय का ज्ञान होना इन्द्रियजय है।

इन सब उपर्युक्त इन्द्रियजन्य लक्षणों में विषयों का सम्बन्ध बना ही रहता है, जिससे निर्णय की आशङ्का दूर नहीं हो सकती। इसलिए यह इन्द्रियों की परमवश्यता नहीं वरं अपरवश्यता है।

भगवान् जैगीषव्य का मत है कि चित्त की एकाग्रता के कारण इन्द्रियों का विषयों की विषयों में प्रवृत्ति न होना इन्द्रियजय है। उस एकाग्रता से चित्त के निरुद्ध होने पर इन्द्रियों का सर्वथा निरोध हो जाता है और अन्य किसी इन्द्रियजय के उपाय में प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए यही इन्द्रियों की परमवश्यता है, जो सूत्रकार का अभिमत है।

प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनंजयः॥
(गोरक्ष संहिता)

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय—ये दश प्रकार के वायु अर्थात् प्राण-वायु हैं।

श्वास का अन्दर ले जाना और बाहर निकलना, मुख और नासिका द्वारा गति करना, मुक्त अन्न-जल को पचाना और अलग करना, अन्न को पुरीष, पानी को पसीना और मूत्र रसादि को वीर्य बनाना प्राण-वायु का काम है। हृदय से लेकर नासिका पर्यन्त शरीर के ऊपरी भाग में वर्तमान है, ऊपर के इन्द्रियों का काम उसके आश्रित है।

अपान का वायु का काम गुदा से मल, उपस्थ से मूत्र और अण्डकोष से वीर्य निकालना तथा गर्भ आदि को नीचे ले जाना, कमर, घुटने और जाँघ का काम करना है। नीचे की ओर गति करता हुआ, नाभि से लेकर पादतल तक अवस्थित है, निचली इन्द्रियों का इसके अधीन हैं।

समान—देह के मध्यभाग में नाभि से हृदय तक वर्तमान है। पचे हुए रस आदि सब अंगों और नाड़ियों में बराबर बाँटना इसका काम है।

व्यान-- इसका मुख्य स्थान उपस्थ-मूल स्थान से ऊपर है, सारी स्थूल और सूक्ष्म नाड़ियों में संचार करता हुआ शरीर के सब अंगों में रुधिर का संचार करता है।

उदान—कण्ठ में रहता हुआ सिर पर्यन्त गति करने वाला है, शरीर को उठाये रखना इसका काम है। उसके द्वारा शरीर के व्यष्टि प्राण का समष्टि प्राण से सम्बन्ध है। उदान द्वारा ही मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से बाहर निकलना तथा सूक्ष्म शरीर के कर्म, गुण, वासनाओं और संस्कारों के अनुसार गर्भ में प्रवेश होना होता है। योगीजन इसी के द्वारा स्थूल शरीर से निकलकर लोक लोकान्तर में घूम सकते हैं।

नागवायु—उद्गारादि (छींकना आदि) कूर्मवायु, संकोचनीय, कृकरवायु, क्षुधा, तृष्णादि, देवदत्तवायु निद्रा-तन्द्रा आदि और धनञ्जय-वायु पोषणादि का कार्य करता है।

इनमें से अगले पाँच मुख्य हैं, पिछले पाँच उन्हीं के अन्तर्गत हैं।

हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुह्यमण्डले।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः॥
व्यानो व्यापी शरीरे तु प्रधानाः पञ्च वायवः॥

(गोरक्ष संहिता ३०)

हृदय में प्राण वायु, गुह्यदेश में अपान, नाभिमण्डल में समान, कण्ठ में उदान और सारे शरीर में व्यान व्याप्त है।

प्राणों को अपने अधिकार में चलाने वाले मनुष्य का अधिकार उसके शरीर, इन्द्रियों तथा मन पर हो जाता है। प्राणों को वश में करने का नाम प्राणायाम है।

प्राणवायु का स्थान हृदय है, यहाँ व्याप्त होकर नासिका द्वारा बाहर चलता है। अपान गुदा में व्याप्त होकर नीचे की ओर गति करता है। समान नाभि में व्याप्त होकर मुक्त अन्न आदि के रस को अङ्गों और नाड़ियों में पहुँचाता है।

पूरक में प्राण वायु को गुदास्थान तक ले जाकर अपान वायु से मिलाया जाता है, रेचक में अपान को प्राण द्वारा ऊपर की ओर खींचा जाता है। कुम्भक में प्राण और अपान दोनों की गति को समान के स्थान नाभि में रोक दिया जाता है। इससे रज और मल का दग्ध होकर सत्त्व का प्रकाश बढ़ता है और मन शीघ्र एकाग्र हो जाता है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायाम परायणाः॥

(गीता ४।२९)

कई योगी अपानवायु में प्राणवायु को होमते हैं (पूरक करते हैं) वैसे ही कुछ योगी जन प्राण में अपान का हवन करते हैं (रेचक करते हैं) तथा कई प्राण और अपान की गति को रोककर (कुम्भक करके) प्राणायाम के परायण होते हैं। प्राणायाम से मनुष्य स्वस्थ एवं नीरोग रहकर दीर्घायु तथा मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर सकता है। मन का प्राण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन का रोकना अति कठिन है, पर प्राण के निरोध तथा वशीकरण से मन का निरोध एवं वशीकरण करना सुगम हो जाता है इसलिए प्राणायाम योग का आवश्यक साधन है।

सूक्ष्म प्राण का वर्णन—मनुष्य शरीर में प्राण-प्रवाहिनी नाड़ियाँ असंख्य हैं, इनमें से पंद्रह मुख्य हैं—(१) सुषुम्णा, (२) इड़ा, (३) पिंगला, (४) गांधारी, (५) हस्तजिह्वा। ये दोनों क्रमशः वाम और दक्षिण नेत्रों से वाम और दक्षिण पैर के अँगूठे पर्यन्त चली गयी हैं। (६) पूषा, (७) यशस्विनी क्रमशः दक्षिण और वाम कर्ण में श्रवण-साधनार्थ और (८) शूरागन्ध ग्रहणार्थ नासिका देश में भ्रूमध्यपर्यन्त जाती है, (९) कुहू मुख

में जाती है, (१०) सरस्वती जिह्वा के अग्रभाग पर्यन्त जाकर इसके ज्ञान और वाक्यों को प्रकट करती है, (११) वारुणी, (१२) अलम्बुषा, (१३) विश्वोदरी, (१४) शंङ्खिनी, (१५) चित्रा। इन पंद्रह में से भी सुषुम्णा, इड़ा, पिङ्गला—ये तीन प्रधान हैं। (जिनका योग से घनिष्ठ सम्बन्ध है) इन तीनों में सुषुम्णा सर्वश्रेष्ठ है। यह नाड़ी अति सूक्ष्म नली के सदृश है, जो गुदा के निकट से मेरुदण्ड के भीतर होती हुई मस्तिष्क के ऊपर तक चली गयी है। इसी स्थान (गुदास्थान के निकट) से इसके वाम भाग से इड़ा और दक्षिण भाग से पिङ्गला नासिका-मूलपर्यन्त चली गयी है।

वहाँ भ्रूमध्य में ये तीनों नाड़ियाँ परस्पर मिल जाती हैं। सुषुम्णा को सरस्वती, इड़ा को गङ्गा और पिङ्गला को यमुना भी कहते हैं। गुदा के समीप जहाँ से ये तीनों नाड़ियाँ पृथक् होती हैं, उसको 'मुक्त त्रिवेणी' और भ्रूमध्य में जहाँ ये तीनों पुनः मिल गयी हैं, उसको 'युक्त त्रिवेणी' कहते हैं।

साधारणतया प्राण शक्ति निरन्तर इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों से श्वास-प्रश्वास रूप से प्रवाहित होती रहती है। इड़ा को चन्द्र-नाड़ी और पिंगला को सूर्य-नाड़ी कहते हैं। इड़ा तमः प्रधान और पिङ्गला रजः प्रधान है। श्वास कभी दायें नथुने से अधिक वेग से चलता है, कभी बायें से और कभी दोनों से समान गति से प्रवाहित होता है। जब बायें नथुने से श्वास अधिक वेग से चलता रहे तो उसे इड़ा 'चन्द्र स्वर' कहते हैं और दायें से अधिक वेग से बहे तो उसे पिङ्गला व 'सूर्यस्वर' कहते हैं। जब दोनों नथुनों से समान गति से अथवा एक क्षण एक नथुने से, दूसरे क्षण दूसरे नथुने से प्रवाहित हो तो उसे सुषुम्णा स्वर कहते हैं।

स्वस्थ मनुष्य का स्वर प्रतिदिन प्रातः काल सूर्योदय के समय से ढाई-ढाई घड़ी के हिसाब से क्रमशः एक-एक नथुने से चला करता है इस प्रकार अहोरात्र (एक दिन रात) से बारह बार (बारह वक्त) बायें और बारह बार ही दायें नथुने से क्रमानुसार श्वास चलता है। किस दिन किस नथुने से श्वास चलता है, इसका निश्चित नियम है—

आदौ चन्द्रः सिते पक्षे भास्करस्तु सितेतरे।
प्रतिपादो दिनान्याहुस्त्रीणि त्रीणी क्रमोदये ॥

(पवन विजय स्वरोदय)

शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा तिथि से तीन दिन की वारी से चन्द्र से (बायें नथुने से) कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से तीन-तीन दिन की वारी से सूर्य नाड़ी (दायें नथुने) से सूर्योदय के समय श्वास (ढाई घड़ी तक) प्रथम प्रवाहित होता है।

इनकी विशेष जानकारी शिवस्वरोद आदि ग्रंथों में देखी जा सकती है।

शारीरिक विकार एक रोग की अवस्था में स्वर अनियमित रूप से चलने लगते हैं। प्रतिश्याय (जुकाम) की अवस्था में सम्भवत: पाठकों को स्वयं इसका अनुभव हुआ होगा। उस अवस्था में अपने प्रयत्न-द्वारा स्वर को बदलने से रोग निवृति में बड़ी सहायता मिलती है। स्वर साधना से स्वेच्छानुसार स्वर का बदलना अति सुगम हो जाता है।

जब इड़ा (चन्द्र—वाम स्वर) चल रहा हो तब स्थायी काम करना चाहिए, जिसमें अल्प श्रम और प्रबन्ध की आवश्यकता हो तथा दूध, जल आदि तरल पदार्थों के पीने, पेशाब करने, यात्रा और भजन, साधन आदि शान्ति के कार्य करने चाहिए।

पिङ्गला (सूर्य—दायें स्वर) चलने के समय इनसे अधिक कठिन कार्य करने चाहिए, जिनमें अधिक परिश्रम अपेक्षित हो तथा कठिन यात्रा, मेहनत के कार्य (व्यायाम आदि), भोजन, शौच, स्नान और शयन आदि करने चाहिए।

सुषुम्णा (जब दोनों स्वर सम अथवा एक-एक क्षण में बदलते हुए चल रहे हों) में योग साधन तथा सात्विक धर्मार्थ कार्य करने चाहिये।

दिवा न पूजयेल्लिङ्गं रात्रावपि न पूजयेत्।
सर्वदा पूजयेल्लिङ्गं दिवारात्रनिरोधतः॥

(पवन विजय स्वरोदय)

दिन में अर्थात् जब रजो-गुण प्रधान सूर्य-स्वर चल रहा हो, तब योग-साधन न करे और रात्रि में भी अर्थात् जब तमः प्रधान चन्द्र-स्वर चल रहा हो, तब भी योगाभ्यास न करे। दिन रात दोनों अर्थात् सूर्य और चन्द्र दोनों स्वरों का निरोध करके सुषुम्णा के समय जो पिङ्गला और इडा रूपी दिन और रात दोनों का सन्धि समय है उसमें सदा योगाभ्यास करें।

इस सूत्र की व्याख्या बताते हुए कपाल-भाँति प्राणायाम अथवा अन्य प्राणायाम करने से सुषुम्णा स्वर चलने लगता है। अत: अभ्यास के आरम्भ में (ध्यानादि के पूर्व) प्राणायाम कर लेना चाहिए।

स्वर-साधन—स्वर बदलने की क्रियाएँ

१. जो स्वर चलाना हो उस नथुने पर कुछ समय तक ध्यान करने से वह स्वर चलने लगता है।

२. जो स्वर चलाना हो उसके विपरीत करवट से लेटकर पसली के निकट तकिया दबाने से कुछ काल में वह स्वर चलने लगता है।

३. जो स्वर चलाना हो उसके विपरीत स्वर में रूई अथवा वस्त्र की गोली रखने से वह चलने लगता है।

४. बंद स्वर को अंगुठे या अंगुली से दबाकर चालू स्वर से श्वास लेकर पुन: उसे दबाकर बंद स्वर से श्वास निकाले। इस प्रकार कई बार करने से बंद स्वर चलने लगता है।

५. दौड़ने, परिश्रम करने और प्राणायाम आदि करने से स्वर बदल जाता है। ज्वर और जुकाम आदि रोगों की अवस्था में स्वर-परिवर्तन से रोग की शीघ्र निवृत्ति होती है।

स्वर साधन की सिद्धि से इच्छानुसार सुगमता से स्वर बदला जा सकता है। उसके अभ्यास की एक विधि यह है कि दिन के समय सूर्योदय से चन्द्र स्वर के निश्चित समय से चन्द्र स्वर चलायें। अपने बायें नथुने की ओर ओऽम् का जप करते हुए ध्यान करने से बायाँ (चन्द्र) स्वर चलता रहेगा, भोजन और शौचादि के समय इससे विपरीत स्वर (सूर्य-स्वर) ध्यान द्वारा चलायें। रात्रि के सयय सूर्यास्त पर सूर्य स्वर के निश्चित समय से सूर्य स्वर चलायें। दायें नथुने की ओर ओऽम् का जप करते हुए ध्यान रखने से सूर्य स्वर चलता रहेगा। जल और दूध आदि पीने तथा मूत्र त्यागादि के समय विपरीत नथुने पर ध्यान रखकर चन्द्र स्वर चलायें।

दूसरी विधि—प्रात: काल सूर्योदय के समय से ढाई-ढाई घड़ी के हिसाब से क्रमश: एक-एक नथुने से स्वाभाविक स्वर चलायें।

इसी प्रकार योगाभ्यास, भजन ध्यानादि के आरम्भ करने से पूर्व नासिका के अग्रभाग के मध्य में नोक पर ध्यान करने से सुषुम्णा स्वर चलाया जा सकता है।

तत्त्व—स्वरों का तत्त्वों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वरोदय के प्रायः सभी ग्रन्थों में विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है।

तत्त्व पाँच हैं—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी। ये प्रत्येक स्वर के साथ चलते रहते हैं।

प्रथमं वहते वायुर्द्वितीयं च तथानलः।
तृतीयं वहते भूमिश्चतुर्थं वारूणो वहेत ॥

(७१ शिवस्वरोदय)

प्रथम वायु तत्त्व बहता है, द्वितीय बार अग्नि तत्त्व, तृतीय बार भूमि तत्त्व, चतुर्थ बार वरुण (जल) तत्त्व और पाँचवीं बार आकाश तत्त्व बहता है।

तत्त्व सम्बन्धी सामान्य बातें तथा किस समय कौन तत्त्व चल रहा है इनको दी हुई तालिका द्वारा पाठक जान सकेंगे।

तत्त्व पहचान को रीति

१. हाथ के दोनों अँगूठों से कान के दोनों छिद्र, बीच की दोनों अंगुलियों से नथुनों, दोनों अनामिका और दोनों कनिष्ठिका अंगुलियों से मुँह तथा दोनों तर्जनियों से दोनों आँखें बंद करने पर जिस तत्त्व का रंग दिखलाई दे उसी का उदय समझना चाहिए।

२. दर्पण (आईना) पर जोर से श्वास मारने पर उसकी भाप से दर्पण पर जिस तत्त्व के चिह्न बने उसी का उदय समझना चाहिये।

३. जैसा मुख का स्वाद हो उससे उसी तत्त्व का उदय समझना चाहिये।

४. शान्ति से बैठकर श्वास लें, फिर देखें जिस तत्त्व के अनुसार श्वास की गति हो और जिस तत्त्व के अनुसार श्वास का परिणाम हो, उसी तत्त्व का उदय समझना चाहिये।

तत्त्व साधन विधि—१. पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आकाश—इस क्रम से एक-एक तत्त्व का साधन करना चाहिए।

२. जो तत्त्व साधना है उस तत्त्व के आकार एवं रंग का यंत्र बनवा कर उस तत्त्व की बाह्य गति के परिणाम-अनुसार दूर रखकर ओऽम् के मानसिक जाप के साथ त्राटक करना चाहिए।

३. ऐसी भावना करनी चाहिए कि जप के श्वास-प्रश्वास की गति यन्त्रक हो रही है।

४. प्रायः २ घंटे २४ मिनट तक त्राटक करना चाहिए।

५. प्रायः छः मास अथवा परिस्थिति के अनुसार एक ही तत्त्व का साधन करते रहना चाहिए।

६. जब बराबर तत्त्व के परिणाम तक श्वास-प्रश्वास की गति लगातार होने लगे, तब उस तत्त्व की सिद्धि समझना चाहिये।

पृथ्वी तत्त्व का साधन—एक इंच लम्बा और एक इंच चौड़ा स्वर्ण, पीतल अथवा पीले कागज का चतुष्कोण यन्त्र बनाकर चन्द्र स्वर के पृथ्वी-तत्त्व उदयकाल में नसिका के अग्रभाग से १२ अङ्गुल दूर तक रखकर ओम् के मानसिक जप के साथ त्राटक करना चाहिये।

जल तत्त्व का साधन—चाँदी या काँसे का अर्धवृत्ताकार यन्त्र इतना लम्बा एवं चौड़ा कि पृथ्वी-तत्त्व के चतुष्कोण यन्त्र के मध्य में आ सके। चन्द्र स्वर के जल तत्त्व के उदय के समय नासाग्रभाग से १६ अङ्गुल दूर रख कर उपर्युक्त विधि अनुसार त्राटक करना चाहिए।

अग्नि तत्त्व साधन—ताँबे अथवा मूँगा का त्रिकोणाकार यन्त्र इतना लम्बा चौड़ा कि जल तत्त्व के अर्धवृत्ताकार यन्त्र के मध्य में आ सके। चन्द्रस्वर के अग्नितत्त्व के उदय काल में ४० अङ्गुल नासाग्रभाग से दूर रखकर उपर्युक्त विधि अनुसार त्राटक करना चाहिए।

वायुतत्त्व-साधन—स्वच्छ नीला थोथा का ऐसा गोलाकार यन्त्र या कागज पर नीलेरंग का ऐसा गोलाकार निशान बनावें कि अग्नितत्त्व के त्रिकोणाकार यन्त्र के मध्य में आ सके। यन्त्र को नाशाग्रभाग से आठ अङ्गुल दूर तक रख कर उपर्युक्त विधि अनुसार त्राटक करना चाहिए।

आकाश तत्त्व का साधन—चन्द्रस्वर में आकाश तत्त्व के उदय काल में नासाग्रभाग पर ओम् के मानसिक जाप के साथ त्राटक करना चाहिये।

सुषुम्णा नाड़ी—ऊपर वर्णन कर चुके हैं कि सुषुम्णा नाड़ी सर्वश्रेष्ठ है, जो मेरु दण्ड के भीतर सूक्ष्म नली के सदृश चली गयी है।

सुषुम्णा के अन्तर्गत सूक्ष्म नाड़ियाँ—सुषुम्णा के भीतर एक वज्रनाड़ी है, वज्र के अन्दर चित्रणी है और चित्रणी के मध्य में ब्रह्म नाड़ी है। ये सब नाड़ियाँ मकड़ी की जाला जैसी अतिसूक्ष्म हैं जिनका ज्ञान केवल योगियों को ही हो सकता है। ये नाड़ियाँ सत्व प्रधान, प्रकाशमय और अद्भुत शक्ति वाली हैं। ये ही सूक्ष्म शरीर तथा सूक्ष्म प्राण के स्थान हैं। इनमें बहुत से सूक्ष्म स्थान हैं, इसमें बहुत से सूक्ष्म शक्तियों के केन्द्र हैं, जिनमें बहुत से अन्य सूक्ष्म नाड़ियाँ मिलती हैं। इन शक्तियों के केन्द्रों को पद्म तथा कमल कहते हैं। इसमें मुख्य सात हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार।

ये चक्र पाँचों तत्त्वों, तन्मात्राओं, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों, पाँचों प्राणों, अन्तःकरण, समस्त वर्णों-स्वरों तथा सातों लोकों के मण्डल हैं और नाना प्रकार के प्रकाश तथा विद्युत् से युक्त हैं। साधारण अवस्था में ये चक्र विना खिले कमल के सदृश अधोमुख हुए अविकसित रहते हैं। ध्यान द्वारा तथा अन्य प्रकार से उत्तेजना पाकर जब ये ऊर्ध्वमुख होकर विकसित होते हैं, तब उनकी अलौकिक शक्तियों का विकास होता है।

प्रत्येक चक्र में नाना प्रकार की अद्भुत शक्तियाँ हैं, तान्त्रिक तथा हठयोग के ग्रन्थों में प्रायः इनका वर्णन है। हम जिज्ञासुओं की जानकारी के लिए उनका उतना वर्णन कर देना आवश्यक समझते हैं, जितने का राजयोग से सम्बन्ध है तथा तान्त्रिक ग्रन्थों की उन वातों का भी जिनकी पाठकों को जानने की जिज्ञासा हो सकती है। यथा सत्त्व-बीज का वाहन, अधिपति देवता, देवता की शक्ति, यन्त्र-फल इत्यादि।

(आत्मोन्नति चाहने वालों को इनकी ओर विशेष ध्यान न देना चाहिए)

चित्र द्वारा दिखलाई हुई चक्रों की स्थूलाकृति उनके सूक्ष्म स्वरूप का वोध कराने के लिए केवल आनुमानिक हैं। इसी प्रकार Pelvic Plexus आदि अंग्रेजी नाम उनके वास्तविक स्थान को नहीं बतलाते हैं, केवल संकेत मात्र हैं।

चक्रों का वर्णन

मूलाधार चक्र (Pelvic Plexus)—के स्थूल स्वरूप से इसके सूक्ष्म स्वरूप का संकेत किया जा सकता है।

(१) **चक्रस्थान**– गुदामूल से दो अंगुल ऊपर और उपस्थ मूल से दो अंगुल नीचे है।

(२) **आकृति**—रक्त रंग के प्रकाश से उज्ज्वलित चार पंखुड़ी (दलों) वाले कमल के सदृश है।

(३) **दलों के अक्षर (वर्ण)**–चारों पंखुड़ियों (दलों) पर वं,शं, षं और सं–ये चार अक्षर हैं।

(४) **तत्त्व-स्थान**—चौकोण सुवर्ण रंग वाले पृथ्वी तत्त्व का मुख्य स्थान है।

(५) **तत्त्व-बीज**—'लं' है।

(६) **तत्त्व बीज-गति**—ऐरावत हाथी के समान सामने की ओर गति है।

(७) **गुण**—गंध गुण है।

(८) **वायु-स्थान**—नीचे की ओर चलने वाली अपान वायु का मुख्य स्थान है।

(९) **ज्ञानेन्द्रिय**—गंध-मात्रा से उत्पन्न होने वाली सूँघने की शक्ति नासिका का स्थान है।

(१०) **कर्मेन्द्रिय**–पृथ्वी तत्त्व से उत्पन्न होने वाली मलत्याग-शक्ति गुदा का स्थान है।

(११)**लोक**—भूलोक है (भू)।

(१२) **तत्त्व बीज का वाहन**—ऐरावत हस्ती जिसके ऊपर इन्द्र विराजमान हैं।

(१३) **अधिपति देवता**—चतुर्भुज ब्रह्मा अपनी शक्ति चतुर्भुज डाकिनी के साथ।

(१४) **यन्त्र**—चतुष्कोण, सुवर्णरंग।

(१५) **चक्रपर ध्यान का फल**—आरोग्यता, आनन्दचित्त, वाक्य, काव्य, प्रवन्ध दक्षता। इस चक्र के नीचे त्रिकोण यन्त्र-जैसा एक

सूक्ष्म योनि-मंडल है, जिसके मध्य के कोण से सुषुम्णा (सरस्वती) नाड़ी, दक्षिण कोण से पिंगला (यमुना) नाड़ी और वाम कोण से इडा (गङ्गा) नाड़ी निकलती है। इसलिए इसे मुक्त त्रिवेणी भी कहते हैं।

तान्त्रिक ग्रन्थों में बताया गया है कि इस योनि मण्डल के मध्य में तेजोमय रक्तवर्ण क्लीं बीजरूप कन्दर्प नाम का स्थिर वायु विद्यमान है जिसके मध्य में ब्रह्मनाड़ी के मुख में स्वयंभू लिङ्ग है। इसमें कुण्डलिनी शक्ति का वर्णन आगे किया जायेगा। मूलशक्ति अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति का आधार होने से इस चक्र को मूलाधार कहते हैं।

स्वाधिष्ठान चक्र (Hypogastric Plexus)—के स्थूल स्वरूप से इसके सूक्ष्म स्वरूप का संकेत किया जा सकता है।

(१) **स्थान**—मूलाधार चक्र से दो अंगुल ऊपर पेडू के पास इस चक्र का स्थान है।

(२) **आकृति**—सिंदूरी रंग के प्रकाश से प्रकाशित छः पंखुड़ी (दलों) वाले कमल के समान है।

(३) **दलों के अक्षर वर्ण**—छहों पंखुड़ियों (दलों) पर नं, भं, मं, यं, रं, लं,–ये छः अक्षर (वर्ण) हैं।

(४) **तत्त्व-स्थान**—श्वेत रंग अर्द्धचन्द्राकार वाले जल-तत्त्व का मुख्य स्थान है।

(५) **तत्त्व-बीज**—'वं' है।

(६) **तत्त्व बीज-गति**—जिस प्रकार मकर लंबी डुबकी लगाता है, इसी प्रकार इस तत्त्व की नीचे की ओर लम्बी गति है।

(७) **गुण**—रस है।

(८) **वायु-स्थान**—सर्वशरीर में व्यापक होकर गति करने वाले व्यान वायु का मुख्य स्थान है।

(९) **ज्ञानेन्द्रिय**—रस तन्मात्रा से उत्पन्न स्वाद लेने की शक्ति रसना का स्थान है।

(१०) **कर्म-इन्द्रिय**—जल तत्त्व त्याग-शक्ति उपस्थ का स्थान है।

(११) **लोक**—भुवः है।

(१२) **तत्त्व-बीज का वाहन**—मकर जिसके ऊपर वरुण विराजमान हैं।

(१३) अधिपति देवता—विष्णु अपनी चतुर्भुजा राकिनी शक्ति के साथ।

(१४) यन्त्र—अर्धचन्द्राकार श्वेत रंग।

(१५) चक्र पर ध्यान का फल—तान्त्रिक ग्रंथों में इस चक्र में ध्यान का फल सृजन, पालन और निधन में समर्थता तथा जिह्वा पर सरस्वती देवी का होना बतलाया गया है।

मणिपूरक चक्र—स्थूल स्वरूप द्वारा इसके सूक्ष्म स्वरूप का संकेत किया जा सकता है।

(१) स्थान—नाभिमूल है।

(२) आकृति—नीले रंग के प्रकाश से आलोकित (प्रकाशित) दस पंखड़ी (दलों) वाले कमल के तुल्य है।

(३) दलों के अक्षर (वर्ण)—दशों पंखुड़ियों (दलों) पर डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, फं,—ये दस अक्षर (वर्ण) हैं। इन दस वर्णों की ध्वनियाँ निकलती हैं।

(४) तत्त्व स्थान—रक्त रंग त्रिकोणाकार वाले अग्नि तत्त्व का मुख्य स्थान है।

(५) तत्त्व-बीज—'रं' है।

(६) तत्त्व बीज-गति—जिस प्रकार मेष (मेढ़ा) ऊपर को उछल कर चलता है, इसी प्रकार इस तत्त्व की ऊपर की गति है।

(७) गुण—रूप है।

(८) वायु-स्थान—खान-पान के रस को सम्पूर्ण शरीर में स्व-स्व स्थान पर समानरूप से पहुँचाने वाले समानवायु का मुख्य स्थान है।

(९) ज्ञानेन्द्रिय—रूप तन्मात्रा से उत्पन्न देखने को शक्ति चक्षु का स्थान है।

(१०) कर्मेन्द्रिय—अग्नि तत्त्व से उत्पन्न चलने की शक्ति पाद (पैर) का स्थान है।

(११) लोक—स्वः है।

(१२) 'तत्त्व बीज' का वाहन—मेष (मेढ़ा) जिसके ऊपर अग्नि देवता विराजमान हैं।

(१३) अधिपति देवता—रूद्र अपनी चर्तुभुज-शक्ति लाकिनी के साथ।

(१४) **यन्त्र-त्रिकोण**—रक्त रंग।

(१५) **फल**—'विभूतिपाद' में इस चक्र पर ध्यान का फल शरीर व्यूह का ज्ञान बताया है। इसमें ध्यान करने से अजीर्ण आदि रोग दूर होते हैं।

अनाहत चक्र—इसके सूक्ष्म स्वरूप का संकेतक Cordial Plexus का स्थूल रूप है।

(१) **स्थान**—हृदय के पास।

(२) **आकृति**—सिंदूरी रंग के प्रकाश से भासित (उज्ज्वलित) बारह पंखुड़ी (दलों) वाले कमल के सदृश है।

(३) **दलों के अक्षर (वर्ण)**—बारह पंखुड़ियों पर कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं झं, ञं, टं, ठं ये **बारह** अक्षर (वर्ण) हैं।

(४) **तत्त्व**—स्थान धूम्र रंग षट्कोणाकार वायुतत्त्व का मुख्य स्थान है।

(५) **तत्त्व बीज**—'यं' है।

(६) **तत्त्व बीज-गति**—जिस प्रकार मृग तिरछा चलता है, इसी प्रकार इस तत्त्व की तिरछी गति है।

(७) **गुण**— स्पर्श है।

(८) **वायु स्थान**—मुख और नासिका से गति करने वाले प्राण वायु का मुख्य स्थान है।

(९) **ज्ञानेन्द्रिय**—स्पर्श-तन्मात्रा से उत्पन्न स्पर्श की शक्ति त्वचा का केन्द्र है।

(१०) **कर्मेन्द्रिय**—वायुतत्त्व से उत्पन्न पकड़ने की शक्ति कर (हाथ) का स्थान है।

(११) **लोक**—महर्लोक है। अन्तःकरण का मुख्य स्थान है।

(१२) **तत्त्व बीज का वाहन**—मृग।

(१३) **अधिपति देवता**—ईशान—रुद्र अपनी त्रिनेत्र चतुर्भुजा शक्ति काकिनी के साथ।

(१४) **यन्त्र** – षट्कोणाकार, धूम्र रंग।

(१५) **फल** —वाक्पतित्व, कवित्व शक्ति का लाभ, जितेन्द्रिय होना इत्यादि तान्त्रिक ग्रन्थों में बतलाया है। शिवसार तन्त्र में कहा है कि इस

स्थान में उत्पन्न होने वाली अनाहत ध्वनि ही सदाशिव है और त्रिगुणमय ओंकार इसी स्थान में व्यक्त होता है यथा—

शब्दं ब्रह्मेति तं प्राह साक्षाद्देवः सदाशिवः ।
अनाहतेषु चक्रेषु स शब्दः परिकीर्त्यते ।।

(परापरिमल्लोल्लासः)

जिसको शब्द ब्रह्म कहते हैं, वही साक्षात् शिव है। वही शब्द अनाहत चक्र में है। कहीं कहीं इस चक्र के समीप आठ दलों का एक 'निम्न मनश्चक्र' बतलाया गया है। स्त्रियों तथा भक्तिभाव वालों को ध्यान करने के लिए अनाहत चक्र अच्छा-उपयुक्त स्थान है।

विशुद्ध चक्र—इसका संकेतक स्थूल स्वरूप है।

(१) **स्थान**—कण्ठ देश है।

(२) **आकृति**—धूम्र अथवा धुँधरंग के से उज्ज्वल, १६ पंखुड़ी (दलों) वाले कमल जैसी है।

(३) **दलों के अक्षर**—सोलहों पंखुड़ियों पर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ ए, ऐं, ओ, औ, अं, अः—ये सोलह अक्षर हैं।

(४) **तत्त्व-स्थान**—चित्र-विचित्र आकार तथा नाना रंग वाले अथवा पूर्ण चन्द्र के सदृश गोलाकार आकाश तत्त्व का मुख्य स्थान है।

(५) **तत्त्व-बीज**—हं है।

(६) **तत्त्व बीज-गति**—जैसे हाथी घूम-घूमकर चलता है, उसी प्रकार इस तत्त्व की घुमाव के साथ गति है।

(७) **गुण**—शब्द है।

(८) **वायु स्थान**—ऊपर की गति का हेतु शरीर पर्यन्त वर्तन वाले उदान वायु का मुख्य स्थान है।

(९) **ज्ञानेन्द्रिय**—शब्द-तन्त्रमात्रा से उत्पन्न श्रवण-शक्ति श्रोत्र का स्थान है।

(१०) **कर्मेन्द्रिय**—आकाश-तत्त्व से उत्पन्न वाक्शक्ति वाणी का स्थान है।

(११) **लोक**—जन है।

(१२) **तत्त्व-बीज का वाहन**—हस्ती जिसके ऊपर प्रकाश देवता आरूढ़ हैं।

(१३) **अधिपति देवता**—पञ्चमुख वाले सदाशिव अपनी शक्ति चतुर्भुजा शाकिनी के साथ।

(१४) **यन्त्र**—पूर्णचन्द्र के सदृश गोलाकार आकाश मण्डल।

(१५) **चक्र पर ध्यान का फल**—कवि, महाज्ञानी, शान्तचित्त, नीरोग, शोकहीन होना बताया गया है। इसके "विशुद्ध" नाम रखने का यह कारण बताया गया है कि इस स्थान पर मन को स्थित होने से मन आकाश के सदृश विशुद्ध हो जाता है।

आज्ञा चक्र—इसका संकेतक Medulla Plexus का स्थूल रूप है।

(१) **स्थान**—दोनों भ्रूवों के मध्य में भृकुटी के भीतर है।

(२) **आकृत** के दो पंखुड़ियों (दलों) वाले कमल के सदृश है।

(३) **दलों के अक्षर (वर्ण)**—दोनों पंखुड़ियों पर हं, क्षं हैं। इन दोनों पंखुड़ियों के संकेतक पाश्चात्यविज्ञान के Pineal Gland और Pituitary Body समझना चाहिए, जिनको मनुष्य के मष्तिक के भीतर दो निरर्थक बालू से ढके हुए मांस-पिण्ड कहा गया है। ये दोनों मांस-पिण्ड अपने स्थान पर रहते हुए आज्ञा चक्र के ऊर्ध्वमुख होकर विकसित होने पर उससे दिव्य शक्ति की प्राप्ति होती है।

(४) **तत्त्व स्थान**—लिङ्ग अर्थात् लिङ्ग-आकार महत्तत्त्व है।

(५) **तत्त्व-बीज**—ओऽम् है।

(६) **तत्त्व बीज-गति**—गति-वाद है।

(७) **लोक**—तपः है।

(८) **तत्त्व बीज का वाहन**—नाद जिस पर लिङ्ग देवता है।

(९) **अधिपति देवता**—ज्ञानदाता शिव अपनी चतुर्हस्ता पडानना (छः मुख) हाकिनी शक्ति के साथ।

(१०) **यन्त्र**—लिङ्गाकार।

(११) **फल**—भिन्न-भिन्न चक्रों के ध्यान द्वारा जो फल प्राप्त होता है वे सब एक मात्र इस चक्र पर ध्यान करने से प्राप्त हो जाते हैं। इस स्थान पर प्राण तथा मन के स्थित हो जाने पर सम्प्रज्ञात-समाधि की योग्यता होती है।

मूलाधार से इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा पृथक्-पृथक् प्रवाहित होकर इस स्थान पर मिलती है इसलिये इसको युक्त-त्रिवेणी भी कहते हैं।

इडा भागीरथी गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी।
तयोर्मध्यगता नाड़ी सुषुम्णाख्या सरस्वती॥
त्रिवेणीसंगमो यत्र तीर्थराजः स उच्यते।
तत्र स्नानं प्रकुर्वीत सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

(ज्ञानसंकालिनी-तन्त्र)

इडा को गङ्गा और पिङ्गला को यमुना तथा इन दोनों के मध्य में जाने वाली नाड़ी सुषुम्णा को सरस्वती कहते हैं। इस त्रिवेणी का जहाँ संगम है, उसे तीर्थराज कहते हैं। इसमें स्नान करने से सारे पापों से मुक्त हो जाते हैं।

तदेव हृदयं नाम सर्वशास्त्रादि सम्मतम्।
अन्यथा हृदि किंचास्ति प्रोक्तं यत् स्थूल विद्धिभि॥

(योगस्वरोदय)

यही अथात् आज्ञा चक्र ही सर्वशास्त्र-सम्मत हृदय है। स्थूल बुद्धिवाले ही अन्त स्थूल स्थान को हृदय कहते हैं।

यह आज्ञा चक्र शिवनेत्र दिव्यदृष्टि का यन्त्र है। प्राणतोषिणी तन्त्र में एक चौंसठ दल वाला ललना-संज्ञक चक्र की तालु में और एक शतदल वाले गुरु चक्र की अवस्थिति ब्रह्मरन्ध्र में बतलायी है तथा किसी-किसी ने सोमचक्र (गुरु चक्र) मानस चक्र, ललाट चक्र आदि का भी वर्णन किया है, किन्तु ये सब सातों चक्रों के ही अन्तर्गत हैं। क्रियात्मकरूप से इनकी उपयोगिता नहीं है।

सहस्रार व शून्य चक्र—इसका संकेतक स्थूल रूप है।

(१) **स्थान**—तालु के ऊपर मस्तिष्क में, ब्रह्मरन्ध्र से ऊपर सभी शक्तियों का केन्द्र है।

(२) **आकृति**—नाना रङ्ग के प्रकाश से युक्त सहस्र पंखुड़ियों (दलों) वाले कमल जैसी है।

(३) **दलों के अक्षर**—पंखों पर 'अ' से लेकर 'क्ष' तक सब स्वर और वर्ण हैं।

(४) **तत्त्व**—तत्त्वातीत है।

(५) **तत्त्व-बीज**—विसर्ग है।

(६) **तत्त्व बीज-गति**—विन्दु है।

(७) **लोक**—सत्यम् है।

(८) **तत्त्व-बीज का वाहन**—बिन्दु है।

(९) **अधिपति देवता**—परब्रह्म अपनी महाशक्ति के साथ।

(१०) **यन्त्र**—पूर्ण चक्र चन्द्र शुभ्र वर्ण।

(११) **फल**—अमर होना मुक्ति।

इस स्थान पर प्राण तथा मन के स्थिर हो जाने पर सर्ववृत्तियों के निरोधरूप असम्प्रज्ञात-समाधि की योग्यता प्राप्त होती है।

कुछ विद्वानों तथा अभ्यासियों का विचार है कि उपनिषदों में जो अगुष्ठ मात्र हृदय पुरुष का स्थान बतलाया गया है, वह ब्रह्मरन्ध्र ही है, जिसके ऊपर सहस्रचक्र है, क्योंकि यही अंगुष्ठमात्र आकाशवाला है। यही चित्त का स्थान है, जिसमें आत्मा के ज्ञान का प्रकाश अथवा प्रतिबिम्ब पड़ रहा है और इसी स्थान पर प्राण तथा मन के स्थिर हो जाने पर असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् सर्ववृत्तिनिरोध होता है।

शरीर में जीवात्मा का कौन सा स्थान है? इस सम्बन्ध में कई बार प्रश्न किये जा चुके हैं। वास्तव में आत्मा के ज्ञान का प्रकाश चित्त पर पड़ रहा है। चित्त ही कारण शरीर है। इस कारण शरीर के सम्बन्ध से 'आत्मा' की संज्ञा जीव आत्मा होती है। कारण शरीर सूक्ष्म शरीर में व्यापक हो रहा है और सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर में। इस प्रकार जीवात्मा सारे ही शरीर में व्यापक हो रहा है। फिर भी कार्य भेद से उसके कई स्थान बतलाये जा सकते हैं।

सामान्यतः तथा सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा का स्थान हृदय देश बतलाया गया है, क्योंकि हृदय शरीर का मुख्य स्थान है। यही से सारे शरीर में नाड़ियाँ जा रही हैं। सारे शरीर का आन्तरिक कार्य यहीं से हो रहा है। हृदय की गति रुकने से सारे शरीर के कार्य बन्द हो जाते हैं, इसलिए सुषुप्ति की अवस्था में जीवात्मा का स्थान हृदय कहा जाता है, जैसा कि उपनिषद् में बताया गया है—

"यत्रैष एतत् सुप्तोऽभूद् य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञान मादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते"""।

(वृ० हृ० २।१।१७)।

जब कि यह पुरुष जो यह विज्ञानस्वभाव है, गहरा सोया हुआ होता है, तब वह इन इन्द्रियों के विज्ञान के द्वारा विज्ञान को लेकर जो यह हृदय के अन्दर आकाश है, वहाँ आराम करता है।

स्वप्नावस्था में जीव का स्थान कण्ठ बतलाया गया है, क्योंकि जाग्रत अवस्था में जो पदार्थ देखे सुने और भोगे जाते हैं, उनका संस्कार वाल के हजारहवें भाग जैसी वारीक कण्ठ में स्थित एक हिता नाम की नाड़ी में रहना बतलाया गया है। इसलिये अनुभूत पदार्थ और उनका ज्ञान स्वप्न-अवस्था में कण्ठ में होता है।

जाग्रत् अवस्था में जीवात्मा बाह्य इन्द्रियों के द्वारा बाहर के विषयों को देखता है। बाह्य इन्द्रियों में नेत्र प्रधान है, इसलिए जाग्रत् में जीवात्मा की स्थिति उपनिषद् में नेत्र में बतलायी गयी है। यथा—

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मनेति। (छान्दो० ८।७।४)।

यह जो आँख में पुरुष दीखता है, यह आत्मा है।

सम्प्रज्ञान समाधि में जीवात्मा का स्थान आज्ञाचक्र कहा जाता है, क्योंकि यही दिव्य दृष्टि का स्थान है। इसी को दिव्य दृष्टि या शिव नेत्र भी कहा जाता है।

इसी प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि में जीवात्मा का स्थान ब्रह्मरन्ध्र है, क्योंकि इसी स्थान पर प्राण तथा मन को स्थिर हो जाने पर असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् सर्ववृत्तिनिरोध होता है।

कुण्डलिनी शक्ति का जाग्रत् होना—यह नाड़ी यदि किसी प्रकार से अपने लपेटों को खोलकर सीधी हो जाय और इसका मुख सुषुम्णा नाड़ी के भीतर चला जाय, तो इसको कुण्डलिनी का जाग्रत् होना कहेंगे।

कुण्डलिनी शक्ति के सुषुम्णा के मुख में प्रवेश होने पर नाना प्रकार के अनुभव होते हैं, उनका प्रकट करना वर्जित है। किन्तु हम कुण्डलिनी जाग्रत् करने के कुछ उपाय तथा साधकों के लाभार्थ कुछ चेतावनियाँ दे देना आवश्यक समझते हैं।

कुण्डलिनी जाग्रत् करने के उपाय—विशेषतया कुण्डलिनी शक्ति तो शरीर के शुद्ध और सूक्ष्म होने पर सात्त्विक विचार शुद्ध, अन्तःकरण, ईश्वर की भक्ति और परिपक्व वैराग्य की अवस्था में एकाग्रता अर्थात् निश्चल ध्यान से जाग्रत् होती है। जहाँ कहीं अकस्मात् किसी मनुष्य में अलौकिक शक्ति, अद्भुत चमत्कार तथा असाधारण ज्ञान का विकास देखने में आवे तो समझना चाहिए कि पूर्व जन्म के किन्हीं सात्त्विक संस्कारों के उदय होने अथवा हृदय पर सात्त्विक प्रभाव डालने वाली

अन्य किसी घटना से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् होकर सुषुम्णा के मुख में चली गयी है।

जिस प्रकार पृथ्वी में लगे हुए नल द्वारा पानी ऊपर जाने के लिए केवल नल के ऊपर लगी हुई मशीन को चलाने से नलों में पानी ऊपर आना स्वयं शुरू हो जाता है, इसी प्रकार से योग दर्शन के साधन पाद में चतुर्थ प्राणायाम की पाँचवीं विधि द्वारा कुण्डलिनि शक्ति को चेतन करके सुषुम्णा में लाने का यत्न किया जाता है।

निम्नलिखित प्राणायाम तथा मुद्राएं कुण्डलिनीशक्ति को चेतन करने में सहायक हो सकती है।

१. भस्त्रिका, कपाल-भाति, सूर्यभेदी प्राणायाम, इत्यादि चतुर्थ प्राणायाम।

२. महाबन्ध, महावेध, महामुद्रा, खेचरी मुद्रा, विपरीतकरणी मुद्रा, अश्विनीमुद्रा, योनि मुद्रा, शक्ति चालिनी मुद्रा इत्यादि।

किन्तु ये सब बाह्य साधन हैं, जो कुण्डलिनी को चेतन करने में सहायक होते हैं। उसके मुख का सुषुम्णा प्रवेश केवल ध्यान की परिपक्व अवस्था में हो सकता है। विना ध्यान के केवल बाह्य साधनों से कुण्डलिनी शक्ति को क्षोभ पहुँचाने से अधिक से अधिक मूर्छा जैसी अवस्था प्राप्त हो सकती है। जो सुषुप्ति तथा बेहोशी से तो ऊँची है, किन्तु वास्तविक स्वरूपावस्थिति नहीं है और न उसमें सूक्ष्म जगत् ही का कुछ अनुभव हो सकता है। कुण्डलिनी जाग्रत् करने का सबसे उत्तम उपाय तो मूलाधार से लेकर सहस्रार तक सब चक्रों का भेदन करना है। विशेष विधि क्रियात्मक होने के कारण लेखबद्ध नहीं किया जा सकता। किसी अनुभवी निःस्वार्थ पथ दर्शक से ही सीखनी चाहिये। उसकी सामान्य विधि निम्न प्रकार है—

चक्रभेदन अर्थात् कुण्डलिनी—१. बद्धपद्म, (दोनों जंघाओं को दोनों पैरों से दबाकर), पद्म, सिद्ध, वज्र, स्वस्तिक आदि किसी आसन (२।४६, ४७) से मेरुदण्ड को सीधा किये हुए सिर, गर्दन और पीठ को सम सूत्र में करके मूलबंध लगाकर खेचरी मुद्रा के साथ बैठे।

२. स्थान एकान्त, बंद और शुद्ध हो। प्रातःकाल कम से कम तीन घंटे और सायंकाल दो घंटे ध्यान करना चाहिये।

३. कपाल भाति, भस्त्रिका आदि प्राणायाम के पश्चात् योनिमुद्रा करके खेचरी मुद्रा करें अर्थात् जिह्वा को ऊपर की ओर घुमाकर तालु के पास कण्ठ के छिद्र में लगायें और दाँतों को दबाये रखें।

४. प्राण मूलाधार चक्र में योनिमण्डल में ले जाकर ऐसी भावना करें कि वहीं श्वास-प्रश्वास चल रहा है।

५. वहीं मानसिक ध्वनि के साथ ॐ का मानसिक जाप करें। (चौथा प्राणायाम विधि ५)।

६. ध्यान करते समय ऐसी भावना करें कि कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्णा में प्रवेश करके मूलाधार को ऊर्ध्व मुख करती हुई विकसित कर रही है।

इस प्रकार जब छः मास, एक वर्ष अथवा दो वर्ष में इस चक्र में ध्यान पक्का हो जाय और प्राणोत्थान भली प्रकार होने लगे तो इसी भाँति अगले-अगले चक्रों को भेदन करना चाहिये। आज्ञा चक्र और सहस्रार में अधिक समय देना चाहिये। प्रथम चक्रों के ठीक-ठीक स्थान निश्चय करने में कठिनाई होगी किन्तु कुछ दिनों के अभ्यास के पश्चात् स्वयं यथा स्थान पर मन स्थिर होने लगेगा।

यह चक्र भेदन का क्रम दीर्घकाल तक धैर्य के साथ करते रहना चाहिये। सुगमता और शीघ्रसिद्धि प्राप्त करने के विचार से आज्ञाचक्र और सहस्रार-चक्र ध्यान के लिये पर्याप्त हैं। यहीं पर विधि पूर्वक ध्यान करने से कुण्डलिनी जाग्रत् हो सकती है। यद्यपि निचले चक्रों का विशेष ज्ञान और उनकी विशेष शक्तियाँ उनके अपने-अपने विशेष स्थान पर ध्यान करने के सदृश नहीं प्राप्त होतीं। डाकगाड़ी से लम्बी यात्रा पर जाने वाले यात्रियों को मार्ग में आने वाले स्टेशनों की भाँति इनका सामान्य ही ज्ञान होता है, किन्तु दोनों चक्रों पर ध्यान के परिपक्व होने के पश्चात् निचले चक्रों का भेदन अति सुगमता और शीघ्रता के साथ हो सकता है।

आत्म स्थिति के जिज्ञासु के लिये तो इन चक्रों के चक्र में अधिक न पड़कर अपने अन्तिम ध्येय को लक्ष्य में रखना ही श्रेयस्कर है।

इन चक्रों पर दो प्रकार से ध्यान किया जाता है—

१. सिद्धियों तथा शक्तियों के प्राप्त करने के उद्देश्य से चक्रों में दी हुई विशेष बातों की विशेष-विशेष चक्र पर भावना के साथ ध्यान किया जाता है। यह मार्ग तान्त्रिकों का है तथा लम्बा है।

२. आध्यात्मिक उन्नति तथा परमात्मप्राप्ति के उद्देश्य से इन सब बातों पर ध्यान न देकर केवल इन स्थानों को ध्येय बनाकर अंदर घुसना होता है। ऐसे अभ्यासियों के कुछ भी समक्ष आवे, उसको द्रष्टा रूप से देखना होता है; क्योंकि उनका लक्ष्य केवल परमात्म तत्त्व है।

कुण्डलिनी जाग्रत् करने का एक अनुभूत साधन सबसे प्रथम योग-दर्शन के साधन पाद सूत्र ५१ के विशेष वक्तव्य में दी हुई चतुर्थ प्राणायाम की पाँचवीं विधि के अनुसार प्राण को ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर करने का अभ्यास परिपक्व कर लें। उपर्युक्त योग्यता की प्राप्ति के पश्चात् शरीर के पूर्ण रूप से स्वस्थ अवस्था में कार्तिक से फाल्गुन अर्थात् नवम्बर मास से मार्च तक के समय में सारे बाह्य व्यवहार से निवृत्त होकर शान्त एकान्त निर्विघ्न स्थान में साधन आरम्भ करें। वस्ती अथवा एनिमा द्वारा उदर-शोधन करते रहें। यदि आवश्यकता हो तो धौती और नेती भी करते रहें। भोजन प्रातःकाल बादाम का छौंका (बादाम की गिरी छिलके निकाली हुई), सौंफ कासनी, काली मिर्च पीस-छानकर पिसे हुए बादाम के साथ घी में छौंक लिये जाँय। उसमें मुनक्के, अंजीर आदि डाले जा सकते हैं।

चतुर्थ प्राणायाम द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में प्राणों की अच्छी प्रकार स्थिर करने के पश्चात् भृकुटि पर ध्यान अर्थात् अन्तर्दृष्टि से देखना आरम्भ कर दें। यदि इस प्रकार प्राणों का उत्थान न हो सके तो शवासन से लेटकर प्रक्रिया करे। प्राणों के उत्थान के समय किसी प्रकार के भय की वृत्ति न आने दें। किसी अनुभवी निःस्वार्थ पथ-प्रदर्शक की संरक्षता में साधन करें। इस प्रक्रिया में भी मुख्य वस्तु ईश्वर-प्रणिधान और तीव्र वैराग्य है।

महारन्ध्र और भृकुटि पर ध्यान करने वाले जिन साधकों को गर्मी के दिनों में इन स्थानों पर ध्यान करने से अधिक गर्मी और खुश्की प्रतीत हो, वे एक-एक मास का समय निचले चक्र भेदन में लगा सकते हैं। अर्थात् प्रथम एक मास मूलाधार चक्रभेदन सामर्थ्यानुसार एक निश्चित संख्या में अनुलोम-विलोम भस्त्रिका। एक निश्चित संख्या में मूलाधारक मध्यम भस्त्रिका। एक निश्चित संख्या में मूलाधार चक्र पर अश्वनि मुद्रा सदृश क्रिया। इसके पश्चात् चतुर्थ प्राणायाम की पाँचवीं विधि अनुसार सोहं का मानसिक जाप। मूलाधार पर जब प्राण स्थिर हो जायँ तब वहाँ केवल ध्यान अर्थात् अन्तर्दृष्टि से टकटकी लगाकर देखते रहना अथवा

वहाँ अनहद शब्दों को सुनते रहना। दूसरे मास में विशुद्ध चक्र भेदन इसी प्रकार करें तथा अन्य सब चक्रों में स्वाधिष्ठान चक्र तक इसी प्रक्रिया को रखें।

साधकों के लिये चेतावनी

महात्मा मूसा, जो यहूदी धर्म के प्रवर्तक हुए हैं, उनके संबंध में कहा गया है कि होरब पर योगसाधन के समय जब उनको प्रथम बार ईश्वर के प्रकाश के दर्शन हुए तो वे उस तेज को सहन न कर सके। इस रहस्य को उनके शिष्य योग मार्ग से अनभिज्ञ होने के कारण नहीं समझ सके हैं।

१. कुण्डलिनी शक्ति जब सुषुम्णा नाड़ी के अंदर प्रवेश होती है, तब उसकी पहिली टक्कर मूलाधार चक्र पर लगती है, इससे उपस्थ इन्द्रिय पर दबाव पड़ता है। इसलिये मूलबंध सावधानी से लगाये रहें।

२. उस समय स्थूल-जगत् से सूक्ष्म-जगत् में प्रवेश तथा स्थूल शरीर से सारे प्राणों का प्रवाह सुषुम्णा नाड़ी में जाना आरम्भ होने लगता है, सारे वाह्य प्राण हाथ पैर आदि से खिचाव के साथ अंदर जाने लगते हैं, उस समय भयभीत नहीं होना चाहिए, अन्यथा भय की वृत्ति आने के साथ ही प्राण फिर उतर जायेंगे और पछतावा रह जायगा।

३. विद्युन्मय सूक्ष्म नाड़ियों, चक्रों, तन्मात्राओं तथा तत्त्वों आदि के प्रकाश इतना अलौकिक होते हैं कि साधक को प्रथम अवस्था में उनका सहन करना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार सूक्ष्म-जगत् के शब्द भो अपरिचित होने के कारण अतिभयानक प्रतीत होते हैं। इसलिए द्रष्टा बन-कर देखता रहे, अन्यथा भय की वृत्ति आने के साथ ही कुण्डलिनी शक्ति जहाँ पहुँचती है, वह वहीं पर पुनः लौट जायगी।

४. सूक्ष्म-जगत् स्थूल-जगत् से अति विलक्षण है वहाँ की सूक्ष्मता और विलक्षणता भी प्रथम अवस्था में भय का कारण बन सकता है, उससे भय-भीत न हों।

५. कभी-कभी अप्रिय और भयंकर दृश्य भी सम्मुख आते हैं, वह कुछ हानि नहीं पहुँचा सकते, स्वयं हट जाते हैं उनसे भय उत्पन्न न हो।

६. भृकुटि अथवा ब्रह्मरन्ध्र में प्राण रुक जाने के पश्चात् शवासन से लेटकर ध्यान करने से शरीर के सीधे रहने के कारण प्राणों का प्रवाह

कुण्डलिनी में खींच आने और फिर उससे सुषुम्णानाड़ी में प्रवेश होने में आसन से बैठने की अपेक्षा सुगमता से होता है परन्तु इस तरह लेट कर क्रिया करना स्वास्थ्य के लिए लाभदायक नहीं है।

चित्त लेटने की अवस्था में जब मूलाधार-चक्र पर सारे प्राणों के वेग की टक्कर लगती है और इसलिए उपस्थ इन्द्रिय पर अधिक खिंचाव पड़ता है, उस समय मूल-बन्ध पूरी दृढ़ता के साथ बँधा रहना चाहिए। अन्यथा कमजोर-क्षीण शुक्र वालों के लिए वीर्य अथवा मूत्र निकलने की सम्भावना हो सकती है।

७. ये सब प्रकार के भय उसी समय तक रहते हैं, जब तक कुण्डलिनी भृकुटी तक न पहुँच जाय। आज्ञा चक्र पर स्थिर होने के पश्चात् कोई भय नहीं रहता। उस समय सारे सूक्ष्म जगत् का ज्ञान प्राप्त हो सकता है, जिस ओर वृत्ति जाती है उसी का यथार्थ स्वरूप समक्ष आने लगता है यही वास्तविक समाधि है। जब सहस्रार में पहुँचती है तो सारी वृत्तियों का निरोध होकर असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।

८. एक बार कुण्डलिनी जाग्रत् होने पर यह न समझना चाहिए कि सर्वदा ऐसा ही होता रहेगा। मन तथा शरीर की स्वस्थ अवस्था, निर्मलता, सूक्ष्मता, विचारों की पवित्रता और वैराग्य का बना रहना अत्यावश्यक है। इनके अभाव में यह कार्य बन्द हो सकता है।

९. भृकुटि, ब्रह्मरन्ध्र आदि स्थानों पर प्राणों को ठहर जाने को कुण्डलिनी जाग्रत् न समझना चाहिए, किन्तु सारे प्राणों का प्रवाह जब स्थूल शरीर से सुषुम्णा नाड़ी में आ जाय और स्थूल शरीर तथा स्थूल जगत् से बेसुध होकर सूक्ष्म-शरीर तथा सूक्ष्म-शरीर में प्रवेश हो जाय तो कुण्डलिनी शक्ति का जाग्रत् समझना चाहिये।

१०. मांसभक्षण करने वाले योग के अधिकारी ही नहीं हो सकते इसलिए मांस तो सदा अभक्ष्य ही है। मादक पदार्थ, शराब, भंग, सुलफा, सिगरेट, बीड़ी आदि, लाल मिर्च, खटाई, तेल, गरिष्ठ, वादी, कोष्ठबद्धता करने वाले और कफ वर्धक तथा तीक्ष्ण पदार्थों का सेवन न करें। ध्यान तथा प्राण के उत्थान से उत्पन्न होने वाली खुश्की और गर्मी को दूर करने के लिए दही, छाँछ और मट्ठे का सेवन कदापि न करें, इससे वायु आदि के कई रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में घृत बादाम का छौंका तथा मीठे बादाम का तेल और दूध लाभदायक होता है।

११. मैथुन, कुसंग, क्रोध, शोक, भय आदि उत्पन्न करने वाली बातों तथा शारीरिक परिश्रम वाले कार्यों से इन दिनों बचा रहे।

१२. आहार सूक्ष्म, सात्त्विक, स्निग्ध पदार्थ, दाल, मूँग, सब्जी, लौकी, पपीता आदि, घी (घृत और बादाम, काँसनी, सौंफ, कालीमिर्च का छौंका) एवं मीठे स्वास्थ्य वर्धक फल मेवे आदि खाना चाहिए।

१३. शरीर का शोधन बस्ती (एनिमा) से होता रहे, आँतों में मल न रहने पावे, न कब्ज रहे, धौती-नेती करते रहे तो अच्छा है, किसी रेचक औषधि, इतरीफल, त्रिफला, त्रिकुटा आदि का सेवन अच्छा है।

१४. कुपथ्य करने से प्रमेह, वायु विकार, शरीर कम्पन आदि रोगों से ग्रस्त हो जाने की संभावना रहती है।

१५. शारीरिक ब्रह्मचर्य के समान मानसिक तथा आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य अतिआवश्यक है, अर्थात् आध्यात्मिक शक्तियों का शारीरिक कामों में प्रयोग तथा अपने अनुभवों को दूसरे पर प्रकट न करना चाहिए अन्यथा शक्तियों के खोये जाने की सम्भावना होती है।

१६. इस मार्ग में आडम्बर बनावट से बचते हुए अपनी शक्तियों तथा अनुभवों को छिपाये हुए साधारणावस्था में रहना कल्याणकारी है। इस में बतलाया गया गया है—

यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित्स ब्राह्मणः॥
गूढ़धर्म्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत्।
अन्धवच्च जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत्॥

जिसको कोई संत या असंत, अश्रुत या बहुश्रुत, सुवृत्त या दुर्वृत्त नहीं जानता, वह ब्रह्मनिष्ठ योगी है। गूढ़ धर्म का पालन करता हुआ विद्वान् योगी दूसरे से अज्ञात चरित रहे। अन्धे के समान, जड़ के समान और मूक के समान पृथ्वी पर विचरण करे।

१७. सं० ५ में बतलाये हुए ध्यान की नीचली प्रकाशरहित अवस्था में हो सामने आते हैं और अधिकतर अपना कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं रखते हैं, मन की एकाग्रता में अपने ही पिछले संस्कार वृत्तिरूप से उदय हो जाते हैं, निर्भय होकर द्रष्टा बनकर उनको देखता रहे और यदि कोई अभ्यासी अपने पिछले संस्कार वश इनको वास्तविक रूप से ही अनुभव करे

और उनसे अपना अनिष्ट समझकर उनको हटाना चाहे तो संकल्पमात्र से ही अथवा 'सोहम्' या 'अजपा गायत्री' के जाप से तुरंत ही अदृश्य हो जायेंगे।

१८. और वे जो ज्योतिर्मय अद्भुत प्रकाश के साथ सामने आते हैं उनमें भी आसक्त न हों। केवल द्रष्टारूप से देखता रहे। वे भी अधिकतर अपने ही सात्विक संस्कार होते हैं, जो चित्त की प्रकाशमय अवस्था में वृत्तिरूप से उदय होते हैं तथा ब्रह्मलोक तक जो सात्त्विक संसार है, वह भी चित्त की वृत्तिरूप से ही द्रष्टा के सामने आता है।

१९. सम्प्रज्ञात समाधि की यह प्रकाशमय अवस्था उस सबीजमुक्ति का अनुभव कराती है, जिसका वर्णन योग दर्शन सूत्र के विशेष वक्तव्य में किया गया है।

२०. सं० १६ में बतला आये हैं कि योग की शक्तियों को सांसारिक व्यवहार की बातों में प्रयोग करना अहितकर है। इस सम्बन्ध में एक साधक ने जो अपनी प्रारम्भिक अवस्था का अनुभव बतलाया है, उसको अन्य साधकों के हितार्थ लिखते हैं। उस अभ्यासी ने बतलाया कि बड़े तप और साधन के पश्चात् जब उसको किसी एक आसन से छः सात घण्टे बैठने का अभ्यास हो गया और प्राण भी किसी विशेष स्थान पर उतनी देर तक स्थिर होने लगे, तब गुरु कृपा और ईश्वर अनुग्रह से एक रात दो बजे के समय कुण्डलिनी जाग्रत हुई। उस दिन से लगभग दो बजे रात को चाहे वह बैठा हो चाहे सोता हो, चाहे जागता हो, चाहे भजन कर रहा हो स्वयं में विचित्र सनसनाहट के साथ उसके शरीर के सारे स्थूल प्राण सुषुम्णा नाड़ी में प्रवेश कर जाते और इस स्थूल शरीर से परे होकर सूक्ष्म जगत् के नाना प्रकार के अनुभवों को वह ग्रहण करने लगता। कुछ दिनों तक इसी प्रकार से कार्यक्रम चलता रहा। उसने पाश्चात्य स्पिरिच्युअलिज्म की बातों में सुन रखा था कि सब मृतक आत्माओं से बातचीत हो सकती है। (वास्तव में यह बात ठीक नहीं है इसको योग दर्शन के साधन पाद सूत्र ३२ के विशेष वक्तव्य में सम्मोहन शक्ति के प्रकरण में समझाया गया है।) उसका एक सम्बन्धी जिसके प्रति उसका मोह था, कुछ समय पूर्व मर चुका था। एक दिन संकल्प किया कि आज रात अपने निश्चित समय पर उसको देखेंगे कि वह कहाँ है। ठीक रात के दो बजे के पश्चात् सूक्ष्म-जगत् के अनुभव का कार्य आरम्भ हुआ तो उसके समक्ष एक गर्भ आया। पूछने पर अपमान और घृणा के साथ बतलाया गया कि वह वही व्यक्ति है जिसको तुम देखना चाहते हो! इस गर्भ रूप में अमुक घर में,

अमुक स्थान में है। वह सब बातें कई मास पश्चात् ठीक निकली, किन्तु उसी दिन से उस साधक का वह कार्य बन्द हो गया और दो वर्ष तक कई घृणित रोगों से ग्रस्त रहा, जिनके कारण अभ्यास पर बैठना असम्भव हो गया। अन्त में रॉन पर गाँठ वाले फोड़े निकलने आरम्भ हुए। जब पाँचवाँ फोड़ा निकल रहा था। तब एक दिन उसको अपनी इस अधोगति की अवस्था पर अत्यन्त शोक और दुःख हुआ। उस रात दोनों हाथों को नीचे की ओर सीधा करके दीवार का सहारा लेकर यह निश्चय कर लिया कि पिछली अवस्था को प्राप्त किये बिना न उठेगा। अधिक समय बीतने के पश्चात् उस अवस्था में प्रकाश के साथ एक आवाज आयी 'कल आयेंगे'। उसने उत्तर दिया नहीं, आज ही आना पड़ेगा, थोड़ी देर के पश्चात् उस प्रकाश में एक और अत्यन्त दिव्यप्रकाश के साथ एक विशाल दिव्य प्रकाश-मय आकृति उसके सामने आयी। उस समय वह सारी बातें वह साधक बताना नहीं चाहता था, किन्तु उस सारी रात तथा उसके पश्चात् दिन तक सुरीले मनोरंजक वेदों के मन्त्र सुनाई देते रहे। उस दिन से उसका कार्य फिर पूर्ववत् आरम्भ हो गया, किन्तु यह उससे विचित्र रूप का था। इसमें पिछली-जैसी मनोरंजकता और आकर्षण तो न था, किन्तु उससे अधिक आध्यात्मिकता की ओर ले जाने वाला था। सम्भव है कि पिछले अनुभव की सूक्ष्मता को अधिक समय तक सह न सकने के योग्य उसका स्थूल शरीर न हो और उसको कुछ विशेष भागों का भोगना और विशेष कार्यों का करना हो।

ईश्वर के तरफ से जो कुछ भी होता है, वह मनुष्य के कल्याणर्थ ही होता है किन्तु हमारा उद्देश्य केवल इतना बता देना है कि इन शक्तियों का संसारिक कार्यों में प्रयोग नहीं करना चाहिए।

अपने अनुभवों को दूसरों पर प्रकट करने में जहाँ अपनी इन शक्तियों का ह्रास होना तथा अभिमान और अहंकार का होना है वहाँ दूसरे के लिए भी अहितकर है। योग की रहस्यपूर्ण बातों को साधारण लोग समझने में असमर्थ होते हैं। परिणाम स्वरूप कुछ अन्ध विश्वासी बनकर धोखा खाते हैं और कुछ पाखण्ड रचकर सीधे सच्चे लोगों को धोखा देते हैं। परस्पर भी एक दूसरे को अनुभव बताने में राग-द्वेष, असंतोष और अभिमान की वृत्तियाँ उदय होकर साधन में विघ्नकारी होती हैं।

संगति—अब चित्त-स्थिति का दूसरा उपाय बतलाते हैं—

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनः स्थितिनिबन्धिनी ॥३५॥

नासिका के अग्रभाग में संयम की दृढ़ता से जो दिव्य गन्ध का साक्षात्कार होता है उसको गन्धप्रवृत्ति तथा गन्ध-संवित् कहते हैं।

जिह्वा के अग्रभाग में संयम की स्थिरता से जो दिव्य रस का साक्षात्कार होता है उसे रस प्रवृति या रस संवित् कहते हैं।

तालु में संयम की स्थिति में जो दिव्य रूप का साक्षात्कार होता है, उसको रूप प्रवृत्ति और रूप संवित् कहते हैं।

जिह्वा के मध्यभाग में संयम करने से जो दिव्य स्पर्श का साक्षात्कार होता है, उसका नाम स्पर्श प्रवृत्ति और स्पर्श संवित् है।

जिह्वा के मूल में संयम की दृढ़ता से जो दिव्य शब्द का साक्षात्कार होता है, उसको शब्द प्रवृत्ति और शब्द संवित् कहते हैं।

इस प्रकार ये प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुईं चित्त की स्थिति को बाँधती हैं, संशय का नाश करती हैं, समाधि-प्रज्ञा की उत्पत्ति में द्वार रूप होती हैं। चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, मणि, प्रदीप, रत्न, प्रभादि में चित्त के संयम से जो इनका साक्षात्कार होता है, वह भी विषयवती प्रवृति ही जाननी चाहिये।

योग दर्शन के भाष्यकार लिखते हैं कि शास्त्र, अनुमान और आचार्य के उपदेश से सम्यक् जाना हुआ अर्थ यथार्थ ही होता है क्योंकि शास्त्र और आचार्य यथार्थ अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ होते हैं तथापि शास्त्रों और आचार्यों से उपदेश किये हुए पदार्थों में जब तक किसी एक सूक्ष्म पदार्थ का साक्षात्कार नहीं होता, तब तक कैवल्य-पर्यन्त सूक्ष्मतम पदार्थों में दृढ़ विश्वास नहीं होता। इसलिए शास्त्र अनुमान और आचार्य के उपदेश में दृढ़ विश्वास उत्पन्न करने के लिए किसी एक सूक्ष्म व्यवहित अथवा विप्रकृष्ट पदार्थ का साक्षात्कार संयम की दृढ़ता के लिए अवश्य करना चाहिए।

जब शास्त्रादि उपदिष्ट अर्थ का एक देश में जिज्ञासु को प्रत्यक्ष हो जाता है, तब कैवल्य पर्यन्त जितने सूक्ष्म विषय हैं, उन सबमें उनका श्रद्धा पूर्वक दृढ़ विश्वास हो जाता है। इसीलिए इन विषयवती प्रवृतियों का निरूपण किया गया है, जिनका शीघ्र साक्षात्कार हो जाता है।

इन प्रवृत्तियों में से किसी एक प्रवृत्ति के लाभ से उस शास्त्रोक्त अर्थ के प्रत्यक्ष करने में पुरुष की सहज ही आसक्ति हो जाती है और शास्त्रोक्त

अर्थ में वशीकारिता (स्वाधीनता) होने से उस शास्त्रोक्त अर्थ में श्रद्धा, वीर्य, स्मृति और समाधि का लाभ भी योगी को निर्विघ्न हो जाता है।

अत: विश्वास और श्रद्धा के लिए तथा चित्त की स्थिति के लिये पहिले इन विषयवर्ती प्रवृत्तियों में से किसी एक का संम्पादन करना चाहिए।

वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात—इन स्थानों पर यदि स्थूल ग्राह्य विषयों का अर्थात् किसी विशेष गन्ध, रस, रूप, स्पर्श अथवा शब्द का ध्यान किया जाय तो पूरी एकाग्रता होने पर उसका साक्षात्कार होने लगे तव वह वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि होगी।

विचारानुगत सम्प्रज्ञात—यदि वहाँ न रुक कर एकाग्रता को और अधिक बढ़ाया जाय अथवा इनके सूक्ष्म विषय तन्मात्राओं तक का साक्षात्कार होने लगे तो वह विचारानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि कहलाएगी।

आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात—यदि उसमें भी राग को छोड़कर ध्यान को अन्तर्मुख किया जाय तो अहंकार का साक्षात्कार होने लगेगा। यह अहंकार गंध आदि विषय-जैसी कोई ग्राह्य वस्तु नहीं है, न इसका इस प्रकार-जैसा साक्षात्कार होता है। इसमें एक विचित्र आनन्द के साथ बाहर के सारे व्यवहारों से भूली-जैसी अवस्था होती है, किन्तु यह भूलापन स्वप्न अथवा सुषुप्ति जैसा नहीं होता। इसमें अहं वृत्ति से अहंकार का साक्षात्कार होता है। यही अहंकार है और इस समाधि का नाम आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि होगा।

अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात—यदि आनन्दानुगत में आसक्ति और लगाव को छोड़कर ध्यान को और अंदर की ओर बढ़ाया जाय तो अस्मिता (पुरुष से प्रतिबिम्बित चित्त सत्त्व) का साक्षात्कार होने लगता है, इसमें भी चित्त का किसी ग्राह्य विषय जैसा साक्षात्कार नहीं होता। इसकी प्रथम अवस्था का ही कुछ वर्णन हो सकता है। अन्तिम अवस्था का यथार्थ रूप शब्दों में नहीं आ सकता। इसमें अहंकार द्वारा आत्म तत्त्व को अहं-भाव प्रतीति कराने वाली 'अहंवृति' नहीं रहती। कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ममता, देश, दिशा, काल आदि से भिन्न आत्म तत्त्व की प्रतीति होती है। बीच-बीच में ध्यान के शिथिल होने पर जब कोई अहंकार वाली वृत्ति आकार अपने कर्तृत्व, भोक्तृत्व, और ममता की सीमा से परिछिन्न अवस्था की स्मृति कराती है तो उस दशा में बड़ा आश्चर्य होता है। इसकी

उच्चतम अवस्था विवेक ख्याति है, जिसमें चित्त से भिन्न आत्मा का साक्षात्कार होता है, किन्तु यह चित्त द्वारा आत्म साक्षात्कार वास्तविक नहीं है।

इसमें भी राग और आसक्ति के टूटने पर और अन्दर की ओर घुसने पर (वैराग्य द्वारा) जब यह वृत्ति भी नहीं रहे, तब सब वृत्तियों के निरोध होने पर स्वरूपावस्थित होती है, किन्तु ये सब बातें एक साथ अथवा सुगमता और शीघ्रता से आने वाली नहीं है। दीर्घ काल तक निरन्तर सत्कार से अभ्यास करते हुए और क्रम-क्रम से भूमियों को विजय करते हुए धैर्य के साथ उन्नति करते रहना चाहिये।

अधिकारी पाठकों की जानकारी के लिये यह भी बता देना आवश्यक है कि सम्प्रज्ञात की सिद्धि के लिये भृकुटि (आज्ञा-चक्र) और असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि के लिये ब्रह्मरन्ध्र (सहस्रार) ध्यान के लिए सबसे उत्तम स्थान है, किन्तु अभ्यास के लिए प्रारम्भ में अन्दर से इन स्थानों का अनुमान द्वारा पता लगाना कठिन है। यदि रूप विषय का स्थान जो तालु है, उसके समक्ष अन्दर से ध्यान किया जाय तो ध्यान स्वयं भृकुटि (आज्ञाचक्र) तक पहुँच जाता है। इसी प्रकार जिह्वामूल (ऊपर का स्थान अथवा छोटी जिह्वा) जो शब्द-विषय का स्थान है, वहाँ से तालु की ओर ऊपर को ध्यान किया जाय तो ध्यान ब्रह्मरन्ध्र तक स्वयं पहुँच जाता है। ध्यान के लिये तालु को भृकुटी द्वारा और जिह्वामूल अथवा छोटी जिह्वा को ब्रह्मरन्ध्र का द्वार समझना चाहिए। कहीं-कहीं जिह्वामूल से ऊपर तालुमूल को एक ललनाचक्र का स्थान बतलाया है।

योग शब्द की पुर्नव्याख्या

'योग' शब्द की व्युत्पत्ति—संस्कृत की 'युज समाधौ' धातु में 'धज्' प्रत्यय लगने से तथा 'युजिर्' 'योग' धातु में 'कर्तरि यज्' प्रत्यय लगने से हुई है। इस प्रकार इस शब्द का सामान्य अर्थ है-'समाधि जोड़ने वाला।'

पतञ्जलि योग-भाषा के अनुसार—**योगः समाधिः स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः** अर्थात् 'योग समाधि को कहते हैं, जो चित्त का सार्वभौम धर्म है।' दूसरे शब्दों में—'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' अर्थात् चित्तवृत्तियों के निरोध (एकाग्रता) का नाम ही योग है।

महात्मा याज्ञवल्क्य के शब्दों में—'संयोग योग इत्युक्तो जीवात्मः परमात्मनो' अर्थात् 'जीवात्मा और परमात्मा के संग (मिलन) का नाम योग' है।

श्रीमद्भगवत्गीता के अनुसार—१. समत्व योग उच्यते अर्थात् समत्व (जीवात्मा एवं परमात्मा के एकीकरण) का नाम 'योग' है। तथा—२. योगः कर्मसु कौशलम्' अर्थात् कर्म-कौशल का नाम ही योग है।

एक अन्य मतानुसार—**'सर्वचिन्ता परित्यक्तो निचिन्तो योग उच्यते'** अर्थात् 'सब चिन्ताओं को त्याग कर निश्चित हो जाने का नाम ही योग है।'

वेदान्त के मत में—'जीव और आत्मा के मिलन की संज्ञा ही योग है।' **'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' के अनुसार**—'शिव तथा आत्मा के अभेदज्ञान का नाम ही योग है। **आगम के मत से**—'शिव तथा शक्ति का अभेद ज्ञान ही योग है।' **'योगवाशिष्ठ' के अनुसार**—'संसार सागर से पार होने की युक्ति को ही योग कहते हैं।' **श्री भारती कृष्ण तीर्थ के मत में**—'नारायण के साथ नर के एकात्म हो जाने के साधन को योग कहा जाता है।' **श्री अरविंद का कथन है**—जिसके द्वारा आभ्यन्तर तथा बाह्य जीवन का ऐसा परिपूर्ण उत्सर्ग तथा परिवर्तन हो कि उसके द्वारा भगवत चैतन्य की अभिव्यक्ति हो तथा वह स्वयं भी भगवत्-कर्म का एक अङ्ग बन सके। **स्वामी शिवानन्द सरस्वती के शब्दों में**—'योग उस साधन सारणी का नाम है, जिसके द्वारा जीवात्मा तथा परमात्मा की एकता का अनुभव होता है एवं जीवात्मा का परमात्मा के साथ ज्ञान पूर्वक संयोग होता है।' **श्री नकुलेश्वर मजूमदार के मतानुसार**—'भगवान् के साथ जो जीव का मिलन होता है उसी का नाम योग है।'

शब्द कोषों में 'योग' के तीस चालीस अर्थ तक गिनाये गये हैं तथा आयुर्वेद में औषधियों के मिश्रण को 'योग' कहा जाता है।

योग शब्द की उक्त परिभाषाओं तथा ग्रन्थों एवं महापुरुषों द्वारा की गयी विभिन्न व्याख्याओं का मूल आशय एक ही है। और वह है—योग उस क्रिया का नाम है, जो जीवात्मा का परमात्मा के साथ मिलन करता है। अर्थात् जिस साधन द्वारा जीवात्मा और परमात्मा में ऐक्य स्थापित हो सके, वही 'योग' है। जीवात्मा को परमात्मा के साथ जोड़ने के अनेक साधन मान्य किये गये हैं, इसी कारण योग के भी अनेक प्रकार माने

जाते हैं, यथा—भक्ति योग, ज्ञान-योग, बुद्धियोग, नाद-योग, शिव-योग, लय-योग, ध्यान-योग, प्रेम-योग, मन्त्र योग, तन्त्र-योग, कुण्डलिनी-योग, संकीर्तन-योग, जप-योग, ध्यान-योग, अनासक्ति-योग, कर्म-योग आदि।

श्रीमद्भगवद्गीता के अठारहवें अध्याय में अठारह प्रकार के योगों का अलग-अलग वर्णन पाया जाता है। हिन्दू-धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्म तथा सम्प्रदायों में भी योग के विभिन्न स्वरूप प्रचलित हैं।

योग के अंग

'साधन चतुष्टय' में योग की चार प्रमुख विधाएँ ही स्वीकार की गयी हैं—

१. मन्त्रयोग, २. हठयोग, ३. लय योग तथा ४. राजयोग।

यह सम्पूर्ण दृश्यमान—जगत् नाम रूप वाला होने के कारण जीव को अपनी ओर आकर्षित किये रहता है, अतः उसके आकर्षण से बचने के लिए ईश्वर के जिस दिव्य नाम-रूप का आश्रय लेकर चित्तवृत्ति निरोध की जो क्रियाएँ की जाती हैं, वे सब 'मन्त्र योग' के अन्तर्गत आ जाती हैं। यथा—ध्यान-योग, भक्ति-योग, संकीर्तन-योग, जप-योग, प्रेम योग आदि।

मनुष्य शरीर में षट्चक्रों की विद्यमानता है। जिन क्रियाओं द्वारा उन चक्रों का वेधन करके साधक चित्तवृत्ति के निरोध द्वारा परमात्मा का सामीप्य लाभ पाता है, वे सब 'हठयोग' के अन्तर्गत आती हैं। षटचक्र वेधन द्वारा सुप्त-कुण्डलिनी को जागृत कर उसका सहस्र दल कमल में विद्यमान परमात्मा के साथ ऐक्य स्थापित करने की क्रियाओं को 'लय-योग' कहते हैं। वस्तुतः यह भी योग की ही एक चरम स्थिति है।

वुद्धि-प्रयोग द्वारा मन की क्रियाओं को नियन्त्रित कर विचारों के द्वारा चित्तवृत्ति निरोध की स्थिति प्राप्त करने को 'राज-योग' कहते हैं।

सांख्य-दर्शन के अनुसार प्रकृति तीन शक्तियों से संघटित है—१. सत्व, २. रजस् ३. तमस्। इसकी अभिव्यक्ति को—१. सन्तुलन, २. क्रियाशीलता तथा ३. निष्क्रियता भी कहा जा सकता है। 'रजस्' क्रियाशीलता तथा 'तमस्' निष्क्रियता का प्रतीक है। 'सत्त्व' इन दोनों

के सन्तुलन करने वाले सामञ्जस्य का प्रतीक है। हठयोग राजयोग तथा कर्मयोग—ये क्रमशः सत्व, रजस् एवं तमस् शक्तियों से सम्बन्धित है। इसमें पहला अर्थात् हठयोग शारीरिक पक्ष से, दूसरा अर्थात् राजयोग मानसिक पक्ष से एवं तीसरा अर्थात् कर्मयोग—दोनों पक्षों से सम्बन्ध रखता है। इससे भिन्न चौथा 'ज्ञानयोग' है, जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की पद्धति है। योग की सभी विधाएँ इन्हीं में समाहित की जा सकती हैं।

हठयोग के आठ अङ्ग माने गये हैं। कुछ आचार्यों ने तथा कुछ विद्वानों ने ६ अङ्ग भी कहा है। जिन्होंने ७ अंग माने हैं उन्होंने आरम्भ के अंगों को मिलाकर एक कर दिया है तथा जिन्होंने छः अंग माने हैं उन्होंने आरम्भ के दो अङ्गों की पृथक् मान्यता स्वीकार नहीं की है। उनका कहना है कि जो छः अंगों का पालन करेगा उनके लिए आरम्भ के दो अंगों का पालन करना अनिवार्य है ही, अतः उनकी गणना पृथक् से क्यों की जाय ? बहरहाल यह आचार्यों के बुद्धि- विकास युक्त तर्क है। कुछ आचार्यों ने योग के कुछ अङ्गों में नाम-भेद भी कर दिया है। अतः हम विद्वानों के तर्क-जाल में न उलझकर, यहाँ हठयोग के हठ अङ्गों के नामों का उल्लेख मात्र कर रहे हैं, इनकी व्याख्या आगे की जायेगी। नाम इस प्रकार हैं—१. यम २. नियम ३. आसन ४. प्राणायाम ५. प्रत्याहार ६. धारणा, ७. ध्यान और ८. समाधि।

'लययोग' के ९ अंग कहे गये हैं—१. यम, २. नियम, ३. स्थूल-क्रिया, ४. सूक्ष्म-क्रिया, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान, ८. लय क्रिया तथा ९. समाधि। इनमें स्थूल-क्रिया का मन्त्र क्रिया से, सूक्ष्म क्रिया का स्वरोदय क्रिया से, प्रत्याहार का नादनुसन्धान क्रिया से तथा धारणा का षट्चक्र-वेधन क्रिया से सम्बन्ध रहता है।

राजयोग के १६ अंग कहे गये हैं, जिनमें ७ अङ्ग विचार प्रधान हैं। २ अंग धारणा विषयक हैं—प्रकृति धारणा और ब्रह्म धारणा, ३ अंग ध्यान विषयक हैं—विराड्-ध्यान, ईश-ध्यान तथा ब्रह्म-ध्यान, ४ अङ्ग समाधि के हैं—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत इनके ज्ञातव्य विषयक क्रमशः स्थूलभूत, सूक्ष्म भूत, अहंकार तथा तादात्म्यापन्न पुरुष माने गये हैं। इन विधियों द्वारा राजयोग का अभ्यासी मन को वश में करके प्राणों पर विजय तथा योग सिद्धि प्राप्त करता है।

अष्टांग योग

यहाँ योग के ८ अङ्गों का सामान्य परिचय प्रस्तुत करना आवश्यक है। इससे पाठक यह जान सकेंगे कि योग-साधन से क्या-क्या लाभ प्राप्त हो सकते हैं जिनका संक्षिप्त विचरण इस प्रकार है—

१. यम—यम के अन्तर्गत—१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्म-चर्य तथा ५. अपरिग्रह—इन पाँच की गणना की जाती है।

मन, वचन तथा कर्म से किसी भी प्राणी को किसी प्रकार का दुःख न पहुँचाने का नाम ही 'अहिंसा' है। ईर्ष्या, द्वेष तथा दुर्वचनों का परि-त्याग भो इसी प्रकार के अन्तर्गत आ जाता है। जो प्राणी सर्वतो भावेन 'अहिंसक' बन जाता है, संसार के सभी जीव (हिंसक पशु आदि भी) उससे प्रेम कर उठते हैं।

मन, वचन, कर्म (सब प्रकार) से 'सत्य' का पालन करने तथा प्रत्येक परिस्थिति में सत्य बोलने से वाणी सिद्ध हो जाती है तथा शरीरस्थ सूक्ष्म शक्तियों का उत्तरोत्तर विकास होने लगता है।

किसी की वस्तु को स्वयं पाने की अनधिकार चेष्टा न करना ही 'अस्तेय' है। इसके अन्तर्गत चोरी, ठगी, रिश्वत, कम तौलना, उचित मूल्य से अधिक लेना अथवा पराई वस्तु को अपनी वताना आदि सभी बातें आ जाती हैं।

मन, वचन, तथा कर्म से सब प्रकार के मैथुनों का परित्याग करना ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य पालन से सब प्रकार की सामर्थ्य प्राप्त होती है।

किसी प्रकार की सम्पत्ति का संचय न करना तथा उससे बचना ही 'अपरिग्रह' है। इसके अन्तर्गत-स्वार्थपरता, मोह, ममता आदि विषय भी आ जाते हैं। अपरिग्रह से जन्म-जन्मान्तरों का ज्ञान होता है।

२. नियम—इसके अन्तर्गत—१. शौच, २. सन्तोष, ३. तप, ४. स्वा-ध्याय तथा ५. ईश्वरप्रणिधान इन पाँचों की गणना की जाती है।

सब प्रकार की बाह्य तथा आभ्यन्तरिक स्वच्छता में ईर्ष्या, घृणा, मद, मत्सर, क्रोध, लोभ, मोह आदि का त्याग आता है। चित्त शुद्धि, मन की शुद्धि, एकाग्रता, जितेन्द्रिय एवं आत्म साक्षात्कार की योग्यता—इन पाँचों को आभ्यन्तर शौच माना गया है। शौच, शरीर को स्वस्थ, चित्त

को निर्मल तथा विचारों को पवित्र बना कर ईश्वरीय सामीप्य-लाभ कराने में सहायक होता है।

प्रत्येक परिस्थिति में प्रसन्न बना रहना ही 'संतोष' है, सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मृत्यु आदि किसी भी कारण से असन्तुष्ट न होना तथा कामनाओं पर 'विजयी' बना रहना ही सन्तोष का प्रमुख लक्षण है। इससे सर्वत्र सुख का अनुभव होता है।

कष्ट-सहिष्णुता ही 'तप' है। सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास; मान-अपमान आदि को समभाव से सहन करते हुए, ईश्वर चिन्तन में मन लगाये रखने को 'तप' कहते हैं। तप द्वारा इन्द्रियों का असाधारण विकास होता है तथा सब प्रकार की सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं।

धर्म, वेदान्त, अध्यात्म एवं सद्‌गुणों के पोषक तथा दुर्गुणों को हटाने वाले वेद, शास्त्र, पुराणादि सद्‌ग्रंथों का अध्ययन करना ही स्वाध्याय है। यह आत्मोन्नति की प्रमुख सीढ़ी है। इससे इष्टदेव का साक्षात्कार होता है।

अपने शरीर के रोम-रोम में ईश्वर का अनुभव करना तथा प्रत्येक समय उन्हीं के चिन्तन तथा गुणानुवाद में संलग्न रहकर, अपने समस्त कर्म तथा उनके परिणामों को उन्हीं को समर्पित करते रहना ही ईश्वर प्रणिधान है इससे समाधि का सिद्धि होकर, ईश्वर-समीप्य प्राप्त होता है।

३. आसन—आसन एक प्रकार से व्यायाम क्रियाएं हैं जिनसे शरीर के विभिन्न अङ्गों को विभिन्न आकृतियों में बदला जाता है। ये शरीर को स्वस्थ तथा नीरोग करते ही हैं, चित्त तथा विचारों को पवित्र बनाते हैं। आसनों की संख्या हजारों में पायी जाती हैं, परन्तु उन सबको ८४ आसनों में सीमित किया गया है। अतः योग के ८४ आसन ही प्रसिद्ध हैं, उनमें से कुछ ही आसन लाभदायक, सुखकर तथा सहज-साध्य हैं। इन आसनों को विभिन्न आयु के स्त्री-पुरुष कर सकते हैं तथा वांछित लाभ उठा सकते हैं।

४. प्राणायाम—श्वास लेने तथा छोड़ने की विशेष क्रिया को प्राणायाम कहा जाता है। प्राण-वायु के निरोध से चित्त की चंचलता दूर हो जाती है, वह स्थिरता प्राप्त कर लेता है। प्राणायाम का क्रिया सहज सुसाध्य तथा सभी के लिए उपयोगी है। इसके सम्बन्ध में भी आगे विस्तार पूर्वक लिखा जायगा।

५. प्रत्याहार—जिन क्रियाओं से बहिर्मुखी इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से विरक्त कर, अन्तर्मुखी बनाया जाता है, उन्हें प्रत्याहार कहते हैं। नेत्र, जिह्वा, नासिका, त्वचा तथा कर्ण—इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों के प्रमुख विषय रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द है। नेत्र को रूप से, जिह्वा को रस से, नासिका को गन्ध से, त्वचा को स्पर्श से तथा कर्ण को शब्द से हटा लेना ही 'इन्द्रिय निग्रह' अथवा प्रत्याहार है। इस प्रकार के इन्द्रिय निग्रह से शक्ति, सिद्धि तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

६. धारणा—चित्त की चञ्चलता दूर करने हेतु उसे शरीर के किसी एक विशेष भाग में अथवा बाह्य प्रदेश में किसी एक बिन्दु पर स्थित करने की क्रिया को धारणा कहा जाता है। इसके लिए भृकुटी, नासिकाग्र, हृदय-कमल अथवा नाभि-चक्र आदि शरीर के आभ्यन्तरिक भाग एवं सूर्य, चन्द्र, ध्रुव आदि बाह्य-प्रदेश चुने जाते हैं। धारणा से चित्त एक स्थान पर स्थिर हो जाता है, इधर-उधर नहीं भटकता। धारणा की परिपक्वावस्था ही 'ध्यान' कहलाती है। धारणा को दूसरे शब्दों में चित्त की एकाग्रता भी कहा जा सकता है।

७. ध्यान—ध्यान दो प्रकार के कहे गये हैं—स्थूल तथा सूक्ष्म, किसी चित्र, मूर्ति आदि के माध्यम से ईश्वर को ध्यान करने को 'स्थूल ध्यान' तथा स्वहृदयस्थ तेजोमय आत्मा में ही ईश्वर-चिन्तन करने को 'सूक्ष्म ध्यान' कहते हैं।

८. समाधि—सब प्रकार के योग में इस अवस्था को अन्तिम माना गया है। अर्थात् जब सब कुछ शून्य लगता है, तथा मात्र अपने ध्येय (ईश्वर) की ही प्रतीति होती है, उस स्थिति को 'समाधि' कहा जाता है। इस अवस्था में स्वयं के अस्तित्व का भी भान नहीं रहता। समस्त यौगिक क्रियाओं की चरम परिणति ही समाधि अवस्था है।

टिप्पणी—षट्कर्मों के अन्तर्गत—१. नेति, २. धौति, ३. बस्ती, ४. कपाल भाति, ५. त्राटक तथा ६. नौलि—इन छः की गणना की जाती है। योग के विभिन्न अङ्गों-उपाङ्गों में ही ये क्रियाएँ आती हैं। इनके सम्बन्ध में आगे लिखा जायगा।

चित्त-वृत्तियाँ परम चंचल होती हैं। जब तक उन पर नियन्त्रण स्थापित नहीं होता, अर्थात् जब तक चित्त एकाग्र नहीं होता, तब तक जीवात्मा का परमात्मा से मिलन सम्भव नहीं हो पाता। अस्तु, चित्त-

वृत्तियों को वशीभूत करने के जो भी उपाय प्रयोग में लाये जाते हैं, उन सबको योग की संज्ञा से अभिहित किया जाता है, तथापि रूढ़ अर्थ में योग से तात्पर्य 'योगासन' आदि की क्रियाएँ ही समझी जाती हैं। यथार्थ में योगासन योग के एक मात्र एक अङ्ग ही है जो शरीर को स्वस्थ एवं नीरोग बनाकर चित्त शुद्धि में सहायक होते हैं। चित्त शुद्धि से एकाग्रता की प्राप्ति होती है। जीवात्मा का परमात्मा से मिलन ही योग का अन्तिम उद्देश्य है।

योग के आठ अङ्गों में से साधक को क्रमशः सफलताएँ प्राप्त करनी पड़ती हैं। यम-नियम से लेकर ध्यान तक के प्रारम्भिक सात अङ्ग 'साध्य' कहे जा सकते हैं। इन्हें कोई भी साधक बिना गुरु की सहायता के केवल संयम, स्वाध्याय तथा अभ्यास के बल पर भी सिद्ध कर सकता है। यदि किसी गुरु का निर्देशन भी प्राप्त हो जाय, तब तो कहना ही क्या है? परन्तु योग के अन्तिम आठवें अंग 'समाधि' तक पहुँचने के लिए गुरु निर्देश की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार कुण्डलिनी-जागरण की क्रिया जो कि साधक को समाधि अवस्था तक पहुँचा देती है उसमें भी गुरु का समीप्य तथा निर्देश आवश्यक माना गया है। उसके अभाव में लाभ के स्थान पर हानि होना भी सम्भव है।

योगाभ्यास से पूर्व

सामान्य ज्ञातव्य—किसी भी यौगिक अभ्यास (क्रिया) को करने से पूर्व कुछ सामान्य-नियमों का पालन करना आवश्यक है। योग के आठ अङ्गों में से प्रथम दो अङ्ग १. यम और २. नियम का उल्लेख किया जा सकता है। इनका जितनी अधिक दृढ़ता से पालन किया जायेगा, योगाभ्यास में उतनी ही जल्दी तथा उत्तम सफलता प्राप्त होगी।

जो लोग पूर्णतः आध्यात्मिक जीवन बिताने में सक्षम हों अथवा वीतरागी हों व समाधि अवस्था तक पहुँच कर ईश्वर का सामीप्य लाभ करना चाहते हों, यम-नियमों का दृढ़ता पूर्वक पालन करना उन्हीं के लिए आवश्यक तथा सम्भव भी है, परन्तु जो लोग गृहस्थ हैं, सांसारिक कार्यों से विरत नहीं हो सकते उनके लिए यम-नियम का पूर्णतः पालन करना सम्भव नहीं हो सकता, ऐसी स्थिति में उन्हें निम्नानुसार आचरण करना उचित रहेगा।

'यम' के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह का पालन करना किसी गृहस्थ के लिए असम्भव नहीं माना जा सकता, अतः इन चारों का जहाँ तक सम्भव हो प्रत्येक गृहस्थ योगाभ्यासी को पालन करना आवश्यक है। गृहस्थों के अनजाने में हुई हिंसा को दोष नहीं माना जा सकता। उदाहरणार्थ—चींटी, मच्छर तथा अन्य अनेक सूक्ष्म जीव घर-गृहस्थी में पाँव के नीचे दबकर अथवा अन्य कारणों से मरते हैं। उनकी सुरक्षा का हर समय ध्यान नहीं रक्खा जा सकता और कभी-कभी तो ऐसे हानिकारक जीवों का जान-बूझ कर विनाश करना भी आवश्यक हो सकता है। अतः गृहस्थों के लिए ऐसी हिंसा वर्जनीय नहीं है। परन्तु उन्हें इस दिशा में प्रयत्नशील रहना चाहिए कि जहाँ तक सम्भव हो, वे किसी पशु-पक्षी तथा मनुष्य आदि को किसी भी प्रकार से कष्ट न पहुँचाएँ।

इसी प्रकार 'सत्य' का पालन करने में सदैव सचेष्ट रहना चाहिए। कठिन से कठिन परिस्थिति में भी असत्य बोलना बुरा है। परन्तु यदि कभी किसी लज्जा अथवा प्राण-रक्षा के लिए असत्य बोलना नितान्त आवश्यक अनुभव हो, तो उस स्थिति में असत्य भाषण भी 'क्षम्य' माना जा सकता है, परन्तु बिना किसी अपरिहार्य कारण के झूठ बोलना न केवल बुरा है, अपितु वह पाप होने के साथ ही पुण्य क्षय कारक भी होता है।

'अस्तेय' अर्थात् अचौर्य का पालन प्रत्येक परिस्थिति में करना चाहिए। इसी प्रकार न्यूनतम आवश्यकता से अधिक किसी भी वस्तु का संचय न करके 'अपरिग्रह' का पालन करना भी अत्यावश्यक है।

अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन कर पाना न तो गृहस्थ स्त्री-पुरुषों के लिए सम्भव है और योग साधना के लिए आवश्यक ही है। अतः यहाँ 'ब्रह्मचर्य' का तात्पर्य 'संयम' समझना चाहिए। भगवान् कृष्ण को 'योगिराज' कहा जाता है, परन्तु वे भी गृहस्थ धर्म का पालन करने वाले पुत्र-पुत्रवान थे। पुराणोक्त सभी ऋषि-मुनि योगाभ्यासी रहे हैं, परन्तु उनमें से अधिकांश गार्हस्थ जीवन ही बिताते थे। अतः योगाभ्यास कर्ता को मात्र सन्तानोत्पत्ति के लिए ही रति में प्रवृत्ति होना चाहिए। मात्र दैहिक सुख के लिए वीर्यपात करना वर्जित है। शरीरस्थ सप्त धातुओं में वीर्य सबसे मूल्यवान है, एक प्रकार से वह जीवन शक्ति भी है। जो जितना

अधिक वोर्यवान होता है वह उतना ही अधिक तेजस्वी या दीर्घायु भी होता है, इसके विपरीत जो जितना अधिक वीर्य नाश करता है वह उतना ही अशक्त, रोगी तथा अल्पायु होता है। अतः संयमित मैथुन करना ही गृहस्थ के लिए यथार्थ 'ब्रह्मचर्य-पालन' है और इस व्रत को सभी स्त्री पुरुष सरलता पूर्वक कर सकते हैं।

यह तो हुई 'यम' पालन की बात। अब हम नियम पालन पर विचार करें।

'शौच' अर्थात् पवित्रता प्रत्येक मनुष्य के लिये प्रत्येक दृष्टि से शुभ तथा आवश्यक है। शरीर को स्नान, दन्त-धावन आदि से भली-भाँति स्वच्छ रक्खा जा सकता है। इसी प्रकार वस्त्र भी चाहे अल्प मूल्यवान अथवा फटे-पुराने क्यों न हों स्वच्छ रक्खे जा सकते हैं। स्वच्छ शरीर पर स्वच्छ वस्त्र धारण करने से अंग-प्रत्यङ्ग प्रफुल्ल, स्वच्छ तथा नीरोग बने रहते हैं तथा चित्त प्रसन्न रहता है।

'स्वाध्याय' अर्थात् सद्ग्रन्थों का अध्ययन बुराइयों से बचा कर सद्-गुणों का विकास करता है। उपन्यास, नौटंकी, कहानी-किस्से आदि की पुस्तकें जहाँ समय को व्यर्थ नष्ट करती हैं वहीं चित्त-वृत्तियों में क्षोभ उत्पन्न करके, उन्हें कुमार्ग पर चलने को प्रेरित भी करती हैं। अतः दुर्गुणों को जन्म देने वालो पुस्तकों को पढ़ने में अपना समय नष्ट न करें।

ईश्वर 'प्रणिधान' अर्थात् अपने रोम-रोम में तथा संसार के प्रत्येक जीव एवं प्रत्येक वस्तु के कण-कण में ईश्वर की विद्यमानता को अनुभव करना तथा अपने प्रत्येक कर्म को ईश्वर के प्रति समर्पित करते रहना यह योग की एक उच्चतम स्थिति है। इसमें अपना ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण मानवता, सम्पूर्ण सृष्टि का कल्याण सन्निहित है। जब आप अपने रोम-रोम में तथा अपने से भिन्न-भिन्न प्रत्येक प्राणी एवं प्रत्येक पदार्थ के कण-कण में ही ईश्वर की सत्ता का अनुभव करने लगेंगे तो ईर्ष्या, घृणा, राग, द्वेष, अहंकार, माया, मोह, लोभ, हिंसा, शत्रुता, मित्रता, सुख-दुःख आदि की सभी भावनाएँ, सभी बुराइयाँ स्वतः ही समाप्त हो जायेंगी। तब आप को अपने तथा पराये में कोई अन्तर ही नहीं प्रतीत होगा और न आप किसी की हानि पहुँचा सकेंगे, न कोई आप की ही हानि पहुँचा सकेगा। अतः जो मनुष्य अपने जीवन को सफल बनाना चाहते हों, उन्हें इस भावना का अपने हृदय में अवश्य बद्धमूल कर लेना चाहिए।

उक्त यम-नियमों का परिचालन चाहे न हो, परन्तु प्राणायाम योगासन आदि के अभ्यासियों के लिए निम्नलिखित नियमों का पालन करना परम आवश्यक है। जो लोग इन सामान्य नियमों का पालन कर पाने में भी अक्षम हों, उन्हें इस पुस्तक में वर्णित अभ्यासों को करने की सलाह नहीं दी जा सकती, क्योंकि ऐसे लोगों के लिये ये अभ्यास लाभ पहुँचाने के स्थान पर हानिप्रद भी सिद्ध हो सकते हैं।

आवश्यक रूप से पालनीय नियम

१. अभ्यास के समय शरीर स्वच्छ, अक्लान्त, हल्का तथा सामान्य होना चाहिए। यदि किसी प्रकार की थकावट अथवा शारीरिक पीड़ा (रोग) हो तो अभ्यास न करें। परन्तु जिन योगासनों का अभ्यास विशेष रूप से रोग निवारणार्थ ही किया जाना हो, उन्हें किया जा सकता है।

२. अभ्यास से पूर्व मल-त्याग, दाँतों तथा मुँह की सफाई एवं हाथ-पाँवों को धोकर स्वच्छ कर लेना आवश्यक है। यदि स्नान भी कर लिया जाय तो सर्वोत्तम रहेगा। यदि स्नान बाद में करना चाहें तो कर सकते हैं, परन्तु अभ्यास से पूर्व कोष्ठ-शुद्धि (मल-त्याग) तथा मुँह, दाँत, हाथ-पाँव आदि की सफाई अवश्य कर लेनी चाहिए।

३. अभ्यास का स्थान साफ-सुथरा, हवादार, रुचिकर तथा शान्तिपूर्ण होना चाहिए, यदि एकान्त हो तो सर्वोत्तम।

४. अभ्यास का समय सूर्योदय से सूर्यास्त के बीच कभी भी किया जा सकता है, परन्तु यह नियमित एवं निश्चित होना चाहिए। एक दिन जिस समय अभ्यास किया जाय, अगले दिनों में भी ठीक उसी समय अभ्यास करना ठीक रहता है, परन्तु प्रातःकाल का समय सर्वोत्तम होता है। समय जो भी हो वह भोजन से दो घंटे पूर्व अथवा चार घंटे बाद में ही होना चाहिए। अभ्यास के समय यदि पेट खाली रहे तो सर्वोत्तम है।

५. चौबीस घण्टे में केवल एक ही बार अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास कम से कम १५ मिनट, अधिक से अधिक १ घण्टा करना उचित है। परन्तु यदि १ घण्टा का अभ्यास रखना हो तो ३० मिनट बाद १० मिनट तक विश्राम करना आवश्यक है, लगातार १ घण्टे तक अभ्यास नहीं करना चाहिए।

६. अभ्यास समाप्ति के बाद जितना समय अभ्यास में लगाया गया हो, उसका चतुर्थांश समय विश्राम में अवश्य देना चाहिए। यदि ३० मिनट अभ्यास किया गया हो, तो ७ मिनट, यदि ४० मिनट किया गया हो, तो १० मिनट तक, इसी तरह १ घण्टा आदि पर भी १५ मिनट तक विश्राम करना चाहिए।

७. अभ्यास के समय अपने मन को चिन्ता, क्रोध, घबराहट, घृणा, ईर्ष्या, भय, अहङ्कार, प्रतिशोध भावना आदि उद्वेगों से पूर्णतः मुक्त बनाए रक्खें। साथ ही मन पर किसी प्रकार का दबाव भी नहीं पड़ने देना चाहिये। यदि अभ्यास में मन न लगे अथवा कभी बीच में ही उचट जाय, तो अभ्यास-क्रिया बन्द कर देनी चाहिये। चित्त को शान्त अथवा निर्लिप्त अवस्था में किये गये अभ्यास ही फलदायक होते हैं।

८. अभ्यास-काल में ताजा, हल्का, सुपाच्य तथा अनुत्तेजक भोजन लेना आवश्यक है। शुद्ध भोजन निरामिष ही लिया जाना सर्वोत्तम रहेगा। भोजन में लाल मिर्च, मसालों का प्रयोग वर्जित है। ताजा फल, हरी सब्जियाँ, सलाद, दूध, मक्खन तथा पौष्टिक पदार्थों का सेवन अधिक लाभ कर होता है। एक समय अधिक बासी भोजन अहितकर होता है। सड़ी-गली, कसैली, दुर्गन्धयुक्त जूठी तथा कड़वी वस्तुओं का सेवन न करें। जितनी यथार्थ भूख हो, उससे २० प्रतिशत भोजन कम करना चाहिए। यदि भूख लगी हो, तो अभ्यास-काल में ६ रोटी की जगह ४ या ५ रोटी खानी चाहिये। भोजन में अन्न की मात्रा कम करके दूध, साग, सब्जी, ज्यादा सेवन करना चाहिए।

९. अभ्यास-काल में चाय तथा काफी का सेवन न किया जाय, तो अत्युत्तम रहेगा, परन्तु यदि काम न चले, तो दिन भर में दो प्याले से अधिक न पीने चाहिए।

१०. शराब, गाँजा, भाँग, अफीम, चरस तथा तम्बाकू आदि का सेवन सर्वथा त्याग करना चाहिये।

११. प्याज, लहसुन, तली हुई वस्तुएँ, उड़द, अरवी, बैंगन, काशीफल, गुड़, खटाई, तैल, लालमिर्च आदि उत्तेजक-गरिष्ठ दुष्पाच्य तथा हानिकर पदार्थों का सेवन सर्वथा त्याग दें, तो सर्वोत्तम है। अभाव में इन्हें अत्यल्प मात्रा में लें। किसी प्रकार की गिरी, यथा—नारियल की गिरी का सेवन न्यून कर दें। परन्तु काजू, बादाम, अखरोट, चिलगोजा आदि सूखे मेवों का सेवन क्षमता के अनुसार करना उत्तम है।

१२. अभ्यास के समय शरीर पर हल्के, स्वच्छ तथा सुखदायक वस्त्र ही धारण करें। वस्त्र जितने कम पहने जा सकें, उतना ही अधिक अच्छा रहेगा।

१३. भोजन कड़ी भूख लगने पर ही करें। यदि कभी कोष्ठ-बद्धता हो जाय, तो दो-तीन गिलास गुनगुने पानी में थोड़ा सा नमक डालकर पीयें, तथा कुछ देर टहलने के बाद पवनमुक्तासन, ताड़ासन, भुजङ्गासन आदि कब्ज-नाशक आसनों का (जिनका वर्णन प्रथम किया गया है), अभ्यास करने के बाद ही शौच जायें। इससे शीघ्र लाभ होगा। जब तक कब्ज दूर न हो, भोजन का सर्वथा त्याग कर दें। उस स्थिति में कभी भूख का अनुभव हो, तो फलों का रस अथवा दूध का सेवन करें। कब्ज हटाने के लिए किसी औषध का सेवन नहीं करना चाहिए।

१४. भोजन खूब चबा कर शान्तिपूर्वक करें, ताकि वह शीघ्र पच जाय। भोजन करने में जल्दी नहीं करनी चाहिए। भोजन में नमक की मात्रा यथा सम्भव कम ही रक्खें।

१५. प्रातः काल सोकर उठते ही एक गिलास ठण्डा पानी पीयें तथा बाद में प्रति दो घंटे बाद पर्याप्त मात्रा में पानी पीते रहें।

१६. भोजनोपरान्त जब भी कुछ खायें-पीयें, उसके बाद मुँह और दाँतों की सफाई भली-भाँति कर लिया करें।

१७. यदि आप रोगी हों तथा रोग निवारणार्थ आसनों का अभ्यास कर रहे हों तो उस स्थिति में खान-पानादि में उन्हीं वस्तुओं का प्रयोग करना चाहिये, जिनकी अनुमति आपके चिकित्सक ने दी हो। यों दूध तथा फल प्रत्येक अवस्था में हितकर रहते हैं, परन्तु किसी-किसी बीमारी में इनका सेवन भी वर्जनीय हो सकता है।

१८. रात्रि में ९-१० बजे तक सो जायें तथा प्रातः सूर्योदय से पूर्व जगने का अभ्यास डालें। सोते समय अपने चित्त को चिन्ताओं से मुक्त कर लें ताकि नींद खूब गहरी आये। गहरी नींद के अभाव में शरीर निद्रालु रहता ही है, शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। आसनों के नियमित अभ्यास के कुछ दिनों बाद तो अच्छी भूख लगना तथा गहरी नींद आना आदि गुण स्वतः ही प्रकट होने लगते हैं। परन्तु यह निर्देश प्रारम्भिक स्थिति के लिए है। सोते समय मुँह, कुहनी तक हाथ तथा घुटनों तक पाँवों को धोने से नींद आती है।

१९. भोजन, निवास, शयन तथा काम करने का स्थान स्वच्छ, प्रकाशयुक्त तथा हवादार होना चाहिए। गन्दे, दुर्गन्धयुक्त, सीलन भरे तथा प्रकाश एवं वायु-रहित स्थानों में न रहें, न बैठें और न कोई अन्य काम ही करें।

२०. स्नान नित्य करें, वह भी शीतल जल से। ग्रीष्मऋतु में नित्य दो या तीन बार भी स्नान किया जा सकता है। अधिक ठण्ड के दिनों में नित्य प्रातः एक बार स्नान जरूर करना चाहिये। यदि शीतल जल सहन न हो तो स्नान के लिए सामान्य गुनगुने पानी का उपयोग किया जा सकता है, परन्तु सिर को सदैव ठण्डे पानी से ही धोना चाहिये।

२१. स्नानोपरान्त शरीर को रोएँदार तौलिया आदि से भली-भाँति रगड़ कर सुखा लेना चाहिए। ऐसा करने से शरीर के रोम-छिद्र खुल जाते हैं जिससे शरीर में शुद्ध वायु के प्रवेश तथा अशुद्ध वायु के निष्कासन में बाधा नहीं पड़ती।

२२. सदैव नाक द्वारा ही श्वास लें और छोड़ें। मुँह द्वारा श्वास लेना तथा छोड़ना वर्जित है। श्वास खूब गहरी लेनी चाहिए। प्राकृतिक श्वास सीने से नहीं अपितु पेट से ली जाती है—श्वास जल्दी-जल्दी नहीं लेनी चाहिये।

२३. सदैव मौसम के अनुकूल, परन्तु ढीले तथा स्वच्छ वस्त्रों को ही पहनना चाहिए। ओढ़ने-बिछाने तथा उपयोग में आने वाले अन्य सभी वस्त्रों का स्वच्छ होना आवश्यक है।

२४. आसन करने से पूर्व एक गिलास ठण्डा तथा ताजा पानी पी लेने से वह सन्धि-स्थलों का मल निकालने में अत्यन्त सहायक होता है।

२५. आसनों का अभ्यास समाप्त करने के तुरन्त बाद तेज अथवा ठण्डी हवा में बाहर नहीं निकलना चाहिए। जिस स्थान पर आसनों का अभ्यास किया जाय, वहाँ भी तीखी हवा का प्रवेश नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार आसनों का अभ्यास समाप्त करने के तुरन्त बाद ही स्नान करना भी वर्जित है।

२६. शीत-ऋतु में आसनों का अभ्यास करते समय छाती को खुला हुआ नहीं रखना चाहिये।

२७. आसनों का अभ्यास समाप्त करने के बाद लघुशङ्का त्याग के लिए अवश्य जाना चाहिये। इससे एकत्र मल, मूत्र द्वारा शरीर से बाहर निकल जाता है।

२८. लकड़ी के तख्त पर दरी आदि बिछा कर अथवा भूतल पर चार तह वाला कम्बल बिछा कर आसनों का अभ्यास करने से शरीर में निर्मित होने वाला विद्युत्-प्रवाह नष्ट नहीं हो पाता।

२९. यदि आँतों में सूजन, अम्लत्व, खुजली, रक्तचाप आदि विषाक्त तत्त्वों की शिकायत हो तो शीर्षासन नहीं करना चाहिये। जिस रोग के लिए जिन आसनों को हितकर बताया गया है, उनके लिए उन्हीं का प्रयोग करना चाहिए। रोग मुक्त सामान्य स्थिति में किसी भी आसन का अभ्यास किया जा सकता है।

३०. आरम्भ में अनेक आसनों को करने में कठिनाई का अनुभव होता है तथा हाथ-पाँव आदि अङ्गों को मोड़ पाना असम्भव प्रतीत होता है परन्तु धैर्यपूर्वक निरन्तर अभ्यास करते रहने से कुछ ही दिनों में सभी रुकावटें दूर हो जाती हैं, तब विभिन्न अङ्ग इच्छानुसार बड़ी सरलता से मुड़ जाते हैं। अभ्यास के प्रारम्भिक दिनों में सरलतापूर्वक जो क्रिया जितनी सम्पन्न हो सके, उतनी ही करनी चाहिए तथा फिर बहुत धीरे-धीरे आगे बढ़ना चाहिये।

३१. सर्व प्रथम योगासन तदुपरान्त प्राणायाम और अन्त में ध्यान का क्रम रखना उचित रहता है। परन्तु जो लोग इनमें से किन्हीं एक या दो क्रियाओं को करना ही चाहते हों वे अपने इच्छानुसार वैसा कर सकते हैं। परन्तु योगासन बाद में नहीं करने चाहिये। केवल योगासन, केवल प्राणायाम अथवा योगासन और ध्यान की जोड़ी अच्छी रहती है। यदि तीनों क्रियाओं को क्रमशः किया जा सके, तब तो कहना ही क्या है ?

३२. योगासनों के लिए ३० मिनट, प्राणायाम के लिए १० मिनट तथा ध्यान के लिए १० मिनट और प्रत्येक के बीच में तथा अन्त में १०-१० मिनट का विश्राम। इस प्रकार कुल ८० मिनट का समय यदि नियमित रूप से इस कार्य में दिया जा सके, तो उसके अनेक अप्रत्याशित लाभ दिखाई देंगे।

३३. मल-मूत्रादि के वेग को कभी रोकना नहीं चाहिए। इसी प्रकार छींक आदि का रोकना भी वर्जित है। यदि अभ्यास काल में भी कभी

इनका वेग उद्वेलित हो तो सर्वप्रथम उसका निवारण करना चाहिये, अर्थात् मल, मूत्र, छींक आदि के त्याग के बाद ही अभ्यास को पुनः आरम्भ करना उचित है।

३४. सप्ताह में कम-से-कम एक बार सम्पूर्ण शरीर पर तेल की मालिश अवश्य करनी चाहिये।

३५. ग्रीष्म-ऋतु में प्रातःकाल सूर्योदय के समय तथा शीत ऋतु में मध्याह्न काल में कुछ समय तक नंगे बदन धूप में बैठना स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हितकर रहता है। इस धूप स्नान से शरीर के अनेक रोग नष्ट हो जाते हैं, रक्त शुद्ध होता है, तथा बल एवं स्फूर्ति का सञ्चार होता है।

३६. बारहों महीने प्रातः, सायं खुली वायु में कुछ देर तक टहलने से स्वास्थ्य को बहुत लाभ होता है।

प्राणायाम का प्रभाव

योग के आठ अङ्गों में प्राणायाम का स्थान आसनों के बाद आता है। यह लिखा भी जा चुका है कि आसनों के बाद प्राणायाम तदुपरान्त ध्यान करना चाहिये। तथापि यहाँ प्राणायाम के विषय में आसनों के साथ ही लिखा जा रहा है, इसका कारण यह है कि कुछेक आसनों का अभ्यास करते समय कतिपय प्राणायाम की क्रियाएँ (यथा गहरी श्वास लेना और छोड़ना आदि) भी की जाती हैं, अतः आसनों से पूर्व उनकी जानकारी होना आवश्यक है।

'प्राणायाम' संस्कृत के दो शब्द 'प्राण' और 'आयाम' से मिलकर बना है। 'प्राण' का अर्थ है 'जीवनी शक्ति' अर्थात् जिसके रहते शरीर जीवित बना रहता है तथा आयाम का अर्थ है—विकास अथवा नियन्त्रण। अतः 'प्राणायाम' शब्द का अर्थ हुआ—जीवन-शक्ति को विकसित अथवा नियन्त्रित करने की क्रिया।'

जीवित रहने के लिए वायु की महती आवश्यकता है—इस तथ्य से सब लोग भली-भाँति परिचित हैं। भोजन तथा जल के बिना कुछ समय तक जीवित रहा जा सकता है, परन्तु वायु के अभाव में जीना सम्भव नहीं होता। प्रत्येक जीवधारी सोते जागते यहाँ तक कि बेहोशी की अवस्था में भी अविराम गति से श्वास लेता और छोड़ता रहता है, श्वास क्रिया के बन्द होते ही मृत्यु हो जाती है।

स्वाभाविक रूप से जो श्वास लिया जाता है, वह जीवनी शक्ति को सामान्य तो बनाये रखता है, परन्तु विकसित नहीं कर पाता। अस्वाभाविक रूप में जल्दी-जल्दी अथवा अधूरी ली गयी साँस जीवनी शक्ति को क्षीण करती है। मुँह से अथवा अशुद्ध वायु में ली गयी साँस हानिकर भी सिद्ध होती है।

श्वास लेने की उचित क्रिया से अधिकांश लोग अपरिचित हैं। किस प्रकार से श्वास लेने पर जीवनी शक्ति में वृद्धि की जा सकती है, यह तो एक प्रतिशत व्यक्ति भी नहीं जानते। अस्तु, 'प्राणायाम' को उचित एवं अधिक लाभकारी ढंग से श्वास लेने की एक विशेष पद्धति भी कहा जा सकता है।

हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने जहाँ मनुष्य जीवन को समुन्नत बनाने हेतु ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी अनेक खोजें की हैं, वहीं उन्होंने जीवन शक्ति वर्द्धक प्राणायाम क्रिया का आविष्कार कर मानव मात्र पर महान् उपकार किया है।

प्रभाव—प्राणायाम की श्वास-क्रिया फेफड़े को शक्तिशाली बनाकर, उनके लचीलेपन को बढ़ाती है, जिसके कारण सम्पूर्ण शरीर में प्राण वायु का अधिकाधिक संचारण होता है और उससे वृद्धिगत उष्मा के कारण अंग-प्रत्यंग पुष्ट तथा निरोग होते हैं। प्राणायाम क्रिया से शुद्ध-प्राणवायु शरीर के भीतर पहुँचती है, उतनी ही दूषित-वायु बाहर भी निकल जाती है, जिसके कारण शरीर के भीतर दूषित-मल संचित नहीं रह पाते और वह स्वच्छ तथा निर्मल बना रहता है।

शारीरिक श्रम के कारण जिन कोशिकाओं में टूट-फूट होने से जो रासायनिक परिवर्तन होते हैं, प्राणायाम द्वारा अन्दर प्रविष्ट हुई प्राण वायु उन सबकी क्षतिपूर्ति कर देती है। प्राणायाम द्वारा श्वसन-यन्त्रों के अतिरिक्त मस्तिष्क के भीतरी स्नायु, मंडल, पीयूष-ग्रन्थि, पीनियल-ग्रन्थि, आँख, नाक, कान तथा कण्ठ आदि अवयव भी स्वच्छ तथा निर्मल बने रहते हैं फलतः स्मरण-शक्ति तीव्र होगी, मस्तिष्क-सम्बन्धी विकार दूर होते हैं तथा अन्य सभी अंगों की क्रियाशीलता में वृद्धि होती है।

प्राणायाम से रक्त-परिभ्रमण की गति में तेजी आती है, फलतः मस्तिष्क की सूक्ष्म नाड़ियों तक वह आसानी से पहुँच जाता है। इस कारण मस्तिष्क कुछ देर के लिए निश्चेष्ट हो कर विश्राम का लाभ भी

पा लेता है तथा पुनः तरोताजा होकर अधिक क्रियाशील बन जाता है। फलतः प्राणायाम के अभ्यासी का मुख-मण्डल तेजस्वी तथा प्रसन्न दिखाई देता है और उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व आकर्षक बन जाता है।

निर्देश और नियम

प्राणायाम के नवीन अभ्यासी को अधिक ठण्ड तथा अधिक गर्मी से शरीर को बचाना चाहिए। अभ्यास का आरम्भ शरद ऋतु से करना अच्छा रहता है। दूध, मक्खन, घी, फल तथा गेहूँ की रोटी, ये सब प्राणायाम के अभ्यासी के लिए उत्तम भोजन है। प्ररन्तु जो लोग नित्य कम से कम १५ मिनट तक प्राणायाम का अभ्यास करें, वे मादक द्रव्यों के अतिरिक्त अन्य किसी भी इच्छित पदार्थ का सेवन कर सकते हैं।

प्राणायाम को नियमित रूप से करना ही पूर्ण लाभकर होता है। यदा-कदा करने से उसका यथार्थ लाभ नहीं मिल पाता।

प्राणायाम में श्वास लेते समय मन की गतिविधियों का सूक्ष्म निरीक्षण करना तथा बाहर निकालते समय निर्विचार रहरा उचित है।

प्राणायाम के समय यदि अभ्यासी को कब्ज की शिकायत हो तो कुछ दिनों के लिए नमक तथा मसालों का सेवन बन्द कर देना चाहिये। यदि पतले दस्त हो जायँ तो दही एवं चावल का सेवन करना चाहिए।

आसनों के बाद प्राणायाम करना उचित रहता है। प्राणायाम के बाद ठहाके लगाकर हँसना भी लाभप्रद सिद्ध होता है।

प्राणायाम करते समय शरीर को सीधा परन्तु शिथिल रखना चाहिए। मन में भी किसी प्रकार तनाव नहीं आने देना चाहिए। कुछ प्राणायाम बैठ कर, कुछ लेट कर तथा कुछ खड़े हो कर किये जाते हैं। बैठ कर अथवा लेटकर किये जाने वाले प्राणायाम विशेषतः आभ्यन्तरिक शुद्धि करते हैं, परन्तु बाह्य शरीर के लिए विशेष प्रभावकारी नहीं होते। खड़े होकर किये जाने वाले प्राणायाम बाह्य तथा आभ्यन्तरिक दोनों रूपों में लाभप्रद होते हैं।

प्राणायाम के अनेक प्रकार हैं उनमें से कुछ कठिन, कुछ सरल भी हैं। यहाँ कुछ प्रसिद्ध तथा विशेष उपयोगी प्राणायामों का ही उल्लेख किया गया है। इनमें से जो रुचिकर तथा साध्य प्रतीत हो, उसी का अभ्यास करना चाहिए।

प्राणायाम की सामान्य विधि

प्राणायाम की तीन विधियाँ हैं—

१. पूरक—अर्थात् श्वास को भीतर खींचना।

२. रेचक—अर्थात् श्वास को बाहर निकालना।

३. कुम्भक—अर्थात् श्वास को रोकना।

कुम्भक के दो भेद हैं—(१) अन्तः कुम्भक और (२) बहिर्कुम्भक।

(क) अन्तः कुम्भक—जब श्वास को भीतर खींच कर उसे कुछ देर तक भीतर ही रोके रखा जाता है, तो उसे 'अन्तः कुम्भक' कहते हैं।

(ख) बहिर्कुम्भक—जब श्वास को बाहर छोड़ने के बाद कुछ देर तक बिना श्वास खींचे रहा जाता है, तो उसे 'बहिर्कुम्भक' कहा जाता है।

योग शास्त्र में प्राणायाम की अनेक विधियों का उल्लेख पाया जाता है उनमें से जन सामान्य के लिए उपयोगी कुछ सरल विधियों का विस्तृत वर्णन यहाँ किया जा रहा है। अन्त में मात्र परिचय कराने के उद्देश्य से, कुछ अन्य कठिन विधियों का संक्षिप्त उल्लेख मात्र भी कर दिया गया है। कठिन विधियाँ योग की कठिन साधना करने वालों के लिए है, अतः सामान्य गृहस्थों को उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

यहाँ निम्नलिखित प्राणायामों की विधियाँ लिखो जा रही हैं। इनमें अन्तिम चार कठिन हैं। वे सामान्य जन के लिए न होकर योगियों के उपयोग के हैं—

१. सरल, २. समवेत, ३. सहित, ४. अतिरिक्त, ५. नाड़ीशोधन, ६. शीतकारी, ७. शीतली, ८. भ्रामरी, ९. उज्जायी, १०. भस्त्रिका, ११. सूर्यभेद, १२. मूर्च्छा तथा १३. प्लाविनी।

टिप्पणी—उक्त प्राणायामों के अभ्यास में जहाँ कहीं जालंधर-बन्ध आदि का उल्लेख है, उनकी जानकारी के लिए 'षट्कर्म' तथा आसनों का उल्लेख हुआ है, उनके लिए 'योगासन' के पृष्ठों को देखना चाहिए।

'सरल' प्राणायाम

विधि—पद्मासन अथवा पालथी मारकर सुखदायक स्थिति में बैठ जायँ। रीढ़ की हड्डी एक दम तनी रहे अर्थात् कमर या पीठ में झुकाव न हो। अब बायें हाथ से नाक के दाँये छिद्र को बन्द करके, बाँये नासा-छिद्र

से धीरे-धीरे जितना श्वास भीतर की ओर खींच सकते हों, खींचे। जब फेफड़े वायु से भली-भाँति भर जाय, तब एक सेकेण्ड तक साँस को भीतर ही रोके रहें। फिर बायें नासा-छिद्र को बन्द करके दाँयें नासा छिद्र से भीतर की वायु को धीरे-धीरे बाहर निकाल दें। जब सम्पूर्ण वायु निकल जाय तब तीन सेकेण्ड तक पुनः बहिर्कुम्भक करें अथवा श्वास न लें। तदुपरान्त बाँयें छिद्र को बन्द रखते हुए पुनः दायें नासा-छिद्र से ही धीरे-धीरे श्वास भीतर की ओर खींचें तथा एक सेकेण्ड का अंतःकुम्भक करके दाँयें नाशा-छिद्र को बन्द कर बाँयें नासा-छिद्र द्वारा धीरे-धीरे साँस को बाहर निकाल दें। इस क्रिया को १५ से २० बार तक दुहरायें।

'समवेत' प्राणायाम

विधि—नाक के दोनों छिद्रों से एक साथ ही श्वास को धीरे-धीरे भीतर की ओर खींचें अर्थात् 'पूरक' करें। फिर एक सेकेण्ड तक अंतः कुम्भक करें अर्थात् वायु को भीतर ही रोके रहें तदुपरान्त दोनों नासा छिद्रों द्वारा एक साथ ही वायु को धीरे-धीरे बाहर निकालें। इस क्रिया को १० बार दुहरायें।

'सहित' प्राणायाम

विधि—नाक के दोनों छिद्रों से एक साथ स्वाँस भीतर खींचें अर्थात् 'पूरक' करे। फिर दोनों नासा छिद्रों को बन्द करके अन्तः कुम्भक करें तथा सरलतापूर्वक जितने अधिक समय तक श्वास को भीतर रोक सकें, रोकें, परन्तु जबर्दस्ती न करें। अन्त में, दोनों नासा-छिद्रों से एक साथ वायु को बाहर निकाल दें अर्थात् 'रेचक' करें। इस क्रिया को १० बार दुहराये।

'अतिरिक्त' प्राणायाम

विधि—दोनों नासा छिद्रों से एक साथ श्वास को भीतर की ओर खींचें अर्थात् पूरक करें। फिर दोनों नाशा छिद्रों को बन्द करके श्वास को जितनी देर तक भीतर रोक सकें, रोकें, अर्थात् 'अन्तः कुम्भक' करें। पुनः दोनों नासा छिद्रों से एक साथ धीरे-धीरे श्वास को बाहर निकालें अर्थात् रेचक करें, फिर दोनों नासा छिद्रों को बन्द करके जितनी देर तक सम्भव हो श्वास न लें अर्थात् बहिर्कुम्भक करें। परन्तु किसी भी कुम्भक

के साथ जबर्दस्ती न करें अर्थात् सुविधा पूर्वक जितनी देर तक सम्भव हो, उतनी देर तक साँस को रोकें। उक्त क्रिया को ५ बार दोहरायें।

टिप्पणी—प्राणायाम की उक्त चारों क्रिया प्रत्येक स्त्री-पुरुष के लिए हितकर हैं। इन चारों को क्रमशः करना चाहिये।

'नाड़ी-शोधन' प्राणायाम

विधि—रीढ़ की हड्डी को सीधा रखते हुए, परन्तु विना किसी तनाव के शिथिलावस्था में, सिद्धासन से बैठें। छाती ढकी रहनी चाहिए, मुँह उत्तर दिशा की ओर रहे।

अब दाँयें हाथ के अँगूठे से एक नाक का दायाँ छिद्र तथा अनामिका अंगुली से बायाँ छिद्र इस प्रकार दबायें कि तर्जनी तथा मध्यमा अंगुली भ्रूमध्य की ओर, ऊपर उठी रहें। अब जिस-छिद्र से श्वास चल रहा हो, उसी से श्वास लेकर उसी से बाहर छोड़ दें। ऐसा करते समय दूसरे नाशा-छिद्र को बन्द रखें। इस क्रिया को पाँच बार दुहरायें। पुनः उस नासा-छिद्र को बन्द करके दूसरे नासा छिद्र से श्वास लेने तथा छोड़ने के क्रम को पाँच बार दुहरायें तथा ऐसा करते समय पहले नासा छिद्र को बन्द रखें। श्वास लेने अथवा छोड़ते समय किसी प्रकार की ध्वनि नहीं होनी चाहिए तथा श्वास लेने तथा छोड़ने की गति (रफ्तार) भी एक जैसी ही रहनी चाहिए।

इस सम्पूर्ण अभ्यास को २५ दिन तक दुहरायें तथा १५ दिन तक नित्य नियमित रूप से केवल यही अभ्यास करना चाहिये।

सोलहवें दिन भी पूर्वोक्त स्थिति में बैठ कर उपर्युक्त विधि से करें। इसको भी प्रतिदिन २५ बार दुहरायें तथा १५ दिन तक अभ्यास नित्य करते रहें।

इकतीसवें दिन पूर्वोक्त स्थिति में बैठकर, जिस नासा छिद्र से श्वास चल रहा हो उससे अथवा यदि दोनों से चल रहा हो तो बायें नासा छिद्र से श्वास लें अर्थात् 'पूरक' करें। फिर २ से ५ सेकेण्ड तक का अंतः कुम्भक करें अर्थात् साँस को भीतर ही रोके रहें तदुपरान्त दूसरे नासा छिद्र से श्वास को बाहर निकालें अर्थात् रेचक करें।

उक्त अभ्यास में श्वास लेने-रोकने तथा छोड़ने के समय का अनुपात १ : २ : २ रखें। यदि अभ्यास पहले से ही बढ़ा हुआ हो तो यह अनुपात १ : ४ : २ अथवा १ : ६ : ४ अथवा १ : ८ : ६ भी रखा जा सकता है।

अनुपात की वृद्धि में कठिनाई का अनुभव हो तो किसी पिछले कम अनुपात पर लौट आना चाहिए।

उक्त अभ्यास को नित्य २५ बार दुहराना चाहिए। १५ दिन तक नित्य नियमित रूप से केवल यही अभ्यास करते रहना चाहिए।

उक्त प्राणायाम के तीनों अभ्यास चक्र ४५ दिन में पूरे हो जायँ तब इच्छाअनुसार पुनरावृत्ति की जा सकती है।

लाभ—यह प्राणायाम शारीरिक तथा मानसिक तन्तु-समूहों का शोधन करता है। मन के कुविचारों को निकालता है।

विशेष—यह प्राणायाम किसी हवादार, एकान्त तथा शान्त कमरे में बैठकर ही करना चाहिए। खुले मैदान, धूप, वृक्ष के नीचे अथवा नदी, समुद्रादि के तट पर नहीं करना चाहिए। अभ्यास के समय शरीर खुला हुआ न रहे।

यदि उक्त प्राणायाम को करते समय कभी श्वास अनियमित हो जाय तो अभ्यास को रोक कर तथा गहरी श्वासों को लेकर कुछ देर विश्राम कर लेना चाहिए। जब आभ्यन्तर-कुम्भक का अभ्यास परिपक्व हो जाय तभी बाह्य कुम्भक का प्रयोग प्रारम्भ कर दें अन्यथा फेफड़ों के चिपक जाने का भय उपस्थित हो सकता है।

यदि पूर्वोक्त विधि से १५–१५ दिन के क्रम से सभी अभ्यासों को यथावत् किया जाय, तो भय का कोइ कारण उपस्थित नहीं हो पाता।

'शीतकारी' प्राणायाम

विधि—ध्यान के किसी भी आसन पर बैठकर जीभ को तालु से सटा दें, दाँतों को परस्पर मिला लें तथा होठों को खुला रखें। फिर मुँह से शी····ऽ····ऽ····ऽ की आवाज निकालते हुए मुँह से ही श्वास लें अर्थात्' पूरक' करें। फिर आभ्यन्तर कुम्भक करें अर्थात् कुछ देर तक भीतर ही साँस को रोके रहें तथा जालन्धर-बन्ध लगा लें फिर श्वास को बाहर निकालते समय मुँह को सामने सीधा सटा कर नाक से ही 'रेचक' करें।

उक्त विधि को १० से २० बार तक दुहरायें।

लाभ—इस प्राणायाम से शरीर की शक्ति, कान्ति तथा स्फूर्ति में वृद्धि होती है। शरीर का ताप घटता है तथा प्यास का अनुभव कम होता है।

विशेष—इस प्राणायाम को चलते हुए भी किया जा सकता है।

'शीतला' प्राणायाम

विधि—वज्रासन की स्थिति में, परन्तु जाँघों पर हाथ रख कर बैठें। अब जीभ को बीच में से कुछ मोड़ कर नाली जैसी बना लें। फिर शक्ति लगाकर जोर के साथ मुँह से शी ऽ····ऽ····ऽ····की ध्वनि करते हुए गहरी श्वास लें, तदुपरान्त कुम्भक करके या श्वास की कुछ देर के लिए भीतर ही रोक कर 'जालन्धर-बन्ध' लगा लें। फिर सिर ऊँचा उठाकर नाक के छिद्रों के द्वारा धीरे-धीरे वायु को बाहर निकाल दें अर्थात् रेचक करें।

इस विधि को १० से २० बार तक दुहरायें।

लाभ—इस प्राणायाम से भी शरीर का ताप घटता है तथा प्यास का अनुभव कम होता है। यह रक्त चाप में लाभकर है। शरीर तथा मन को भी आराम देता है, विष तथा संक्रामक-कीटाणुओं की वृद्धि नहीं हो पाती।

'भ्रामरी' प्राणायाम

विधि—किसी भी सुखदायक आसन में बैठकर, अपने दोनों हाथों के अँगूठों से दोनों कानों के छिद्र बन्द कर लें। फिर मुँह को बन्द रखते हुए दोनों नासा छिद्रों से श्वास लें। श्वास लेते समय मुँह के भीतर दोनों ओर के दाँत परस्पर मिले हुए न होकर, कुछ दूर रहना चाहिए। तदुपरान्त दोनों नासा छिद्रों से ही श्वास को बाहर निकाल दें।

श्वास जल्दी-जल्दी लेना तथा छोड़ना चाहिए। श्वास लेते तथा छोड़ते समय सम्पूर्ण ध्यान शरीर के भीतर होने वाली भ्रमर जैसी गुन्जन पर ही केन्द्रित रखना चाहिए।

उक्त क्रिया को १० से २० बार तक दुहरायें।

लाभ—इस प्राणयाम से रक्तचाप में लाभ होता है तथा मानसिक उत्पात शान्त होते हैं। गायकों के लिये यह दिव्य-प्रेरणादायक है।

'उज्जायी' प्राणायाम

उज्जायी शब्द का अर्थ है—विजयी अथवा विजेता। यह सभी स्त्री-पुरुष के लिए सर्वश्रेष्ठ प्राणायाम है, क्योंकि इससे बाह्य तथा आन्तरिक दोनों प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं। उसे खड़े होकर, लेटकर तथा बैठकर तीन प्रकार से किया जाता है। विधियाँ क्रमशः निम्नानुसार हैं—

१. विधि (खड़े होकर)—सीधे खड़े होकर अपने पाँवों से ४५ डिग्री का कोण बनाये अर्थात् दोनों पाँवों की एड़ियाँ परस्पर सटी हुई तथा अँगूठे अलग-अलग रखें। अब आप की आँखें पृथ्वी से जितनी ऊँचाई पर हों, ठीक उसी सीध में सामने की ओर देखें, ऊपर नीचे न देखें। चेहरे पर प्रफुल्लता रहनी चाहिए। दोनों हाथ दोनों ओर ढीले लटकते रहें तथा एड़ियों का भार समान रूप से दोनों पैरों पर पड़े ताकि दोनों कन्धे भी सीध में रहें। इस स्थिति में आप निश्चल परन्तु आराम से खड़े हों।

विशेष—'रेचक' करते समय अर्थात् श्वास छोड़ते, समय यह भावना करनी चाहिए कि आपके शरीर से सम्पूर्ण दोष बाहर निकल रहे हैं तथा 'पूरक' करते समय अर्थात् श्वास लेते समय यह विचारना चाहिए कि आप वायु के माध्यम से ऐसी जीवनी शक्ति तथा ऊर्जा को ग्रहण कर रहे हैं, जो आपके लिए अत्यन्त हितकर है। इन भावनाओं के साथ 'रेचक' तथा 'पूरक' करने से इस प्राणायाम का लाभ अत्यधिक बढ़ जाता है।

इस प्राणायाम में कुम्भक करते समय अर्थात् श्वास को रोकते समय कुछ लोगों को सिर में चक्कर आने की शिकायत होती है। उसके प्रमुख कारण स्वच्छ वायु का अभाव, कब्ज, मादक पदार्थों का सेवन तथा पेट का भारी होना आदि हो सकते हैं। यदि इन कारणों को दूर कर दिया जाय, तो चक्कर नहीं आते। जिन लोगों को सिर में चक्कर आवें, उन्हें श्वास लेते तथा रोकने के समय में कमी कर देनी चाहिए।

२—विधि (लेटकर)—फर्श पर सीधे लेट जायँ। दोनों हथेलियों को शरीर के समीप फर्श पर रखें। दोनों एड़ियाँ परस्पर सटी रहें तथा दोनों हथेलियाँ फर्श से लगी हों। शरीर एक दम ढीला रहे एवं दृष्टि छत की ओर हो।

अब श्वास छोड़ने, रोकने तथा पुनः छोड़ने की क्रियाएँ उसी प्रकार से करें, जिस प्रकार से खड़े होने की स्थिति में करने के सम्बन्ध में बताया जा चुका है। 'रेचक' करते समय पेट संकुचित तथा शरीर ढीला रहेगा और पूरक करते समय केवल पेट ऊपर को उठेगा, शरीर ढीला रहेगा। 'कुम्भक' करते समय शरीर को नीचे से ऊपर तक की मांस पेसियों को कड़ा करना चाहिए, जितनी देर तक सुख की अनुभूति हो।

अभ्यास का एक चक्र खत्म हो जाने पर दो-तीन स्वाभाविक श्वास लेकर विश्राम प्राप्त करना चाहिए, तदुपरान्त पहले बताये अनुसार ही चक्रों का पुनरावर्तन करना चाहिए।

विशेष—जिन्हें खड़े होकर यह प्राणायाम करने से सिर चकराने की शिकायत हो, उन्हें लेटकर करने से कोई शिकायत नहीं होती। जो लोग शरीर से दुर्बल अथवा खड़े होकर अभ्यास करने में असमर्थ हों, उन्हें लेटकर ही यह प्राणायाम करना चाहिए।

३. विधि (बैठकर)—सिद्धासन अथवा वज्रासन की स्थिति में बैठकर गले के समीप श्वास नली को सिकोड़ते हुए अर्थात् सिसकने जैसी स्थिति में नासिका से गहरी श्वास (पूरक) लें। परन्तु खेचरी, मुद्रा बनाकर ऐसा अनुभव करना चाहिये कि श्वास नाक से नहीं अपितु मुँह से ली जा रही है। फिर जालन्धर-बन्ध बना कर, 'कुम्भक' करें, तदुपरान्त बायें नासा-छिद्र से धीरे-धीरे रेचक करें।

इस क्रिया को ५ से १० बार तक दुहरायें।

टिप्पणी—"उज्जायी प्राणायाम' सर्वोत्तम माना गया है। इससे शरीर के ताप का शमन होता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है, हृदय तथा फेफड़ों के विकार दूर होते हैं। बाह्य तथा आभ्यन्तरिक शुद्धि होकर स्नायु-मंडल अधिक क्रिया-शील बनता है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग पुष्ट होते हैं। उत्साह, स्फूर्ति, क्षमता तथा जीवनी-शक्ति की वृद्धि होतो है। शरीर सुन्दर तथा स्वस्थ बना रहता है।

विशेष—इस प्राणायाम के लिए प्रचुर मात्रा में शुद्ध वायु का होना अति आवश्यक है। अतः उसी स्थान पर करना चाहिए जहाँ शुद्ध जल, वायु उपलब्ध हो।

'भस्त्रिका' प्राणायाम

इस प्राणायाम में श्वास प्रश्वास की क्रिया लोहार की (धौंकनो) भाँथी के अनुसार जल्दी-जल्दो होती है, अतः इसका नाम 'भस्त्रिका' रखा गया है। यह अभ्यास कठिन है अतः जन सामान्य के लिए तब तक वर्जित है जब तक किसी योग्य गुरु का निर्देश प्राप्त न हो।

विधि—किसी भी आसन में बैठें, रीढ़ की हड्डी को सीधा रखें। मुँह पूरब या उत्तर दिशा की ओर रहना चाहिए।

जो नासा छिद्र खुला हो, उससे अथवा बायें नासा छिद्र से २० बार जल्दी-जल्दी श्वास लें और छोड़ें। अंतिम बार गहरी श्वास लेकर दोनों

नासा-छिद्रों को बन्द कर 'मूलबन्ध' तथा 'जालन्धर-बन्ध' लगायें। फिर एक बन्ध को छोड़ते हुए दोनों नासिका-छिद्रों से श्वास छोड़ दें।

जल्दी-जल्दी श्वास लेते तथा छोड़ते समय नासा-छिद्र फैलने अथवा सिकुड़ने नहीं चाहिये। कुम्भक से ठीक पहले का 'पूरक' तथा बाद में किया गया 'रेचक' पर्याप्त गहरा होना चाहिए, शेष हल्के रहें। चेहरा सौम्य बना रहे तथा श्वास-प्रश्वास के प्रवाह में किसी प्रकार की रुकावट न आये।

लाभ—पूर्व वर्णित 'नाड़ी-शोधन' प्राणायाम के बाद यदि यह भस्त्रिका प्राणायाम किया जाय तो शरीर एकदम हल्का हो जाता है और वह पृथ्वी से ऊपर ऊठता हुआ प्रतीत होता है, श्रेष्ठ योगी जन इस अभ्यास द्वारा अपने विचलित वीर्य को पुनः वाष्प में परिवर्तित कर लेते हैं। इस क्रिया से शरीर की ऊष्मा में वृद्धि होती है तथा नाक और छाती की बीमारी दूर होती है।

निर्देश—इस प्राणायाम के अभ्यास काल में भोजन में मक्खन, घी तथा दूध की मात्रा बढ़ा देनी चाहिए। गर्मी के दिनों में यह प्राणायाम नहीं करना चाहिये। यदि श्वास में रुकावट हो तो नमक मिश्रित जल से 'जल नेति' करनी चाहिए। यदि अभ्यास के समय भीतर से पसीना निकले, आँखों के आगे अन्धेरा छाने लगे अथवा चक्कर आ उठे तो अभ्यास को रोक देना चाहिए और किसी अच्छे योगी-गुरु से निर्देश प्राप्त करना चाहिये।

'सूर्य-भेदन' प्राणायाम

इस प्राणायाम के द्वारा मणिपूरक चक्र स्थिति सूर्य सहस्र चक्र तक जा पहुँचता है अतः इसे 'सूर्य-भेदन', 'सूर्य-भेदी' अथवा 'सूर्य-भेद' कहते हैं। यह भी सर्व साधारण के लिए न होकर हठ योगियों के लिए ही है अतः इसे गुरु सामीप्य एवं गुरु निर्देशन के बिना करना वर्जित है।

विधि—किसी भी आसन में सुख पूर्वक बैठ कर रीढ़ को एकदम सीधा रखते हुए, आँखें ध्यान मुद्रा से बन्द कर लें। तत्पश्चात् दाँयें नासा छिद्र (सूर्य) से गहरी श्वास (पूरक) लें, फिर, 'कुम्भक' के साथ 'मूल-बन्ध' एवं जालन्धर-बन्ध लगायें। अन्त में दाँयें नासा छिद्र से ही धीरे-धीरे 'रेचक' करें अर्थात् श्वास बाहर निकालें।

उक्त प्रक्रिया को बिना किसी अनुपात के तीन बार दुहरायें। धीरे धीरे 'कुम्भक' का समय इतना अधिक बढ़ा लेना चाहिए कि शरीर पर पसीने की बूंदें झलक उठें।

लाभ—यह प्राणायाम मनुष्य की शक्ति तथा आयु में वृद्धि करता है। बात रोग, कुष्ठ, आन्त्र-विकार, नासिका-विकार तथा गुप्त रोग को दूर करता है।

सावधान—सामान्य गृहस्थों के लिए यह प्राणायाम वर्जित है।

'प्लाविनी' प्राणायाम

विधि—इस अभ्यास में अधिकाधिक श्वास लेकर पेट को खूब फुला लिया जाता है तथा दीर्घकालीन कुम्भक किया जाता है। तदुपरान्त उड्डीयान बन्ध बनाकर धीरे-धीरे वायु को बाहर निकाला जाता है।

लाभ—इसके सफल अभ्यास से मनुष्य शव की भाँति पानी के ऊपर तैरता रह सकता है तथा बिना भोजन किये कई दिनों तक निरन्तर बना रहता है।

सावधान—यह प्राणायाम भी सामान्यजनों के लिए नहीं है। इसकी सफलता गुरु-निर्देश पर ही आश्रित है।

'मूर्च्छा' प्राणायाम

विधि—पद्मासन लगाकर बैठें अथवा शवासन की स्थिति में लेट जाय तदुपरान्त 'पूरक' तथा 'रेचक' करे। साथ ही उज्जायी प्राणायाम को भाँति 'कुम्भक' का अभ्यास इतना अधिक बढ़ा लें कि मूर्च्छा सी आ जाय।

अभ्यास के समय सिर आकास की ओर तथा दृष्टि भ्रू-मध्य की ओर उठी रहनी चाहिये। मन विचार रहित रहे तथा मूर्च्छा में भी चेतना बनी रहे।

लाभ—इस प्राणायाम से समस्त सांसारिक अनुभूतियाँ समाप्त होकर मन अन्तमुँखी हो जाता है, जिसके फल स्वरूप सत्य तथा ज्ञान का **स्रोत फूट** पड़ता है इस प्राणायाम के फल स्वरूप शरीर के भीतर **कार्बन** की अधिकता हो जाती है, जिसके कारण हृदय गति हीनता जैसी स्थिति प्राप्त कर लेता है और अभ्यासी को मूर्च्छा आने लगती है। इस प्राणायाम के सफल अभ्यासी योगीजन एक निश्चित समयावधि के लिए अपने शरीर को मृत्यु तुल्य बना लेते हैं। सामान्यतः यह जीवनी शक्ति को बढ़ाता तथा दीर्घ आयुष्य देता है।

सावधान—यह अभ्यास भी सामान्य गृहस्थों को वर्जित है तथा गुरु निर्देश तथा सामीप्य के बिना इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

'षट्कर्म'

शरीरस्थ विषाक्त-द्रव्यों को वाहर निकाल कर उनकी अन्दरूनी सफाई के लिए षट्कर्मों का प्रयोग किया जाता है। इससे शरीर का सुचारु रूप से संचालन सम्भव होता है। ये क्रियाएँ 'हठयोग' के अन्तर्गत मानी जाती हैं।

षट्कर्मों के नाम यह है—१. नेति, २. धौति, ३. वस्ति, ४. नौलि, ५. कपाल-भाँति और ६. त्राटक।

यद्यपि ये क्रियाएँ सरल हैं, तथापि इनका अभ्यास केवल पुस्तक में पढ़कर करने से कठिनाई हो सकती है अतः इनका प्रारम्भ किसी सुयोग्य अनुभवी गुरु (हठयोगी) की देख-रेख में ही करना चाहिए।

नेति

नेति दो प्रकार की होती है—१. सूत्र नेति तथा २. जल-नेति।

१. सूत्र-नेति—कच्चे सूत का एक मुलायम, बिना गाँठ वाला तथा वटा हुआ एक लम्बा डोरा लें। उसके एक सिरे को हाथ में पकड़ रखें तथा दूसरे सिरे पर उसी की एक ऐसी मेंडुली-सी बना लें, जो नासा छिद्र में आसानी से जा सके। फिर गेंडुली को उस नासा छिद्र में रखें, जिसमें होकर श्वास चल रही हो। गेंडुली को धीरे-धीरे भीतर की ओर सिकोड़ते हुए दीर्घ श्वास लेते रहें तथा उसे छोड़ते जायँ ऐसा करने से वह सूत की मेंडुली नासा-छिद्र में प्रविष्ट होकर मुख मार्ग से वाहर निकल जायगी।

उक्तक्रिया से दोनों नासा छिद्रों तथा मास्ष्तिक की सफाई होती है।

२. जल-नेति—एक टोंटीदार बर्तन में गुन-गुना पानी लेकर उसमें थोड़ा सा नमक मिलाएँ। फिर माथे को थोड़ा सा पीछे की ओर झुकाकर जिस नासा-छिद्र से श्वास चल रहा हो उसमें अपना अथवा बायें नासा छिद्र में उस बर्तन की टोंटी लगा दें तथा उससे निकलने वाले पानी को विना किसी हिचक के थोड़ा सा नाक के भीतर सीकोड़ और उसे मुख द्वारा वाहर निकाल दें। यही क्रिया दूसरे नासा-रन्ध्र से भी करें। तदुपरान्त 'भस्त्रिका प्राणायाम' करके नाक को अवश्य सुखा लें।

लाभ—नैतिकी उक्त दोनों विधियों से सर्दी, खाँसी, छींक, नाक, आँख तथा कान के समस्त रोगों में लाभ होता है तथा मस्तिष्क सक्रिय होकर, वृद्धि एवं विवेक विकसित होते हैं। इस क्रिया द्वारा नाक तथा मस्तिष्क

की भाँति-भाँति से सफाई हो जाने से सुषुम्ना को जागृत करने में भी अत्यधिक सहायता मिलती है।

धौति

विधि—लगभग पौने डेढ़ किलो गुनगुना पानी लेकर उसमें लगभग १० ग्राम नमक मिला दें। फिर उस पूरे पानी को धीरे-धीरे पी जायें। तत्पश्चात् अपने हाथ की तर्जनी तथा मध्यमा—इन दो अंगुलियों को जीभ पर रगड़े। ऐसा करने से वमन (उल्टी) होगी तथा उससे पेट का सारा पानी बाहर निकल जायेगा।

उक्त क्रिया को सात-आठ दिन के अन्तर से दुहराना चाहिए।

लाभ—धौति की उक्त क्रिया द्वारा श्वास नली, नाक, कान, आँख, पेट तथा आँतों की भली-भाँति सफाई हो जाती है तथा बवासीर, भगन्दर जैसे गुप्त रोग एवं मानसिक बीमारियों में लाभ होता है।

वस्ती

विधि—किसी बड़े वर्तन में पानी भरकर, उसमें कमर तक बैठ जाँय तथा दोनों पाँव फैलाकर एक चार इंच लम्बी तथा लगभग आधा इंच व्यास की पोली नली गुदा-मार्ग में प्रविष्ट कर अश्विनी-मुद्रा बनायें। इस क्रिया में गुदा संकुचन द्वारा पानी को ऊपर चढ़ाया जाता है। अर्थात् गुदा द्वारा पानी को बार-बार ऊपर (गुदा के भीतर) खींचने की प्रक्रिया की जाती है। फिर आगे वर्णित 'नौलि' क्रिया द्वारा पेट की आँतों को इधर-उधर घुमाते हुए मन्थन किया जाता है तथा अन्त में 'मयूरासन' द्वारा पेट पर शरीर का पूरा दबाव डालकर, सम्पूर्ण जल को 'दस्त' (मल-विसर्जन) के रूप में गुदा-मार्ग से ही बाहर निकाल दिया जाता है।

लाभ—यह क्रिया योगियों के लिए 'एनीमा' जैसी है। इससे बड़ी आँत की सफाई होकर पेट स्वच्छ तथा मुलायम हो जाता है।

'नौलि'

विधि—सीधे खड़े होकर दोनों पाँवों के पंजे, एड़ी, घुटने आदि परस्पर मिला लें। फिर अपने दोनों घुटनों पर दोनों हाथों का जोर डालकर कमर से ऊपरी भाग को थोड़ा सा सामने की ओर झुका दें फिर निम्न-लिखित क्रियाएँ क्रमशः करें—

१. पाँवों के पंजों को एक दूसरे को डेढ़ फुट की दूरी पर रखते हुए पूर्वोक्त स्थिति में खड़े हो। घुटने पर रखे हुए हाथ तने रहें, अब श्वास को पूरी तरह बाहर निकाल कर 'जालन्धर बन्ध' लगाएँ तथा पेट की समस्त नसों को पहले नाभि के समीप स्तम्भ के रूप में एकत्र करें, फिर अपनी जगह पर लौट जाने दें। इस क्रिया को जल्दी-जल्दी अनेक बार दोहरायें।

२. फिर पाँव को डेढ़ फुट की दूरी पर रखते हुए पूर्वोक्त स्थिति में खड़ें हो जायँ तथा पूरी श्वास को बलात बाहर निकाल कर, पेट की समस्त नसों को बाँयीं ओर धकेलने का प्रयत्न करें। फिर यही क्रिया दाँयीं ओर (दक्षिण नौलि) को करें। एक बाहर की निकाले हुए श्वास में पेट को दाँयें से बायें ओर ले जाने की क्रिया बारम्बार दोहराएँ। दाँयें घुटने पर दाँयें हाथ का दबाव बढ़ाकर बाँये भाग को ढील छोड़ देने से नसें सरलता पूर्वक बाँईं ओर को हट जाती हैं इसके विपरीत क्रिया करने पर दाँयीं ओर को घुम जाती हैं। नसों को दोनों ओर ले जाने की क्रिया तीन-तीन बार दुहरानी चाहिए।

३. जब पूर्वोक्त अभ्यासों में पूरी सफलता मिल जाय, तब उन नसों को क्रमशः बाँयें, ऊपर, दाँये तथा नीचे की ओर घुमाने का अभ्यास करें दूसरी बार इसी क्रम को ठीक उल्टा करके नसों को घुमाएँ। इस प्रकार एक बार उल्टा तथा दूसरी बार सीधा घुमाने पर एक चक्र पूरा हो जायेगा। इन चक्रों को तीन बार दुहराना चाहिए। प्रत्येक अभ्यास में, एक ही वाह्य कुम्भक की अवधि में नसों का संचालन तीव्रता से करना चाहिए तथा प्रत्येक अभ्यास के बीच, भरपूर श्वास लेकर, खूब पेट फुला कर आभ्यन्तर कुम्भक को करना चाहिए। अन्त में कुछ सामान्य श्वासें लेकर विश्राम करना भी आवश्यक है। 'नौलि' करने से पूर्व 'उड्डियान बन्ध' का अच्छा अभ्यास कर लेना उचित है।

लाभ—उक्त क्रिया से पेट की भली-भाँति मालिश तथा व्यायाम हो जाता है। कार्य ग्रन्थियों के विकार तथा पेट के कृमि दूर हो जाती हैं। आँतें सशक्त होती हैं तथा यकृत प्लीहा क्लोम एवं वृक्क आदि सभी अवयव पुष्ट तथा निरोग होते हैं। अजीर्ण तथा कोष्ठ-बद्धता की शिकायत भी दूर हो जाती है।

कपालभाति

विधि—पद्मासन में बैठकर जल्दी श्वास लें और छोड़ें। श्वास छोड़ने

की क्रिया को निरन्तर करते रहें। पूरक की अपेक्षा 'रेचक' में केवल एक तिहाई समय लगावें। रेचक इतनी शीघ्रता से किये जायें कि उनकी संख्या क्रमशः बढ़ती हुई एक मिनट में १२० तक जा पहुँचे। पूरक तथा रेचक के समय केवल उदर-पेशियों में ही हरकत हो तथा वक्षःस्थल की पेशियाँ संकुचित बनी रहें। इस क्रिया में, बीच में तनिक भी विराम न हो

आरम्भ में एक सेकिन्ड में एक रेचक तथा बाद में दो और तीन रेचक करना चाहिए। प्रातः सायं ११-११ रेचकों के चक्र चलाते हुए, प्रति सप्ताह एक चक्र की वृद्धि करनी चाहिए। प्रत्येक चक्र के बाद थोड़ा विश्राम (सामान्य श्वासोच्छ्वास) भी उचित है। चक्र पूरा करने से पहले रुकना नहीं चाहिए।

लाभ—इस अभ्यास से कपाल, नासा छिद्रों तथा श्वसन-संस्थान के अन्य सभी भागों की सफाई हो जाती है. प्राण वायु के अधिकाधिक प्राप्ति से शरीरस्थ विषाक्त-तत्त्व बाहर निकल जाते हैं। पेट की पेशियों तथा उनसे सम्बन्धित अङ्गों की मालिश हो जाती है, धमनी की क्रियाशीलता बढ़कर रक्त स्वच्छ हो जाता है। श्वासनली तथा मस्तिष्क की भली-भाँति सफाई हो जाती है, फलतः अन्तर्दृश्य तथा विचार स्वयमेव बन्द हो जाते हैं। इसका नियमित अभ्यास करने से कपाल चमकने लगता है।

त्राटक

इस क्रिया में रीढ़ की हड्डी को सीधा रखते हुए, पद्मासन से बैठकर बिना पलक झपकाये, नासाग्र तथा भ्रू-मध्य भाग पर एकटक देखते रहने का अभ्यास बढ़ाया जाता है। ऐसा करते समय आरम्भ में पलकें जल्दी-जल्दी झपकी जा सकती हैं। परन्तु धैर्य तथा दृढ़ आत्म-विश्वास के साथ पलक झपकने के अनन्तर आँखों को थोड़ा विश्राम देकर अभ्यास को थोड़ा बढ़ाते जाना चाहिए।

जब नासाग्र तथा भ्रू-मध्य भाग पर दृष्टि स्थिर होने लगे तब अपनी आँखों की सीध में लगभग दो फुट की दूरी पर किसी छोटे बिन्दु को निश्चित कर, उस पर ध्यान जमाने (एकटक दृष्टि से देखने) का अभ्यास करना चाहिए। फिर रात्रि के समय घृत अथवा अरण्डी के तैल का दीपक जलाकर उसकी लौ पर तब तक त्राटक (निर्निमेष-दृष्टि से देखने) का अभ्यास करना चाहिए, जब तक कि आँखों से आँसू न गिरने लगे। आँसू

निकलने पर थोड़ा विश्राम करने के बाद पुनः यही अभ्यास दुहराना चाहिए।

जब दीपक की लौ पर दृष्टि स्थिर हो जाय तब दो फुट की दूरी पर दर्पण में करना चाहिए। फिर रात्रि में चन्द्रमा पर दृष्टि जमाने का अभ्यास करें जब उसको आँख जमा कर देखने का अभ्यास हो जाय। तब उषा काल में किसी बगीचे में बैठकर किसी विकसित फूल पर दृष्टि जमाने का अभ्यास करें।

उक्त प्रकार से बिना दृष्टि झपकाये दृष्टि जमाने के अभ्यास को निरन्तर बढ़ाते जाना चाहिए।

लाभ—उक्त अभ्यास से आँखों के रोग नष्ट होकर दृष्टि-शक्ति तीव्र होती है। मन शान्त होता है, इच्छा-शक्ति तीव्र होती है तथा प्राण-शक्ति सुव्यवस्थित बनी रहती है।

त्राटक का अभ्यास सिद्ध हो जाने पर, अभ्यासी व्यक्ति अपनी इच्छा-शक्ति को दृढ़ बनाकर जिस किसी प्राणी की आँख-से-आँख मिलाकर, उसे जो भी आदेश देता है उसका पालन करने के लिए, वह बाध्य हो जाता है। हिप्नोटिज्म तथा सम्मोहन क्रिया के साधकों के लिए 'त्राटक' में पारङ्गत होना आवश्यक है।

विशेष—हठयोग के उक्त षट्कर्म 'कुण्डलिनी-जागरण' में भी सहायक बनते हैं।

शंख-प्रक्षालन

यह 'धौति' का ही एक अन्य रूप है—शंख-प्रक्षालन। योग शास्त्र में इसे **वारिसार** धौति कहा गया है। इसकी विधि निम्नानुसार है—

विधि—लगभग ३ किलो शुद्ध जल लेकर, उसे किसी स्वच्छ बर्तन में उबाल लें। फिर उसमें १ किलो शुद्ध ठण्डा जल तथा २५ ग्राम नमक मिला दें और उसे ठण्डा होने दें। जब वह गुनगुना रह जाय अर्थात् उसका तापमान आप के शरीर के तापमान से केवल ५ डिग्री सेण्टीग्रेड ही अधिक रहे, तब उस गुनगुने पानी के दो तीन गिलास अर्थात् ७५० ग्राम के लगभग पीकर क्रमशः (१) तिर्यक्, ताड़ासन, (२) कटिचक्रासन, (३) तिर्यक् भुजङ्गासन तथा (४) उत्सकर्षण इन चार आसनों को ८-८ बार दुहराएँ।

उक्त प्रकार से चार-छः गिलास पानी पी लेने तथा चारों आसनों को क्रमशः ८+४=१२ बार दुहरा लेने से जब शौच की स्थिति हो जाय तब मल त्याग करें। यदि इतने पर भी मल की स्थिति न लगे तब तो मल त्याग के लिए न जायँ अपितु दो गिलास और पानी पीकर पादहस्तासन, धनुरासन तथा पवनमुक्तासन की क्रियाएँ क्रमशः ४-४ बार करें। तदुपरान्त शौच की स्थिति हो जाना आवश्यक है। तब मल-त्याग के लिए जाएँ।

पानी कितना ही क्यों न पीना पड़े परन्तु ३-४ बार शौच अवश्य जाना चाहिए जब तक मल के स्थान पर बिल्कुल स्वच्छ पानी न आने लगे, तब तक उक्त क्रियाओं को बारम्बार दुहराते रहना चाहिए। अन्त में ठण्डा पानी पीकर अंगुलियाँ जीभ पर रगड़ कर वमन कर देना चाहिए। तत्पश्चात् 'नेति' क्रिया द्वारा श्वसन-संस्थान को स्वच्छ कर 'भस्त्रिका प्राणायाम' करना तथा एक घण्टे तक 'शवासन' की स्थिति में रहकर विश्राम करने के बाद भोजन करना चाहिए। भोजन में मूँग की दाल तथा चावल से निर्मित एवं शुद्ध घी से तर की गई खिचड़ी का सेवन करना उचित है।

उक्त क्रिया में जिन आसनों के करने का निर्देश किया गया है उनका उल्लेख 'योगासन' प्रकरण में देखें। आसनों के सम्बन्ध में केवल यहाँ निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी आवश्यक है।

(१) ताड़ासन की स्थिति में, दाँई-बाईं ओर अधिकाधिक झुकने को 'तिर्यक् ताड़ासन' कहा जाता है।

(२) 'कटि-चक्रासन' में ढाई फुट को दूरी तक पाँव के पंजों को फैलाकर पहले दोनों हाथों को सामने रखा जाता है, फिर उनमें से एक को एक बार बाँईं ओर से पोछे की ओर तथा दूसरी बार दाँईं ओर से पीछे की ओर ले जाया जाता है। इस क्रिया में एक हाथ तो पीछे की ओर चला जाता है, परन्तु दूसरा उसके कन्धे को ही छूता है। यह अभ्यास झटके के साथ अर्थात् शीघ्रता पूर्वक किया जाता है।

(३) भुजङ्गासन की स्थिति में सर्प की भाँति दाँईं-बाईं ओर घूमने को तिर्यक् भुजङ्गासन कहते हैं।

(४) 'उदराकर्षण' में उकड़ू बैठकर घुटनों तथा पंजों को यथा सम्भव एक दूसरे से दूर रखते हैं। फिर बाँयें घुटने को झुका कर उसका

दाँयें पंजे से स्पर्श कराते हैं। यही क्रिया दाँयें घुटने को झुकाकर भी की जाती है। इसे भी जल्दी-जल्दी किया जाता है।

(५) 'पाद हस्तासन' में खड़े होकर, दोनों हाथों से दोनों पाँवों के पंजे छूने तथा सिर को घुटनों से लगाने का प्रयास किया जाता है तथा इस क्रिया जो चार बार दुहराया जाता है।

(६) धनुरासन 'योगासन' प्रकरण में उल्लिखित विधि के अनुसार ही किया जाता है।

(७) 'पवन मुक्तासन' में उकडू बैठकर दोनों हाथों से दोनों घुटनों को कसकर आठ बार पीछे की ओर लुढ़का जाता है।

विशेष—'शंख प्रक्षालन' से पूर्व योगासनों का अभ्यास कर लेना आवश्यक है तथा पहली बार इस क्रिया को भी गुरु के निर्देश से ही करना चाहिए।

लाभ—'शंख-प्रक्षालन' के अभ्यास द्वारा मुँह से लेकर गुदा तक की पूरी आँतों तथा भोजन नली की भली भाँति सफाई हो जाती है।

बन्ध और मुद्राएँ

'बंध' शब्द का अर्थ है—बाँधना अथवा कड़ा करना तथा 'मुद्रा' का आध्यात्मिक अर्थ है—सम्मिलन। हठयोग की क्रियाओं में इन दोनों का मुख्य स्थान है। शरीर में जिन षटचक्रों की स्थिति मानी गई है उन्हें खोलने तथा सुप्त-कुण्डलिनी शक्ति को जगाने की ये गुप्त विधियाँ हैं। अतः यौगिक क्रियाओं में इन्हें 'आसन' तथा 'प्राणायाम' से भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

मनुष्य शरीर में गुदा के पास ही मूलाधार चक्र है जिसमें कुण्डलिनी शक्ति सुप्तावस्था में पड़ी रहती है। यह कुण्डलिनी ही गुप्त शक्तियों का केन्द्र है तथा इसके जग जाने पर जीवात्मा परमात्मा से सम्मिलित हो जाता है। कुण्डलिनी शक्ति को जगाने का वर्णन इसी पुस्तक के अन्य प्रकरण में किया गया है यहाँ केवल इतना ही समझ लेना चाहिए कि मुद्रा तथा बन्धों के अभ्यास से अचेतन-इच्छा शक्ति का ज्ञान प्राप्त हो जाता है तथा ज्ञान प्राप्त हो जाने पर उस शक्ति को अपने अथवा अन्य शरीरों में भी प्रविष्ट कराया जा सकता है।

अनेक प्रकार से योगासनों तथा अभ्यासों में भी 'बन्ध' लगाने की आवश्यकता पड़ती है। अतः पहले यहाँ पर बन्ध का, तदुपरान्त मुद्राओं का, उल्लेख किया जायगा।

अग्निसार-क्रिया

अग्निसार-क्रिया की विधि निम्नानुसार है—

वज्रासन में बैठ कर अथवा खड़े होकर, दोनों हथेलियों को घुटनों पर जमा लें। फिर भीतर श्वास खींचने के बाद उसे पूर्णतः बाहर निकाल दें तथा वहिर्कुम्भक करके अर्थात् श्वास को बाहर ही रोक कर 'जालन्धर-बन्ध' लगायें। अब पेट को यथा साध्य भीतर की ओर दबा कर रीढ़ की हड्डी से चिपका देने का प्रयत्न करें, फिर बाहर की ओर धकेलें। इस प्रकार पेट को फैलाने तथा सिकोड़ने की क्रिया एक मिनट में १५ बार की गति से बारम्बार दोहराएँ। अन्त में बन्ध छोड़कर स्वाभाविक श्वास लें। इस क्रिया को अनेक बार दोहराना चाहिए।

सुषुम्ना और षट्चक्र

'कुण्डलिनी जागरण' की योग सर्वोच्च उपलब्धि है। यह क्रिया षट्चक्रों के भेदन से सम्पन्न होती है। अतः सर्वप्रथम षट्चक्र तथा उससे सम्बन्धित मस्तिक एवं मेरुदण्ड आदि के विषय में जानकारी कर लेना आवश्यक है।

नाड़ी-संस्थान

मनुष्य-शरीर में ७२००० नाड़ियों की अवस्थिति मानी गयी है। इसमें से कुछ अत्यन्त सूक्ष्म तथा कुछ बड़े आकार की हैं। सम्पूर्ण नाड़ी-संस्थान के दो मुख्य भाग हैं—१. केन्द्रीय तथा २. परिधिस्थ।

'केन्द्रीय-नाड़ी संस्थान' में सुषुम्ना शीर्ष मेरुदण्ड तथा तन्त्रिका गुच्छ सम्मिलित हैं तथा परिधिस्थ नाड़ी-संस्थान में संचालक तथा संवेदन नाड़ियों की गणना की जाती है। इन नाड़ियों का कार्य मस्तिष्क को विभिन्न अङ्गों की संवेदनाओं से अवगत कराना है। मेरुदण्ड केन्द्रीय नाड़ी-संस्थान का विस्तार है।

मेरुदण्ड को 'रीढ़ की हड्डी', 'मेरुरज्जु' तथा 'सुषुम्ना' भी कहा जाता है। यद्यपि सुषुम्ना एक अलग नाड़ी है जो मेरुदण्ड में हो कर नीचे से ऊपर की ओर जाती है, तथापि उसकी प्रमुख 'कार्यशीलता' के कारण ही मेरुदण्ड को 'सुषुम्ना' नाम से अभिहित करते हैं।

मेरुदण्ड 'कन्द' से लेकर 'मस्तिष्क' से जुड़ा रहता है, अतः इसकी कार्य पद्धति के सम्बन्ध में भी संक्षिप्त जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

मस्तिष्क

मस्तिष्क चार भागों में बँटा है—१. वृहत् मस्तिष्क २. लघु-मस्तिष्क ३. तुनिसेत अथवा मज्जासेतु ४. सुषुम्ना-शीर्ष अर्थात् मेरुदण्ड अर्थात् सेतु को जोड़ने वाला भाग।

१. बृहत् मस्तिष्क—यह मस्तिष्क का सबसे बड़ा भाग है जो सम्पूर्ण मस्तिष्क का लगभग ७-८ भाग होता है। यह एक केन्द्रीय तार द्वारा दो गोलार्द्धों में बँटा है। इन दोनों भागों पर उभरी हुई नालियाँ सी होती हैं जिस व्यक्ति के वृहत् मस्तिष्क में ये नालियाँ जितनी अधिक गहरी होती हैं वह उतना ही अधिक बुद्धिमान होता है। ये दोनों भाग तीन पारदर्शी झिल्लियों से ढके रहते हैं। इन झिल्लियों को क्रमशः मृदु तानिका, दृढ़ तानिका तथा जाल तानिका कहा जाता है। मृदु तानिका मस्तिष्क से एकदम सटा हुआ स्तर है, जिसमें रक्त कोशिकाओं का एक ऐसा जाल है जो मस्तिष्क में फैला हुआ है तथा सभी भागों में रक्त पहुँचा कर उसका पोषण करता है; दृढ़ तानिका दूसरी मोटी झिल्ली है जो अत्यन्त घने तन्तुओं से निर्मित तथा दृढ़ होती है एवं खोपड़ी के निम्नभाग से मिली रहती है। जाल तानिका इसी के नीचे सतह पर मस्तिष्क को आच्छादित किये फैली रहती है।

मृदुतानिका एवं जालतानिका के बीच 'मेरुद्रव्य' नामक एक तरल पदार्थ भरा रहता है जो मस्तिष्क का पोषण करता तथा उसकी बाहरी आघातों से रक्षा करता है।

बड़े मस्तिष्क के भीतर धूसर तथा श्वेत द्रव्य भरे रहते हैं। यह बाहर से भूरे (धूसर) रङ्ग का तथा भीतर से सफेद होता है। धूसर भाग तन्त्रिकाओं एवं श्वेत भाग तान्त्रिकी कोषाओं के तन्तुओं द्वारा निर्मित है। इनके द्वारा शरीर के विशेष भागों के कार्यों का संचालन होता है। तन्तु अथवा कोष में किसी भी एक के निर्जीव हो जाने पर, दोनों निर्जीव हो जाते हैं, नाड़ी-तन्तु की अनेक शाखाएँ २० इञ्च तक होती हैं।

वड़ा मस्तिष्क का बायाँ भाग शरीर के दायें भाग पर तथा दाँयाँ भाग पर शासन करता अथवा उसे नियन्त्रण में रखता है। यह विभिन्न ज्ञान इन्द्रियों के काम को नियन्त्रित करता तथा सोचने-बोलने, स्मरण करने, इच्छा-द्वेष आदि पर नियन्त्रण रखता है।

बड़े मस्तिष्क के चार भाग होते हैं—(१) ललाट खण्ड, (२) शंख खण्ड, (३) पार्श्व खण्ड तथा (४) पीछे का कपाल खण्ड। 'ललाट खण्ड' सबसे आगे का भाग है। परन्तु इसकी कार्य प्रणाली के विषय में अभी तक कुछ पता नहीं चल सका है। 'शंख खण्ड' सुनने तथा स्मरण रखने का काम करता है। 'पार्श्व खण्ड' का कार्य शरीर के विभिन्न भागों से नाड़ियों द्वारा लाये गये सन्देश को प्राप्त करना है तथा 'कपाल खण्ड' का कार्य देखना, गुनना तथा समझना है।

२. **लघु मस्तिष्क**—यह बृहत् मस्तिष्क के पीछे की ओर होता है। इसका अधिकांश भाग बृहत् मस्तिष्क से ढँका होता है। यह भी दाँयें और बाँयें—दो भागों में बँटा हुआ है। इसका दाँया भाग शरीर के बायें भाग पर तथा बाँया भाग दाँयें भाग पर नियन्त्रण करता है, मांस-पेशियों को वश में रखना तथा शरीर के सन्तुलन को बनायें रखना भी इसी का कार्य है। यह बड़े मस्तिष्क को सहारा भी देता है। ऊपर फेंकना, नीचे फेंकना, खींचना, फैलाना, सिकोड़ना, चलना, फिरना, चढ़ना, उतरना तथा दौड़ना आदि क्रियाएँ इसी के द्वारा नियन्त्रित होती हैं।

३. **तुनि-सेत अथवा मज्जा-सेतु**—छोटे मस्तिष्क के दोनों भागों के बीच यह एक पुल के समान कार्य करता है। यह भी बाहर से सफेद तथा भीतर से भूरे रंग का होता है। बड़े मस्तिष्क से जो स्नायु निकलते हैं, वे इसी में होकर शरीर के विभिन्न भागों में जाते हैं।

४. **सुषुम्ना शीर्ष**—यह सुषुम्ना का ऊपरी भाग है, जो लघु मस्तिष्क के एकदम नीचे होती है। यह सुषुम्ना को मस्तिष्क से मिलाने का कार्य करता है तथा बाहर से सफेद एवं भीतर से भूरा होता है। श्वसन क्रिया तथा हृदय की धड़कन आदि पर इसी का नियन्त्रण रहता है। इस पर लगी सामान्य सा चोट भी मनुष्य की मृत्यु का कारण बन जाती है। यह भाग बेलनाकार होता है तथा मनुष्य जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक अंग कहा जाता है। रक्त परिभ्रमण तथा भोजन निगलने की क्रिया आदि के संचालन-केन्द्र भी इसी भाग में रहते हैं। मस्तिष्क से निकली १२ तन्त्रिकाएँ भी इसी में होकर शरीर के निम्न भागों में जाती हैं तथा अन्य भागों से सम्बन्धित तन्त्रिकाएँ भी इसी में होकर मस्तिष्क-केन्द्रों तक पहुँचती हैं।

सुषुम्ना तथा मेरुदण्ड—यह लगभग १४ से २४ इञ्च तक लम्बी एवं १/२ से ३/४ इञ्च तक मोटी नाड़ी है, जो सुषुम्ना-शीर्ष से आरम्भ होकर

उस पुच्छ-हड्डी तक जाती है जिसे 'सुषुम्ना-पुच्छ' कहा जाता है। यह बाहर से सफेद व भीतर से भूरी होती है। इसमें से नाड़ियों के ३१ जोड़े निकलते हैं। प्रत्येक नाड़ी सुषुम्ना के साथ दो स्थानों पर मिली रहती हैं। ये नाड़ियाँ अनेक शाखाओं में बँटकर सम्पूर्ण शरीर में फैली रहती हैं। ये केवल मस्तिष्क को ही शासित नहीं करतीं, बल्कि शरीर के अन्य प्रत्येक मांस-पेशी पर इन्हीं का नियन्त्रण रहता है अर्थात् प्रत्येक अंग की चेष्टा इन्हीं के वश में रहती है।

सुषुम्ना का कार्य शरीर के विभिन्न भागों से आये हुए सन्देशों को मस्तिष्क तक पहुँचाना तथा मस्तिष्क द्वारा प्रेरित आदेशों को शरीर के विभिन्न भागों, अंगों तथा मांस-पेशियों तक ले जाना है। कभी-कभी आकस्मिक आवश्यकता के समय यह मस्तिष्क से विना पूछे स्वयं भी शरीर के विभिन्न भागों को आदेश देने का कार्य कर वैठती है। जैसे—आँखों पर तीव्र प्रकाश पड़ने पर उनका अपने आप बन्द हो जाना, आँखें बन्द करने की स्थिति में किसी जीव अथवा पदार्थ का किसी अंग से स्पर्श हो जाने पर उस अंग का पीछे हटकर अपना बचाव करना अथवा निद्रावस्था की वेसुधी में यदि पाँव के तलवे पर अंगुली आदि फेरी जाय, तो निद्रित मनुष्य द्वारा अपने पाँव ऊपर की ओर खींच लेना आदि कार्य सुषुम्ना के आदेश से ही सम्पन्न होते हैं।

शरीर विज्ञान के अनुसार प्रतिपादित उक्त ५ केन्द्र योग-शास्त्र में वर्णित जिन ५ चक्रों से मिलते हैं, उन्हें निम्नानुसार समझना चाहिए।

१. सर्व्हिकल	विशुद्ध चक्र
२. थोरेसिक	अनाहत चक्र
३. लम्बर	मणिपूरक चक्र
४. सैक्रल	स्वाधिष्ठान चक्र
५. कोजियल	मूलाधार चक्र

मनुष्य शरीर का आधार यही 'सुषुम्ना' अथवा मेरुदण्ड है। मेरुदण्ड तैंतीस अस्थि खण्डों के संयोग से बना है। वह भीतर से खोखला होता है। इसका निचला भाग नुकीला तथा छोटा होता है, जिसे 'कन्द' कहते हैं।

षटचक्र—शरीर रचना शास्त्र के अनुसार प्रतिपादित ५ चक्रों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। योग शास्त्र में षट्चक्रों का उल्लेख पाया जाता है, जिनके नाम इस प्रकार कहे गये हैं—

१. मूलाधार-चक्र, २. स्वाधिष्ठान चक्र, ३. मणिपूरक चक्र, ४. अनाहत चक्र, ५. विशुद्धि-चक्र और ६. आज्ञाचक्र। इनके अतिरिक्त दो चक्र और भी बताये गये हैं—१. बिन्दु-चक्र और २. सहस्रार चक्र। सहस्रार चक्र को ही 'सहस्र दल कमल' भी कहा जाता है। इस प्रकार चक्रों की कुल संख्या ८ हो जाती है। इन चक्रों के विषय में योगशास्त्रीय विवरण निम्नानुसार है :—

१. मूलाधार-चक्र—यह चक्र रीढ़ की हड्डी के सबसे निचले भाग—'कन्द' प्रदेश (जो गुदा और लिंग के मध्य भाग में स्थित है)। इस चक्र का कमल दल रक्तवर्ण तथा चार दलों वाला है। इसके दलों पर क्रमशः 'यं' शं, पं तथा सं—इन चार अक्षरों की स्थिति मानी गयी है। इसका यन्त्र पृथ्वी तल का द्योतक तथा चतुष्कोण है। यन्त्र का रंग पीत, बीज 'लं' तथा बीज का वाहन ऐरावत हस्ती है। मन्त्र के देवता 'ब्रह्मा' तथा शक्ति 'डाकिनी' है। इस यन्त्र के मध्य में स्वयंभू-लिंग है, जिसके चारों ओर साढ़े तीन फेरे में लिपटी हुई, सर्पाकार कुण्डलिनी शक्ति अपनी पूँछ को अपने मुँह में दबाये हुए सुप्त पड़ी रहती है। प्राणायाम आदि साधनों से जाग्रत् होकर वह मेरुदण्ड के भीतर ब्रह्म नाड़ी में प्रविष्ट होकर ऊपर की ओर चलती है।

२. स्वाधिष्ठान-चक्र—इस चक्र की स्थिति लिंग स्थान के सामने है। इसका कमल सिन्दूर वर्ण तथा ६ दलों वाला है। इसके दलों पर क्रमशः बं, भं, मं, यं, रं तथा लं, इन छ अक्षरों की स्थिति मानी गयी है। इसका यन्त्र जलतत्त्व का द्योतक तथा अर्द्धचन्द्राकार है। यन्त्र रंग चन्द्रवत्, शुद्ध बीज 'वं' तथा बीज का वाहन मकर है। यन्त्र के देवता 'विष्णु' तथा शक्ति 'राकिनी' है।

३. मणिपूरक-चक्र—यह चक्र नाभि प्रदेश के सामने मेरुदण्ड में स्थित है। इसका कमल नीलवर्ण तथा १० दलों वाला है। इसके दलों पर क्रमशः 'डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं पं तथा फं,—इन दश अक्षरों की स्थिति मानी गई है। इसका यन्त्र अग्नितत्त्व का द्योतक तथा त्रिकोण है। इसके तीनों पार्श्व के द्वार में तीन 'स्वस्तिक' स्थित है। यन्त्र का रंग बाल सूर्य के समान, बीज 'रं' तथा बीज का वाहन मेष है। यन्त्र के देवता 'वृद्ध रुद्र' तथा शक्ति 'लाकिनी' है।

४. अनाहत-चक्र—इसकी स्थिति हृदय-प्रदेश के सम्मुख, इसका कमल अरुण वर्ग तथा १२ दलों वाला है। इसके दलों पर क्रमशः कं, खं, गं,

घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं तथा ठं इन बारह अक्षरों की स्थिति मानी गई है। इसका यन्त्र वायु तत्त्व का द्योतक तथा षट्कोण है। यन्त्र का रंग धूम्र-वर्ण, बीज 'यं' तथा बीज का वाहन मृग है। यन्त्र के देवता 'ईशान रुद्र' तथा शक्ति 'काकिनी' है। इस चक्र के मध्य में शक्ति-त्रिकोण है, जिसमें विद्युत जैसा प्रकाश व्याप्त है। इस त्रिकोण से सम्बद्ध 'वाण' नामक स्वर्ण कान्ति वाला शिवलिंग है जिसके ऊपर एक छिद्र है। इस छिद्र से लगा हुआ अष्टदल वाला शिवलिंग है जिसके ऊपर एक छिद्र है। इस छिद्र से लगा हुआ अष्टदल वाला 'हृत्पुण्डरीक' नामक कमल है। इस हृत्पुण्डरीक में उपास्यदेव का ध्यान किया जाता है।

५. **विशुद्ध-चक्र**—इसकी स्थिति कण्ठ-प्रदेश में है जहाँ कि दोनों श्वास स्वर का सम्मिलन सुषुम्ना-नाड़ी से है। इसका कमल धूम्रवर्ण तथा १६ दलों वाला है। इसके दलों पर अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, ऋं, ॠं, ऌं, ॡं, एं, ऐं, ओं औं अं तथा अः इन सोलह अक्षरों की स्थिति मानी गईहै। इसका यन्त्र आकाश तत्त्व का द्योतक तथा पूर्ण चन्द्राकार है। यन्त्र का रंग पूर्ण चन्द्र की प्रभा से देदीप्यमान, बीज हं तथा बीज का वाहन हस्ती है। यन्त्र के देवता 'पञ्चवक्त्र' सदाशिव तथा शक्ति 'शाकिनी' है।

६. **आज्ञाचक्र**—इसकी स्थिति भ्रू-मध्य के सामने मेरुदण्ड के भीतर ब्रह्मनाड़ी में है। इसके कमल का वर्ण श्वेत है तथा वह दो दलों वाला है। इसके दलों पर क्रमशः 'हं' तथा 'क्षं' इन दो अक्षरों की स्थिति मानी गयी है। इसका यन्त्र महत्त्व का द्योतक तथा विद्युतप्रभा युक्त इतर नाम अर्द्ध-नारीश्वर लिङ्ग है। यन्त्र का बीज 'प्रणव' है, बीज का वाहन 'नाद' है तथा इसके ऊपर 'बिन्दु' भी स्थित है। यन्त्र के देवता 'इतर लिङ्ग' तथा शक्ति 'हाकिनी' है।

तत्त्वों के बीज से तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी मशीन के चलते समय उसके विभिन्न भागों से अलग-अलग ध्वनियाँ प्रकट होती हैं उसी प्रकार वायु-संचार के कारण शरीरस्थ तत्त्व विशेषों के स्थान पर भी विशेष शब्द उत्पन्न होते हैं। यथा—पृथ्वी तत्त्व के स्थान पर जहाँ मल निकलता है वहाँ वायु लं·······लं करता हुआ-सा प्रतीत होता है तथा मूत्राशय के स्थान पर जल तल के बहने से वं····वं इसी प्रकार अन्नादि के पाचन के समय नाभि स्थान के अग्नि तत्त्व से वायु रं····रं

शब्द करता हुआ चलता है। इन्हीं ध्वनियों के आधार पर तत्त्वों के बीजाक्षर निश्चित किये गए हैं।

बीजों के वाहन से अभिप्राय यह है कि इन इन स्थानों पर वायु की गति इन-इन पशुओं की गति जैसी होती है। जैसे पृथ्वी तत्त्व के बोझ के कारण वायु की गति हाथी जैसी मन्द हो जाती है, जल तत्त्व के बहाव से वायु मकर की भाँति डुबकी खाता हुआ चलता है। जठराग्नि के कारण वायु की गति मेष जैसी हो जाती है तथा हृदय के वायुतत्त्व में शरीरस्थ वायु मृग जैसी छलाँगे मारती हुई भागती है, आदि।

चक्रों के देवी-देवताओं का विषय ध्यान योग तथा उपसाना-भेद से सम्बन्धित है इस मार्ग को केवल साधक ही जान पाते हैं। यहाँ उल्लिखित देवी-देवताओं का वर्ण पाया जाता है यथा—बाल-पद्धति में गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, जीव तथा गुरु—ये ७ देवता एवं इनकी शक्तियाँ क्रमशः-सिद्ध सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती, अविद्या तथा परापर ज्ञान कही गई है तथा परमात्मा की शक्ति मोक्ष बीजात्मक विद्या बताई गई है।

एक पाश्चात्य अनुभवी के मतानुसार कुण्डलिनी की स्थिति 'अनाहत-चक्र' (हृदय) के पास है तथा एक जर्मन दार्शनिक के मत से मूलाधार से सहस्रार तक के चक्रों का सम्बन्ध क्रमशः चन्द्र, बुध, शुक्र, सूर्य, मंगल, गुरु तथा शनि इन ग्रहों से है।

कुण्डलिनी शक्ति

कुण्डलिनी शक्ति क्या है? सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है। 'यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे' के अनुसार जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है। तथा 'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे' अर्थात् जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है यह अखिल विश्व अण्डाकार है, अतः इसे ब्रह्माण्ड कहते हैं। इसका संचालन जिस अण्डाकार शक्ति के प्रवाह से होता है उसे अव्यक्त 'कुण्डलिनी' कहा जाता है। अस्तु, विश्वव्यापी 'अव्यक्त समष्टि कुण्डलिनी' ही मनुष्य शरीर में 'अव्यक्त व्यष्टि कुण्डलिनी' के रूप में निवास करती है। ब्रह्म-शक्ति के प्रतीक जिस जीवनी शक्ति को प्राणशक्ति कहा जाता है उसका केन्द्रीभूत रूप ही 'कुण्डलिनी शक्ति' है। जिस प्रकार पर्वत अरण्य-समुद्रादि को धारण करने वाली पृथ्वी का आधार अनन्त नाग है, उसी प्रकार शरीर की समस्त गतियों एवं क्रिया शक्ति का आधार भी

'कुण्डलिनी शक्ति' ही है। यह शक्ति एक ही स्थान पर सर्पवत् कुण्डली बना कर रहती है अतः इसका नाम कुण्डलिनी शक्ति पड़ा है।

'योग कुण्डल्युपनिषद्' के अनुसार दो कुण्डलों वाली होने के कारण इस पिण्डस्थ शक्ति को 'कुण्डलिनी' कहा जाता है। इड़ा और पिंगला नामक नाड़ियाँ इसके दो कुण्ड हैं। इन दोनों नाड़ियों के बीच 'सुषुम्ना' की स्थिति है, सुषुम्ना के अन्तर्गत और भी अनेक नाड़िया हैं जिनमें से एक का नाम 'चित्रणी' है। इस चित्रणी में होकर ही कुण्डलिनी शक्ति का उर्द्धगामी मार्ग है अतः सुषुम्ना के दोनों ओर वाली इड़ा तथा पिंगला नाड़ियाँ उसके दो कुण्डलों के समान मानी गई हैं।

मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी आत्माग्नि के तेज में अवस्थित रहती है यही प्राणी की जीवन शक्ति तैजस् और प्राणकारक है। यह शक्ति करोड़ों विद्युत प्रकाश शक्ति एवं कोटानुकोटि सूर्य प्रकाश के समान प्रकाशित आभा वाली है, यह शक्ति एवं तेजोमय परमब्रह्म-स्वरूपिणी, शब्द ब्रह्ममयी योगियों को मोक्ष दायनी तथा मूर्खजनों के लिए वन्धन का कारण है।

जब तक कुण्डलिनी शक्ति शरीर में सोती रहती है तब तक मनुष्य परिस्थितियों का दास बना रहता है, पशु तुल्य निकृष्ट आचरण करता है तथा उसमें सत्गुणों का समुचित विकास नहीं हो पाता, परन्तु जब कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो जाती है तब मनुष्य सद्गुणों की खान एवं ईश्वर तुल्य हो जाता है।

इस शक्ति के सम्बन्ध में कतिपय पाश्चात्य मनीषियों के मत को उद्धृत कर देना इसलिए आवश्यक समझते हैं कि भारतवासी तब तक किसी बात पर विश्वास नहीं करते जब तक विदेशियों की मुहर न लग जाय।

पाश्चात्य मनीषी 'कुण्डलिनी शक्ति' को 'सर्पेण्ट पावर' नाम से अभिहित करते हैं। उनके मत से यह सर्पाकार कुण्डलिनी शरीर की अदम्य ऊर्जा शक्ति है।

आर्थर अवेलन—अपनी 'दि सर्पेण्ट पावर' नामक पुस्तक में लिखते हैं—'कुण्डलिनी एक संग्रहीत शक्ति है। यह व्यष्टि-शरीर में उस विश्व-महाशक्ति की प्रतिनिधि है, जो विश्व को उत्पन्न एवं धारण करती है।'

सर जॉन उडरफ ने डॉ० रेले के ग्रन्थ 'दि मिस्टीरियस कुण्डलिनी' की भूमिका में लिखा है—'कुण्डलिनी एक वेगस नर्व है यह नहीं कहा जा

सकता। वह एक बड़ी संगृहीत शक्ति है।' अपने 'शक्ति ऐण्ड शाक्त' नामक ग्रन्थ में वे लिखते हैं—'शक्ति दो रूप धारण करती है—एक स्थित अथवा संगृहीत (कुण्डलिनी) और दूसरा कर्तृत्वशील, जैसे–प्राण।

सन्त ज्ञानेश्वर महाराज ने 'ज्ञानेश्वरी' नामक अपने गीता भाष्य में छठें अध्याय का रहस्य समझाते हुए कहा है।

कुण्डलिनी के जागरण की स्थिति का वर्णन करते हुए ज्ञानेश्वर जी कहते हैं 'कुण्डलिनी जब जागती है, तब बड़े वेग के साथ झटका देकर ऊपर की ओर अपना मुँह फैलाती है। तब ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह बहुत दिन की भूखी हो और अब जागने पर खाने के लिए अधीर हो उठी हो। वह अपने स्थान से नहीं हटती, परन्तु शरीर में पृथ्वी तथा जल के जो भाग हैं, उन सबको चट कर जाती है, उदाहरणार्थ हथेलियों तथा पाँव तलों का शोधन कर उनका रक्त मांसादि खाकर, ऊपर के भागों को भेदती है तथा अंग प्रत्यंग की संधियों को छान डालती है। नखों की सत्त भी निकाल देती है। त्वचा को धोकर तथा पोंछ कर स्वच्छ करती तथा उसे अस्थि-पञ्जर से सटाए रखती है। पृथ्वी तथा जल—इन दो भूतों को खा चुकने पर वह पूर्णतया तृप्त होती है और तब शान्त होकर सुषुम्ना के समीप रहती है। तब तृप्तिजन्य समाधान प्राप्त होने से उसके मुख से जो गरल निकलता है, उसी गरल रूप अमृत को पाकर प्राणवायु जीता है।

कुण्डलिनी के सुषुम्ना में प्रवेश करने पर ऊपर की ओर जो चन्द्रामृत का सरोवर है, वह धीरे-धीरे उलट जाता है और वह चन्द्रामृत कुण्डलिनी के मुख में गिरता है। कुण्डलिनी द्वारा वह रस सर्वाङ्ग में भर जाता है तथा प्राण वायु जहाँ का तहाँ स्थिर हो जाता है उस समय शरीर पर त्वचा की जो सूखी पपड़ी-सी रहती है वह भूसे की तरह निकल जाती है। तब शरीर की कान्ति केशर रंग की अथवा रत्नरूप बीज के कोपल-सी दीखती है और ऐसा लगता है, जैसे सायंकाल के आकाश से लाल रंग की लाली निकल कर, उससे वह शरीर बनाया गया हो, जब कुण्डलिनी चन्द्रामृत पान करती है, तब ऐसी देह में कान्ति होती है कि यमराज भी काँपते हैं। उस योगी की देह के प्रत्येक अंग नया और कान्तिमय बन जाता है। उसे लघिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। पृथ्वी और जल का अंश न रहने से योगी का शरीर वायु जैसा हल्का हो जाता है, वह

सागर पार की बातें जानने, वस्तु पहचानने, स्वर्ग में होने वाले विचारों, चींटी के मन की बात जान लेने में भी समर्थ हो जाता है, पाँवों को बिना भिगोये जल पर चल सकता है। ऐसी उसे अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

कुण्डलिनी को जगाना

उपर्युक्त विवरण से पाठकों को कुण्डलिनी की स्थिति, स्वरूप तथा उनमें महत्त्व का ज्ञान प्राप्त हो चुका है।

षट्चक्रों में गुदा तथा लिंग के मध्यभाग में जो 'कन्द' स्थान है, कुण्डलिनी की अवस्थिति उसी में मानी गई है। वहाँ पर वह समस्त नाड़ियों को वेष्टित करती हुई, साढ़े तीन आँटें देकर, अपनी पूँछ मुँह में लिए, सुषुम्णा नाड़ी के छिद्र का अवरोध करती हुई, सर्प की भाँति निद्रावस्था में अवस्थान करती है। जब यह जग जाती है तब षट्चक्र में स्थित पद्म तथा ग्रन्थियों का भेदन हो जाता है। इस कुण्डलिनी को जगाने के लिये प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध आदि के अभ्यास किये जाते हैं। बन्ध-त्रययुक्त प्राणायाम, मुद्रा तथा भावनाओं द्वारा धीरे-धीरे कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है।

कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने के अनेक उपाय 'पातञ्जलि योग दर्शन' तथा तन्त्र-ग्रन्थों में वर्णित है परन्तु उनमें प्राणायाम द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को चैतन्य करके 'सुषुम्ना' में लाने का उपाय सुख साध्य है। यहाँ कुण्डलिनी जागरण की कुछ विधियों का उल्लेख किया जा रहा है।

विधि–१—सिद्धासन में बैठकर बाँयें पाँव की एड़ी को गुदा तथा जननेन्द्रिय के बीच सीवन से सटाते हुए इस प्रकार लगायें कि उसका तला सीधे दाँयें पाँव की जंघा का स्पर्श करे। इसी प्रकार दाँयें पाँव की एड़ी को शिश्नेन्द्रिय की जड़ के ऊपरी भाग में दृढ़ता पूर्वक इस प्रकार लगायें कि उसका तला बाँयें पाँव की जंघा का स्पर्श करें। फिर बाँयें पाँव के अंगूठे तथा तर्जनी को दाँयीं जाँघ तथा पिण्डली के मध्य में ले लें। सम्पूर्ण शरीर का भार एड़ी तथा सीवन के मध्य भाग की नस पर ही तुला रहना चाहिए।

अब दायें हाथ के अँगूठे से दाँये नासा छिद्र (नथुने) को दबा कर नाभि से लेकर कण्ठ तक की सम्पूर्ण वायु को धीरे-धीरे बाहर निकाल दें।

इस प्रकार समस्त वायु का 'रेचन' करके श्वास को भीतर लेकर अर्थात् 'पूरक' करके बारम्बार पूर्वोक्त प्रकार से 'रेचन' करें। 'रेचन' के समय मूलबन्ध, उड्डियान तथा जालन्धर बन्धों को दृढ़ता से लगा कर, दोनों हथेलियों को दोनों घुटनों पर स्थापित कर, अपनी दृष्टि नाक के अग्रभाग पर स्थिर रखनी चाहिए।

इस प्रकार से नित्य नियमित रूप से अभ्यास करते रहने से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् हो कर सुषुम्णा के द्वार को खोल देती है। तब प्राण का ऊर्ध्वगमन होने लगता है तथा चींटी के रेंगने जैसा सुख अनुभव होने लगता है। ब्रह्मरन्ध्र में प्राण के प्रवेश करते ही अपरिमित आनन्द की अनुभूति होने लगती है।

विधि–२—पूर्वोक्त प्रकार से सिद्ध आसन लगाकर बैठें। फिर दोनों नासा छिद्रों द्वारा नाभिपर्यन्त यथा शक्ति अधिकाधिक वायु को भरें तदुपरान्त जालन्धर-बन्ध लगाकर 'अन्तः कुम्भक' करें साथ ही मूलबन्ध द्वारा मूलाधार से अपानवायु का उत्थान करके, नाभि में प्राण के मिला देने की पूर्ण भावना करें। ऐसा करते समय उड्डीयान-बन्ध लगा लेना भी अधिक अच्छा रहता है। कुम्भक के समय तीनों प्रकार के बन्ध लगे रहने चाहिए।

उक्त विधि से सामर्थ्यानुसार एक निश्चित अवधि का कुम्भक करके, 'रेचक' करें तथा वायु को बाहर छोड़ दें।

प्राणायाम की इस विधि से भी प्राणोत्थान की क्रिया शीघ्र होने लगती है।

दीर्घ श्वास-प्रश्वास प्राणायाम

समकाय ग्रीवा होकर बैठे, हाथों की हथेलियाँ घुटनों पर हों, किसी भी नासिका को किसी अँगुली से बन्द नहीं करना है। दोनों नासिकाओं से तीव्र गति से लम्बे-लम्बे श्वास भीतर खींचे अर्थात् पूरक करें। खींचे हुए श्वास को भीतर रोकना नहीं है। खींचने के तुरन्त बाद उसे वेग से ही बाहर निकालना है, रेचक करना है, इस पूरक रेचक को बल से शीघ्रतापूर्वक करना है। १ से आरम्भ करें और धीरे-धीरे उसे बढ़ाते रहें। आशातीत लाभ होगा।

२. अग्नि-प्रसारण प्राणायाम—इससे अग्नि प्रदीप्त होती है, मन्दाग्नि से निवृत्ति होती है और पाचन शक्ति बढ़ती है।

सिद्धासन में हथेलियों को घुटनों पर रखकर बैठें। दीर्घ श्वास-प्रश्वास-प्राणायाम में पहले वेगपूर्वक पूरक किया जाता है, फिर बिना कुम्भक के रेचक किया जाता है। इस क्रिया में पहले पूरक न करके पहले रेचक किया जाता है, फिर पूरक। पेट को यथाशक्ति अन्दर की ओर करते हुए प्राण वायु को नाभि से लाते हुए वेग पूरक श्वास बाहर निकालें और शीघ्रता से भीतर खींचे। इस रेचक-पूरक क्रिया में अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाएँ। ५० तक नित्य प्रति करने से पूरा लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

उपर्युक्त दोनों विधियों में से किसी एक विधि को ही अपनाना चाहिए।

३. फेफड़ा—वक्षःस्थल के दोनों ओर दो हृदय होता है। स्वास्थ्य की स्थिरता में इनकी महत्त्व पूर्ण भूमिका है। वैज्ञानिकों ने अनुमान लगाया है कि यदि उन्हें किसी विधि से भूमि पर फैलाया जा सके तो इन्हें कम से कम दो बीघा भूमि चाहिए। तभी तो कहा जाता है कि फेफड़े में १८ करोड़ कोठरियाँ होती हैं। ये कोठरियाँ वायु में से आक्सीजन को ग्रहण करके रक्त शुद्धि के कार्य में संलग्न रहती हैं। परन्तु साधारणतः मनुष्य इन सभी कोठरियों का उपयोग नहीं कर पाता परिणाम स्वरूप यह अविकसित पड़ी रहती हैं और रक्त-शुद्धि व दूषित तत्त्वों के विसर्जन का कार्य सीधे प्रकृत रूप से नहीं हो पाता। प्राणायाम से फेफड़े की सभी कोठरियाँ सक्रिय हो उठती हैं। वे वायु में आक्सीजन तत्त्व को स्वाभाविक रूप से ग्रहण करने लगतां हैं। इस क्रिया से फेफड़े व शरीर स्वस्थ रहते हैं।

फेफड़े की गतिविधियों का सक्रिय बनाए रखने के लिए 'कपाल भाति प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। इसका विवरण 'प्राणायाम से रोग निवारण' प्रकरण में कफ दोष निवारण के लिए शीर्षक दिया गया है।

रक्त-शुद्धि-क्रिया

मानव शरीर में स्नायु मंडल और प्रवाहिनी ग्रन्थियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है परन्तु उनकी सुव्यवस्थित गतिविधियाँ रक्त संचालन पर निर्भर करती हैं। रक्त संचालन तभी ठीक रहेगा जब श्वास-क्रिया और पाचन-क्रिया प्राकृतिक रूप में कार्यरत हो। शरीर के प्रत्येक भाग में शुद्ध रक्त

को पहुँचाने के लिए हृदय नसों, नाड़ियों और शिराओं की व्यवस्था की गई है। यदि शरीर में शुद्ध रक्त की कमी है तो स्नायु मण्डल व रस प्रवाहिनी ग्रन्थियाँ कमजोर पड़ जायँगी, उनका कार्य अव्यवस्थित हो जायेगा और शरीर शक्ति हीन हो जायेगा।

रक्त संचालक-क्रिया स्वाभाविक होने पर भी यदि रक्त अशुद्ध हो तो रक्त संचालक के सहायक यन्त्रों का विशेष अर्थ नहीं रह जाता क्योंकि अच्छा स्वास्थ्य शुद्ध रक्त पर निर्भर करता है और शुद्ध रक्त श्वास क्रिया व पाचन क्रिया पर आधारित है।

रक्त का शुद्ध होना इस बात पर निर्भर करता है कि हमें आक्सीजन पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो रही है। रक्त को आक्सीजन मिलने का प्रमुख साधन श्वास क्रिया है। रक्त में उतनी ही आक्सीजन प्रवाहित हो सकेगी जितनी को श्वास क्रिया उसे ग्रहण कर सकेगी। यदि श्वास क्रिया का संचालन भली प्रकार नहीं हो पा रहा हो तो रक्त में आक्सीजन की मात्रा कम हो जायेगी और शरीर के समस्त अंग-अशुद्ध रक्त ग्रहण करने पर बाध्य होंगे। परिणामस्वरूप वह रोगी हो जायँगे। उत्तम स्वास्थ्य शुद्ध रक्त पर निर्भर करता है तो शुद्ध रक्त व्यवस्थित श्वास क्रिया के संचालन पर आधारित है। श्वास क्रिया को व्यवस्थित करने की वैज्ञानिक प्राणाली प्रणायाम है।

प्राणायाम किस प्रकार से श्वास क्रिया की गतिविधियों को संचालित करके रक्त शुद्ध करता है इस पर भी विचार करना आवश्यक है। फेफड़े में प्राणवायु प्रसारण की व्यवस्था इस प्रकार से है—

फेफड़े में श्वास नलिकाओं की संख्या लगभग ६० करोड़ मानी गई है। वह वायुकोष्ठों के बिछे विस्तृत जाल तक पहुँचने का काम करती है। वायुकोष्ठों का काम यह है कि आक्सीजन को सुरक्षित रखें और कार्बन-डाइ-आक्साइड को बाहर फेंके। इस तरह से फेफड़े मल निवृति का कार्य करता है यह कार्य वायु के सहयोग से सम्पन्न हो पाता है।

मशीन किसी प्रकार की हो जब वह क्रियाशील रहती है तो उसमें मैल एकत्र होते रहते हैं। मानव शरीर में भी विभिन्न प्रकार के महत्त्वपूर्ण यन्त्र कार्यरत रहते हैं। विभिन्न क्रियाओं से इसमें भी मैल उत्पन्न होता रहता है। इसकी शुद्धि की विधि-व्यवस्था इस प्रकार से है कि निरन्तर प्रवाहित होने वाला रक्त मल के अधिकांश भाग को अपने साथ लेकर

हृदय के दाँयें कोष्ठ में प्रविष्ट होता है। दूषित रक्त की शुद्धि के लिए फेफड़े में आना पड़ता है। फेफड़े में श्वास क्रिया द्वारा जो आक्सीजन आती रहती है वह रक्त के इस दूषित अंग को ग्रहण करके उसे शुद्ध कर देती है और कार्बन-डाइ-आक्साइड के रूप में परिवर्तित वायु को बाहर फेंक दिया जाता है, फेफड़े की कार्य विधि से शुद्ध हुआ रक्त पुनः हाथ के बायें कोष्ठक से प्रविष्ट होता है। इस प्रकार से रक्त शुद्धि की क्रिया निरन्तर संचालित होती रहती है। यह क्रिया भली प्रकार से तभी चलती रह सकती है जब शुद्ध वायु पर्याप्त मात्रा में हमें प्राप्त होती रहे। साधारणतः जितनी वायु हमें प्राप्त होती है वह अपर्याप्त रहती है। परिणामतः फेफड़े की प्रत्येक कोठरी में वह नहीं पहुँच पाती। वह निष्क्रिय पड़ी रहती है और निर्मल होती रहती है जिससे बाह्य वातावरण के छोटे-छोटे आघातों को भी सहन करने की क्षमता नहीं रहती।

सार यह कि स्वास्थ्य की स्थिरता शुद्ध रक्त पर निर्भर करती है। रक्त शुद्धि की क्रिया फेफड़े में आई वायु पर आधारित है। फेफड़े की प्रत्येक कोठरी क्रियाशील हो, तभी रक्त शुद्धि की क्रिया सुव्यवस्थित ढङ्ग से चलती रहती है। इस उद्देश्य की पूर्ति केवल प्राणायाम के अभ्यास द्वारा ही सम्भव हो सकती है।

प्राणायाम की पूरक, कुम्भक, रेचक तीन क्रियाओं का प्रभाव इस प्रकार से होता है।

पूरक क्रिया द्वारा शुद्ध वायु को फेफड़े में ग्रहण किया जाता है। कुम्भक में जब ग्रहण की हुई वायु को रोका जाता है तो वह फेफड़े की समस्त कोठरियों में फँस जाती है। इसमें फेफड़े से अधिक क्रियाशील व सशक्त बनते रहते हैं जिससे अधिक से अधिक आक्सीजन को ग्रहण करके रक्त को शुद्ध करने और कार्बन-डाइ-आक्साइड को बाहर फेंकने की क्षमता बढ़ती रहती है। रेचक-क्रिया से ग्रहण की हुई वायु को बाहर निकाला जाता है। इस क्रिया से उन्हें विश्राम मिलने से उनमें असाधारण स्फूर्ति उत्पन्न होती है। इस तरह से प्राणायाम रक्त शुद्धि का एक श्रेष्ठ साधन सिद्ध होता है।

रक्त शुद्धि व रक्त वाहिनी नाड़ियों को पुष्ट व शुद्ध करने के लिये मुख प्रसारण पूरक-कुम्भक प्राणायाम करना चाहिए। विधि इस प्रकार है—

सुखासन से बैठें। दाँयीं नासिका को बन्द करके बाँयीं नासिका से श्वास-प्रश्वास लेते हुए एक लम्बा पूरक इस प्रकार करें कि फिर शरीर के किसी स्थान में भी वायु भरने की आवश्यकता न रह जाये। पूरक के बाद कुम्भक करना चाहिए। गले को इस प्रकार सिकोड़ लेना चाहिए कि अन्दर की वायु का बाहर निकलना बिलकुल सम्भव न हो। यहाँ तक कि मुख के खोलने पर भी श्वास रुका रहे। कुम्भक को यथा शक्ति ही करना चाहिए। कुछ असुविधा अनुभव हो तो दाँयीं नासिका से प्रश्वास धीरे-धीरे निकाल दें। बार-बार करने से इसमें दृढ़ता आती है।

३. **हृदय**—पाइपों से नगर के विभिन्न दिशाओं में जल वितरण व्यवस्था का निरीक्षण करने से हाथ यन्त्र की कार्य पद्धति को सुविधा से समझा जा सकता है। हृदय का कार्य है—रगों व धमनियों द्वारा शरीर के प्रत्येक भाग को रक्त पहुँचाना। रक्त से ही उस भाग का पोषण बना रहता है। जब हृदय गति रुकती है तो रक्त संचार भी बन्द हो जाता है जिसके परिणाम स्वरूप प्राण शरीर को छोड़ देते हैं। स्वास्थ्य की स्थिरता रक्त के सुचारु रूप से चलते रहने पर निर्भर करती है। हृदय गति स्वाभाविक रूप से जब तक चलती रहती है तब तक रक्त का प्रवाह भी भली प्रकार से संचालित होता रहता है।

'वक्षस्थल-रेचक-प्राणायाम' से हृदय को बल मिलता है।

४. **ग्रन्थि समूह**—शरीर में विद्यमान विभिन्न गुत्थियाँ किन्हीं विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनाई गई हैं। उनका वास्तविक कार्य तो यह है कि उनसे एक विशिष्ट प्रकार का रासायनिक द्रव प्रवाहित होता रहता है जिनसे शरीर में स्फूर्ति व क्रियाशीलता बनी रहती है। जिगर को सबसे बड़ी ग्रन्थि माना गया है। इससे प्रवाहित होने वाला द्रव पाचन क्रिया में सहयोग देता है।

'मध्य रेचक प्राणायाम' से जिगर की सक्रियता बनी रहती है इसकी विधि इस प्रकार है—

मस्तिष्क आसन से रीढ़ की हड्डी को सीधा करके बैठें। इसमें पूरक के बजाय रेचक क्रिया करनी होती है। सर्व प्रथम पेट की वायु को बाहर निकालना होता है, फिर उड्डीयान-बन्ध लगाकर आँतों को बेलन की भाँति बनाकर स्थिर करना पड़ता है, वायु रेचन के बाद बाह्य कुम्भक करना चाहिए अर्थात् पेट की समस्त वायु को बाहर निकाल कर उसे वहीं

बाहर रोक दें। यथाशक्ति रोक कर छोड़ना आरम्भ करें। यह प्राणायाम हुआ। सुविधा से इस का अभ्यास बढ़ायें। इस क्रिया से तिल्ली व जिगर दोनों को शक्ति प्राप्त होती है।

५. **मस्तिष्क**—शरीर का सबसे अधिक चमत्कार पूर्ण यन्त्र यही है। दस अरब न्यूरोन्स से यह जितना जटिल हो गया है उतना ही यह रहस्य पूर्ण भी है। प्रमुख रूप से इसके तीन कार्य हैं—१. ज्ञानात्मक, २. क्रियात्मक, ३. संयोजनात्मक। इन तीनों क्रियाओं से निम्न तीन परिणाम उपस्थित किये जा सकते हैं—

१. साधक किसी भी स्थान पर बैठा हुआ हो, वह ब्रह्माण्ड की छोटी से छोटी वस्तु की कोई भी जानकारी प्राप्त कर सकता है।

२. किसी भी स्थान से किसी को कहीं भी इच्छित संदेश भेजे जा सकते हैं, कहीं से भी अत्यन्त भारी वस्तुओं को सुविधा से लाया जा सकता है। किसी को मूछित अथवा मारने की क्षमता प्राप्त की जा सकती है।

३. संसार की किसी भी वस्तु पर स्वामित्त्व किया जा सकता है, विश्व के किसी भी प्राणी को वश में किया जा सकता है, अष्ट-सिद्धियाँ व नव-निधियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। मस्तिष्क के यह चमत्कार औषधियों द्वारा विकसित मानसिक एकाग्रता का ध्यान के सत्परिणाम हैं।

डॉ० जॉर्ज डैलगाडो ने मस्तिष्क के नियन्त्रण के सम्बन्ध में अनेक प्रयोग किये हैं। उन्होंने लिखा है कि मस्तिष्क में दस अरब न्यूरोन्स का जो जाल बिछा हुआ है उनके नियन्त्रण के बिना तार के सन्देश व प्रेरणायें भेजी जा सकती हैं, किसी के मन की बात को जाना जा सकता है।

वैज्ञानिकों का अनुमान है कि एक साधारण व्यक्ति के मस्तिष्क में लगभग २० वाट विद्युत शक्ति हर समय काम करती रहती है। यदि कोई ऐसी विधि अविष्कृत की जा सके जिससे इन न्यूरोन्स को जाग्रत किया जाना सम्भव हो तो दश अरब न्यूरोन्स को दश अरब डायनों में परिवर्तित किया जा सकता है, पूर्ण विकसित मस्तिष्क का सहज में अनुमान लगाया जा सकता है।

मस्तिष्क दो हैं—१. बृहत् मस्तिष्क, २. लघु मस्तिष्क। शरीर के समस्त भागों से सभी नस-नाड़ियाँ आ-आ कर बृहत् मस्तिष्क में एकत्रित होती हैं। यह शरीर का नियन्त्रण केन्द्र है, लघु मस्तिष्क में स्मृति शक्ति

का केन्द्र माना जाता है। यही वह स्थान है जहाँ से अचेतन कार्यों में विद्युत प्रवाह संचालित होते हैं।

मस्तिष्क ही मानव का वास्तविक जीवन है। यदि रोगी अविकसित अथवा सुप्तावस्था में रहता है तो यह शरीर व्यर्थ सा भार रूप ही लगता है। पागल, बेवकूफ, अनपढ़, पिछड़ा हुआ सब इन्हीं की संज्ञाएँ हैं। इनके विपरीत विकसित मस्तिष्क चमत्कारी वैज्ञानिक प्रयोगों में सफल होकर चन्द्रमा तक की असम्भव यात्राओं को भी सम्भव बना सकता है।

प्राणायाम द्वारा मस्तिष्क सबल जाग्रत विकसित क्रियाशील हो सकता है। मुख-प्रसारण-पूरक-कुम्भक प्रणायाम इसके लिए विशेष प्रकार से उपयुक्त है। इसका विवरण इसी लेख से फेफड़े के प्रकार में रक्त शुद्धि क्रिया शीर्षक में दिया जा चुका है।

दीर्घायु प्राप्ति—योग के प्रसिद्ध ग्रन्थ गोरक्ष-पद्धति में प्राणायाम से दीर्घायु प्राप्ति का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

चले वाते चलो विन्दु निश्चले निश्चली भवेत्।
योगी स्थाणु त्वमाप्नाति ततो वायु निरोधयेत्॥

जब प्राण वायु का ँ नःश्वासोच्छ्वास चलता रहता है, विन्दु भी अस्थिर व चलायमान रहता है। इसके विपरीत जब प्राणवायु की गति-विधियाँ बन्द होती हैं तो बिन्दु भी स्थिर में आ जाता है। प्राणायाम क्रिया से जब प्राणवायु को स्थिर करने का प्रयत्न किया जाता है तो योगी स्थाणुभाव को प्राप्त होता है और दीर्घायु की प्राप्ति होती है। अतः प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

मनुस्मृति (४–९४) में कहा है—

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः।

लम्बी सन्ध्या करने से जिसमें प्राणायाम आदि अङ्ग भी सम्मिलित रहते हैं, ऋषियों ने दीर्घायु प्राप्त की थी।

प्राणायाम से दीर्घायु प्राप्ति का रहस्य यह है कि कुम्भक से प्राण की गति का निरोध किया जाता है, इसी से साधक की आयु में वृद्धि होती है। यह निश्चित व अनुभव सिद्ध सिद्धान्त है। इसमें सन्देह का कोई स्थान नहीं है। गङ्गोत्री आदि पर्वतीय स्थान व गुफाओं में आज भी ऐसे योगी निवास करते हैं जिनकी आयु २००–३०० वर्ष बताई जाती है।

यह प्राणायाम के अभ्यास का ही प्रतिफल है। ४०० वर्षों की आयु के योगियों का वर्णन प्राप्त होता है। योगीराज अरविन्द के गुरु की आयु ४०० वर्ष बताई जाती है।

यह श्वास साधन केवल योगियों के लिए ही सुरक्षित नहीं वरन् इसे हर कोई कर सकता है। इसमें अभ्यास की ही विशेषता है, आप इसका अभ्यास करके स्वयं ही देख लीजिए। साधना स्थल पर घड़ी रख कर अभ्यास करके देख लीजिए। आरम्भ में प्राणावरोध कुछ समय तक ही सीमित रहे। धीरे-धीरे इसे बढ़ाते रहें। एक मास में अभ्यास का परिणाम स्वयं ही परिलक्षित होने लगेगा। लम्बे अभ्यास से प्राणावरोध की सीमा मिनटों और घण्टों तक बढ़ाई जा सकती है। योगी तो वर्षों तक श्वासावरोध की क्षमता प्राप्त कर लेते हैं। इस श्वासावरोध के अभ्यास में ही लम्बी आयु का रहस्य निहित है।

दीर्घायु प्राप्ति के लिए निम्न प्राणायाम लाभदायक सिद्ध हुए हैं—

१. केवली प्राणायाम—आयु वृद्धि के लिए केवली प्राणायाम को उत्तम माना गया है। हठयोग प्रदीपिका २।७३ में केवली कुम्भक और स्तम्भ वृद्धि प्राणायाम में एकता सिद्ध की गई है और २।७४ में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि बिना प्रश्वास बाहर निकाले व श्वास अन्दर भरे रोकने की क्रिया में सफलता प्राप्त हो जाने पर ही सब कुछ प्राप्त हो जाता है। यही केवली प्राणायाम की विधि में रेचक पूरक करने ही आवश्यकता नहीं है प्राणों का प्रवाह जहाँ तक चल रहा है उसे वहीं रोक लेना ही केवली प्राणायाम कहलाता है। इसे आयु बढ़ाने में सहायक माना गया है।

२. सूक्ष्म श्वास-प्रश्वास प्राणायाम—इसके अभ्यास के साथ अहार-विहार में विशेष सावधानी रखनी पड़ती है। अहार स्वल्प होना आवश्यक है। विधि इस प्रकार है—

सुखासन से बैठें। अपने सामने रखी तिपाई पर थोड़ी सी रूई रखें जो नासिका के बिलकुल सामने हो। आरम्भ में नासिका और रूई की दूरी एक फुट होने चाहिए। अब प्राणवायु को इस गति से बाहर निकालें, रेचक करें कि वह रूई हिलने लगे। एक सप्ताह तक इस रेचक क्रिया का अभ्यास करें। इसके बाद रूई की दूरी को एक फुट के बजाय १० इंच कर दें। प्रश्वास की गति इस प्रकार से रहे कि रूई हिलती रहे, उड़े नहीं।

इस अभ्यास को धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए, रूई की दूरी कम करते रहना चाहिए। जब तक रूई नासिका के पास रखकर स्थिर न हो जाय यह अभ्यास चलता रहना चाहिए। रूई नासिका से लगी रहे परन्तु रेचन क्रिया से भी वह हिले नहीं, यही इस प्राणायाम की सफल अवस्था है।

दोनों हाथों की हथेलियों को घुटनों पर रखें। दोनों नासिकाओं से तीव्र गति से शब्द करते हुए श्वास भीतर खींचे। बिना भीतर रोके उसे उसी गति से बाहर निकालते रहें। यही क्रम बार-बार चलता रहे और पूरक-रेचक की संख्या बढ़ती रहे।

इनमें से किसी भी प्राणायाम का अभ्यास करते रहने पर अभीष्ट लाभ की सिद्धि होती है।

स्फूर्ति व क्रियाशीलता के लिए—

शरीर में आलस्य व अकर्मण्यता को दूर करके स्फूर्ति व क्रियाशीलता लाने के लिए सहित कुम्भक नामक प्राणायाम लाभदायक सिद्ध हुआ है। घेरण्ड संहिता (५।४६) में दो प्रकार का वर्णन आता है—

सहिता द्विविधः प्रोक्तः प्राणायाम समाचरेत्।
सगर्भो बीजमुच्चार्यं निगर्भो बीज वर्जितः॥

सहित कुम्भक दो प्रकार का होता है—सगर्भ व निगर्भ। सगर्भ वह कहलाता है जिसमें पूरक, कुम्भक व रेचक के साथ निश्चित संख्या में ओंकार का मानसिक जाप किया जाता है। निगर्भ में मन्त्र जाप का होना आवश्यक नहीं है।

यह प्राणायाम उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीन प्रकार का माना गया है। उत्तम प्रकार की विधि इस प्रकार है—

दाँयें अंगूठे से दाँयीं नासिका को बन्द करें और बाँयीं नासिका से श्वास भीतर खींचना आरम्भ करें। श्वास खींचने की क्रिया के साथ ३२ बार ओंकर का मानसिक जाप होना चाहिए। अब श्वास खींचना बन्द कर दें, इसे वहीं रोक दें। इसे योग की भाषा में कुम्भक कहते हैं। कुम्भक इतनी देर करें जिसमें ओंकार का १२८ बार मानसिक जप हो जाये। तत्पश्चात् दाँयें हाथ की ही अनामिका व मध्यमा से बाँयीं नासिका को बन्द करके दाँयीं नासिका से श्वास छोड़ना आरम्भ करें। इस रेचक क्रिया में ओंकार का ६४ बार मानसिक जप होना चाहिए। इसी तरह

से बाँयीं नासिका को अंगूठे से दबाकर पहले दाँयीं नासिका से पूरक करें और फिर बाँयीं नासिका से पूरक करें और फिर दाँयीं को अनामिका व मध्यमा से दबा कर बाँयीं से रेचक करें। ओंकार जप की संख्या इतनी ही रहे।

इस प्राणायाम की सिद्धि शीघ्र न हो तो निराश नहीं होना चाहिए क्योंकि सफलता अभ्यास पर निर्भर करती है। इसे निरन्तर करते रहने से यह धीरे-धीरे दृढ़ होता रहता है।

मध्यम प्रकार के सहित कुम्भक की विधि उपर्युक्त प्रकार से ही है अन्तर केवल ओंकार जप का है। इसके पूरक में १६ बार, कुम्भक में ६४ बार और रेचक में ३२ बार ओंकार का जप होना चाहिए। कनिष्ठ सहित कुम्भक में भी केवल जप संख्या में अन्तर है। इसके पूरक में ८ बार, कुम्भक में ३२ बार और रेचक में १६ बार ओंकार का मानसिक जप करें।

आरम्भ में साधक को कनिष्ठ सहित कुम्भक ही करना चाहिए। इसमें दृढ़ता प्राप्त होने पर मध्यम में प्रविष्ट हों। मध्यम का पूरा अभ्यास होने पर ही उत्तम सहित कुम्भक करना चाहिए। अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाएँ इसमें जल्दी न करें।

इस प्राणायाम के दीर्घ कालीन अभ्यास के परिणाम स्वरूप ऐसा अनुभव होता है कि शरीर में नवीन शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ है और वह निरन्तर कुछ करना चाहती रहती है अतः शरीर परिश्रम व तप चाहे वह शारीरिक या मानसिक साधक को उसमें आनन्द आता है वह काम करने में थकावट अनुभव नहीं करता। क्रियाशीलता उसके जीवन का एक अंग बन जाती है यही सफल जीवन का रहस्य है और सहित कुम्भक उसमें सहायक होता है।

प्राणायाम से रोग निवारण

प्राण चिकित्सा की श्रेष्ठता—जिस प्रकार एलोपैथी सभी प्रकार की विमारियों का कारण जीवाणु मानता है, प्राकृतिक चिकित्सा 'विजातीय तत्त्वों' को और आयुर्वेदिक प्रणाली आम रस (आहार से बनने वाला कच्चा रस) को रोगों का मूल हेतु बताती है, उसी प्रकार प्राण चिकित्सा के प्रयोक्ता सभी शारीरिक रोगों और मानसिक दोषों का निदान 'सबल प्राण' की कमी मानकर करते हैं। उनका विश्वास है, जिस व्यक्ति में

सबल प्राण की मात्रा कम हो जाती है उसके शरीर के अंग-प्रत्यंग ढीले पड़ जाते हैं। वे अपना कार्य यथेष्ठ रूप से नहीं कर पाते। यकृत, आँतें, गुर्दे, हृदय, मस्तिष्क और नलिका विहीन ग्रन्थियों में सबल प्राण की कमी से शिथिलता आती है जिससे आहार ठीक तरह से नहीं पचता, पेट खराब रहता है। ठीक तरह से भोजन के पाचन न होने से आम रस (कच्चा आहार रस) अधिक मात्रा में बनने लगता है और अंग-प्रत्यंग को दूषित करता जाता है। अंग-प्रत्यंग की शिथिलता रक्त संचार को मन्दतर कर देती है जिससे छिपे हुए मृत कोषों का निर्हरण शरीर के बाहर यथा योग्य नहीं हो पाता।

रुधिर के माध्यम से शरीर में विजातीय द्रव्य अधिक हो जाते हैं परिणामतः रोग आ घेरते हैं। इस तरह से आम रस या विजातीय द्रव्य के मूल में सबल प्राण की कमी ही निहित है। वही मुख्य हेतु है, जीवाणु-वादी भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि जीवाणु उन्हीं को रोग-ग्रस्त बनाते हैं जिनकी जीवन-शक्ति जीवाणुओं को आत्म-घात करने में असफल रहती हैं। जीवाणु और जीवन-शक्ति की लड़ाई का नाम रोग है।

यदि जीवनी-शक्ति प्रवल पड़ती है तो रोगी स्वस्थ हो जाता है, निर्बल होने पर वह जीवाणु कवलित मृत हो जाता है। इसी प्रकार वे भी जीवनी शक्ति के नाम से प्राण शक्ति को ही आधि-व्याधि का प्रधान कारण मानते हैं।

प्राणायाम की विधि-व्यवस्था प्राण के आकर्षण कुदरती बहाव को स्वाभाविक बनाये रखती है जिससे प्राण का आदान-प्रदान करने वाले आन्तरिक अङ्ग स्वस्थ रहते हैं। वे अपना कार्य अहर्निश सुचारु रूप से करते रहते हैं। अतः प्राणायाम आरोग्य और बल वृद्धि का विना पैसे कौड़ी का साधन तो है ही रोग निवारण और स्वास्थ्य लाभ का भी अचूक उपाय है। उसका प्रभाव स्थायी होता है। वह औषधियों के सामने रोग या रोग के कारण को दबाता नहीं।

उपनिषद् के ऋषियों ने इस तथ्य की पुष्टि की है। जाबालदर्शनो-पनिषद् में लिखा है कि प्राणायाम से सभी रोग समूल नष्ट हो जाते हैं और भगन्दर जैसे भयङ्कर रोग भी दूर हो सकते हैं। योगकुण्डल्योपनिषद् के अनुसार प्राणायाम से गुल्म, जलोदर, प्लीहा तथा पेट सम्बन्धी अन्य

रोग निश्चय पूर्वक नष्ट हो जाते हैं, चारों प्रकार के वात दोष और कृमि-दोष नष्ट हो जाते हैं, मस्तक की उष्मता, गले की कफ, धातु सम्बन्धी रोग, पित्त ज्वर, तृषा आदि दूर होते हैं। कुछ प्रयोग नीचे दे दिया जा रहा है।

रोग निवारक उपचार

यदि आप के किसी अङ्ग में दर्द हो रहा हो, सूजन हो, हाथ-पाँव भीषण शीत के कारण सुन्न से हो रहे हों, सिर में असह्य पीड़ा हो अथवा आँख, नाक, कान आदि अङ्ग का कोई विशेष रोग हो, तो उसके निवारण के लिए प्राण से पुष्ट रुधिर का उस अवयव की ओर तीव्र गति से संचरण या प्रेषण बड़ा लाभकारी होता है। ऐसा करने से रोग निरोधिनी शक्ति प्रवल होती है और रोग बल शनैः शनैः क्षीण हो जाता है। कभी-कभी एक दो बार के अभ्यास से ही पूर्ण लाभ हो जाता है। अङ्ग विशेष की ओर रुधिर और प्राण का संचार करने के लिए पहले सीधे वैठ जाइए। यदि वैठना सम्भव न हो तो पीठ के बल सीधा लेटने में भी कोई हानि नहीं है। अब सबसे पहले पाँच से दस बार तक इस प्रकार श्वास-निश्वास कीजिए कि श्वास निकलने में जितना समय श्वास को बाहर और अन्दर रोकने में लगाया जावे। मान लीजिये—दश बार 'ॐ' कहते हुए श्वास लिया गया है, उतने ही समय तक अन्दर ही रोके रखिये जब तक आप पाँच बार 'ॐ-ॐ' कह लें। तत्पश्चात् दश बार 'ॐ' कहते हुए साँस छोड़नी चाहिए और पाँच बार 'ॐ' कहने तक की दूसरी साँस नहीं लेनी चाहिए। साँस भरने और साँस छोड़ने पर अन्दर या बाहर रोकने की मात्रा भरने और छोड़ने की मात्रा की आधी होनी चाहिए।

यह क्रिया पाँच-दश बार कर चुकने के अनन्तर साँस भरते हुए ऐसी भावना करनी चाहिए कि रुधिर संचार के साथ ही साथ मेरा सूर्य चक्र स्थित प्राण-प्रवाह रोग पीड़ित स्थान की ओर से दौड़ रहा है। साँस को अंदर रोके-रोके फिर-फिर भावना द्वारा प्राण को पीड़ित अंग की ओर प्रवाहित होने का मानस चित्र खींचिये। ऐसा तव तक करना चाहिए जब तक आप साँस को आसानी से रोक सकते हैं तत्पश्चात् धीरे-धीरे श्वास को बाहर निकालिये और भावना कीजिए कि निश्वास के साथ सब दोष-विकार और सूजन या दर्द भाप बनकर उड़े जा रहे हैं, साँस को बाहर रोक कर पुनः मन ही मन कहिये कि प्राण शक्ति पाकर मेरा वह अंग स्वस्थ और सबल हो गया है।

कब्ज निवारण के लिए

कब्ज निवृत्ति के लिए प्लावनी कुम्भक का प्रभाव श्रेष्ठ रहता है। पुराने से पुराने कब्ज में भी आशातीत लाभ होते देखा गया है। विधि इस प्रकार है—

स्थिरासन में बैठें। दोनों नासिकाओं से समान रूप से धीरे-धीरे पेट में श्वास इतना भीतर खींचे कि वह मसक की तरह फूल कर बिलकुल तन जाय। जब ऐसा अनुभव होने लगे कि पेट वायु से पूरा भर गया है तो श्वास को यथाशक्ति रोकें। फिर दोनों नासिकाओं से धीरे-धीरे श्वास को बाहर निकालें यह एक प्राणायाम हुआ। सुविधा से जितनी बार किया जा सके इसे करना चाहिए।

दक्षिण रेचक प्राणायाम से भी यह कब्ज दूर होता है।

उदर रोगों के विनाश के लिए

पेट के समस्त दोषों के निवारण के लिए मध्य रेचक-प्राणायाम को श्रेष्ठ माना गया है। विधि इस प्रकार है—

स्वस्तिक आसन से बैठें। उत्कट आसन से भी इसे किया जा सकता है। इसमें श्वास भरने के वजाय पेट में विद्यमान स्वाभाविक वायु को बाहर निकालना होता है। इस रेचक क्रिया के साथ उड्डियान-बन्ध लगाना चाहिए और आँतों को इस तरह से उठाए कि वह वेलन अथवा दण्ड की तरह आकार धारण कर लें। दोनों हाथ दोनों घुटनों पर रहें। उदर के दोनों भागों को दबाते हुए बाह्य कुम्भक करें अर्थात् पेट की वायु को बाहर निकाला गया था उसे वहीं रोक लें। इसे यथा शक्ति करके प्राण-वायु को धीरे-धीरे दौड़ाना चाहिए। इसका अभ्यास शनैः शनैः बढ़ाना चाहिए।

इस प्राणायाम से आँतें निश्चय रूप से प्रभावित होती हैं। अतः उनके विकारों का दूर होना स्वाभाविक है। आँतों के पुष्ट होने से कब्ज का निवारण होता है। तिल्ली व जिगर के दोष नष्ट होते हैं।

खट्टे डकारों के लिए

खट्टे डकारों को दूर करने के लिए चन्द्र-भेदी प्राणायाम करना चाहिए। बाँयीं नासिका में चन्द्र नाड़ी का स्थान है। इस ओर से पूरक करने से इसका यह नाम पड़ा। विधि इस प्रकार है—

दाँयीं नासिका को दायें हाथ के अंगूठे से बन्द करें। उच्च शब्द करते हुए बाँयीं नासिका से श्वास भीतर खींचे। यथा शक्ति उसे रोकें और फिर दाँयीं नासिका से धीरे-धीरे बाहर निकाल दें। यह एक प्राणायाम हुआ। सुविधा पूर्वक इसका अभ्यास करते रहें।

स्थूल उदर तथा शरीर को पतला करने के लिए

भस्त्रिका प्राणायाम के विधिवत् अभ्यास से शरीर की स्थूलता कम हो जाती है और पेट पचक जाता है। परन्तु इसके अभ्यास में कुछ सावधान रहने की आवश्यकता है अन्यथा हानि होने की सम्भावना रहती है। जिन साधकों ने असावधानी बरती है उन्हें थूक या खँखार में खून आते देखा गया है, दमा और खाँसी की शिकायत हो सकती है। साधक को दूध व घी की व्यवस्था करनी चाहिए। यह प्राणायाम अनुभवी गुरु की देख-रेख में ही करना चाहिए। कमजोर व्यक्ति को इसका अधिक वेग से अभ्यास नहीं करना चाहिये अन्यथा सिर में चक्कर देने का भय रहता है। इसकी विधि इस प्रकार है—

आसन पर बैठ कर बाँयें हाथ को बायें घुटनों पर रखें और दाँयें हाथ की अनामिका व मध्यमा अँगुलियों से बाँयीं नासिका को बन्द करें। कोहनी को सीधा कर लें और इतना उठा लें कि कन्धे के समान हो जाय। अब दाँयीं नासिका से वेग पूर्वक साँस बाहर फेंके। इसके बाद साँस भीतर खींचकर भीतर रोकें। सुविधा से जितना रोका जा सके उतना रोके, अब दाँयें हाथ के अंगूठे से दाँयीं नासिका को बन्द करके बाँयीं नासिका से रोकी हुई साँस बाहर निकाल दें। इसी तरह अनामिका व मध्यमा से दाँयीं नासिका से वेग पूर्वक साँस भीतर खींच लेना चाहिए व बाहर फेंकना चाहिए। यह भी कम से कम १० बार होना चाहिए। फिर अन्त में साँस भीतर खींचकर यथा शक्ति रोकें और दाँयें हाथ के अंगूठे से बाँयीं नासिका को बन्द करके दाँयीं से साँस निकाल दें। यह एक प्राणायाम हुआ। इस प्रकार से तीन प्राणायाम नित्य करना चाहिए। धीरे-धीरे इसे बढ़ाना चाहिए और आहार के सम्बन्ध में विशेष सावधान रहना चाहिये।

अग्नि प्रसारण प्राणायाम, वाम-रेचक प्राणायाम और कमनीय-कुम्भक प्राणायाम से भी शरीर की स्थूलता कम की जा सकती है।

रक्तचाप शमन प्राणायाम

उच्च रक्तचाप (हाई-ब्लडप्रेशर) के शमन के लिए

रक्तचाप के शमन के लिए शीतली कुम्भक प्राणायाम श्रेष्ठ माना गया है। कफ प्रकृति वाले व्यक्तियों को इसे नहीं करना चाहिए। इसका अभ्यास गर्मी के मौसम में करना चाहिए। विधि इस प्रकार है—

सुखासन से बैठें। दोनों घुटनों पर दोनों हाथ रखें। जिह्वा को इस तरह मोड़ें कि उसके दोनों किनारे उठे हुए से हों। योग भाषा में इसे कौए की चोंच की तरह बनायें, दोनों किनारे ऊपर उठने के बीच का स्थान पोली नलकी का रूप धारण कर लेता है। इसी मार्ग से श्वास को धीरे-धीरे भीतर खींचना चाहिए। सुविधानुसार पूरी वायु भर कर उसे यथा शक्ति बाहर रोकें। अभ्यास काल में यदि घबराहट अनुभव हो तो दोनों नासिकाओं से स्वाँस बाहर निकाल देनी चाहिए। इसी तरह से इसकी पुनरावृत्ति करें। इसका अभ्यास धीरे-धीरे ही हो पायगा यह उत्तम कोटि का प्राणायाम है। घेरण्ड संहिता में अनेकों लाभ वर्णन किये हैं जिनमें पित्त-विकारों, कफ-रोगों और अजीर्ण प्रमुख हैं।

हृदय की धड़कन के लिए

हृदय की वढ़ी हुई धड़कन वक्षस्थल रेचक प्राणायाम से कम होती है। इसकी विधि इस प्रकार है—

सुखासन से बैठें। दोनों नासिकाओं से श्वास भीतर खींचे। फिर उसे धीरे-धीरे बाहर निकालें। श्वास के पूरा बाहर निकलने पर वहीं रोक लें। योग की भाषा में इसे बाह्य कुम्भक कहते हैं। अब दोनों हाथों को कन्धों पर इस तरह रखें कि कोहनियाँ ऊँची उठी हुई दृष्टिगोचर हों। इसके बाद छाती को थोड़ा-थोड़ा ढीला करने का प्रयत्न करें ताकि वह संकुचित हो जाय और कन्धों को आगे की ओर बढ़ाएँ। श्वास को सुविधापूर्वक जितना रोका जा सके उतना रोकें, फिर धीरे-धीरे छोड़ दें। यह एक वक्षस्थल रेचक प्राणायाम हुआ। अभ्यास बढ़ाकर अधिक बार करने का प्रयत्न करना चाहिए।

कफ दोषों के निवारण के लिए

फेफड़े की शुद्धि और कफ दोनों के निवारण के लिए कपालभाति प्राणायाम की प्रेरणा योग-शास्त्रों में दी गई है। इसकी दो प्रकार की विधियों का वर्णन मिलता है।

घेरण्ड संहिता (उप० १/५७) की विधि इस प्रकार है :—बाँयीं नासिका से धीरे-धीरे श्वास खींचे और दाँयीं नासिका से उसे धीरे-धीरे निकालें। फिर दायीं नासिका से श्वास खींचकर बाँयीं से निकालें।

हठयोग प्रदीपिका (२।३५) में इस प्राणायाम की विधि का वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

सिद्धासन से वैठें। दोनों नासिकाओं से श्वास के छोड़ने और भरने का क्रम इतनी तीव्र गति से चलना चाहिए जिस प्रकार लोहार की धौंकनी चलती है। इसका अभ्यास यथा शक्ति बढ़ाना चाहिए। इन विधियों का परिणाम एक-सा होता है। इनमें से कोई भी किया जा सकता है।

जुकाम के नाश व सुरक्षा के लिए

जुकाम के लिए अनुलोम विलोम प्राणायाम करने का विधान है। विधि इस प्रकार है :—

पद्मासन से वैठें। समकाय होकर दाँयीं नासिका को बन्द करके बाँयीं नासिका से तीव्र गति से प्रश्वास को बाहर निकालें, रेचक करें। फिर उसी गति से श्वास को भीतर खींचे। अब बाँयीं नासिका को बन्द करके दाँयीं से तीव्र गति से प्रश्वास वाहर निकालें और फिर इधर से ही श्वास भीतर खींचें। इस तरह से दाँयें-बाँयें बदल कर कम-से-कम २० प्राणायाम नित्य करने चाहिए तभी पूरा लाभ प्राप्त हो सकता है। एकदम २० नहीं करने चाहिए। यह अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए।

कण्ठ रोगों को दूर करने के लिए

कण्ठ की नाड़ियों को शक्तिशाली बनाने व कण्ठ और गले के रोगों के विनाश के लिए चतुर्मुखी प्राणायाम की प्रेरणा योग शास्त्रों ने दी है। चतुर्मुखी प्राणायाम का अभिप्राय है, बायें-दायें नीचे और ऊपर की ओर मुख करके बिना कुम्भक किये रेचक पूरक करना चाहिए। १५ बार इसे नित्य ही करना चाहिए। अभ्यास बढ़ जाने पर इसे और अधिक करना चाहिए। विधि इस प्रकार है—सुखासन पर बैठे। पहले मुख को बाँयें कन्धे की ओर मोड़ें। दोनों नासिकाओं से जल्दी-जल्दी शब्द करते हुए श्वास खींचें और दौड़ें, श्वास भीतर खींचकर रोके नहीं, प्रश्वास छोड़ते समय अभ्यास इस प्रकार से करना चाहिए कि अँगूठे से दबाये बिना ही बाँयीं नासिका से प्रश्वास बाहर निकाला जाये। मुख को दाँयीं ओर

मोड़कर यही क्रम चलाना चाहिए। केवल अन्तर इतना है कि विना अँगूठा लगाये प्रश्वास दाँथीं नासिका से बाहर निकालना चाहिए। इसी तरह से क्रमशः मुख को पृथ्वी और आकाश की ओर करके, उच्च शब्द करते हुए पूरक, रेचक करना चाहिये। यह एक प्राणायाम हुआ। यथाशक्ति इसका अभ्यास बढ़ाते रहें।

प्राणायाम के असाधारण प्रयोग

प्राणायाम फेफड़े का ही व्यायाम नहीं है। इसके द्वारा श्वसन संस्थान ही नीरोग नहीं बनता, प्रत्युत इसके द्वारा अपने मन को भी सरलता से वश में किया जा सकता है। अपनी मानसिक उलझनों को, मानसिक निर्बलताओं को भी सहज में दूर किया जा सकता है। प्राणायाम के द्वारा सन्तापकारी दुर्व्यसनों को, बुरी आदतों को, जिन्हें सामान्यतया छोड़ना बड़ा दुष्कर प्रतीत होता है, आसानी से अपेक्षाकृत कम समय में दूर किया जा सकता है, सद्गुणों की वृद्धि की जा सकती है, आत्मबल बढ़ाया जा सकता है, एकाग्रता को दृढ़ किया जा सकता है।

प्राणायाम की सहायता से अपने आप में शुद्ध प्राण का भण्डार इकट्ठा करके उससे दूसरों का बहुविधि उपकार किया जा सकता है, दूसरों की मन में बैठी हुई भ्रांतियों और दुर्भावनाओं को मिटाया जा सकता है। उनके अन्दर सद्भाव और सदाचार की भावनाओं का प्रत्यारोपण किया जा सकता है। प्राणायाम के द्वारा दूरस्थ व्यक्ति को सन्देश भी भेजे जा सकते हैं। ब्रह्मचर्य-रक्षण का तो यह सर्वोत्तम साधन है।

प्राणायाम के द्वारा अपने बच्चे को जो दुस्संग, दुरभ्यास या दुःसंस्कार के कारण अत्यन्त उच्छृंखल हो गया है, आप का कहना नहीं मानता, माता और छोटे भाई बहिनों को खूब परेशान करता, सिगरेट-बोड़ी आदि दुर्व्यसनों का शिकार हो गया है, अल्पसमय में सुधारा जा सकता है।

प्राणायाम के द्वारा स्त्री अपने पति को सदाचारी प्रकृति वाला बना सकती है, उसी प्रकार पति भी अपनी स्त्री को बिना मारे-पिटे विदुषी एवं सदाचारिणी बना सकता है। डॉ० दुर्गा शंकर नागर ने एक स्त्री को इसी प्रकार प्राणायाम के द्वारा ऐसा ही योग सिखाया था, जिसके द्वारा उसने अपने शरावी, जुआड़ी, चोर और वेश्यागामी पति को साधु-व्यवहारी और परोपकारी बनाकर अपने गृहस्थ जीवन को आनन्दमय बना दिया था।

प्राणायाम के द्वारा मांनसिक थकान, अवसाद भाव को दूर कर ही सकते हैं, मस्तिष्क को तरोताजा बना सकते हैं। विविध प्रकार की समस्याओं के समाधान हेतु सुबोध हल ढूँढ़ने की दिशा में भी प्राणायाम के योगों से अप्रत्याशित सहायता ली जा सकती है, बुद्धि को सबल और सूक्ष्मग्राही बनाने के लिए, हृदय को सुबुद्ध करने के लिए प्राणायाम किया जा सकता है। आज 'हार्टफेल' के वृत्तों (खबरों) की संख्या नित्य प्रति बढ़ रही है। पागलपन, हिस्टीरिया, मिर्गी, स्नायु दौर्बल्य, मनोविभ्रम प्रभृति मानसिक रोग भी बढ़ते जा रहे हैं।

उपर्युक्त समस्याओं के समाधान के लिए प्राणायाम के प्रयोग हम यत्र-तत्र दे ही चुके हैं। यहाँ तो हम कुछ ऐसे प्रयोग देना चाहते हैं जिन्हें चमत्कार की संज्ञा दी जा सकती है। जो साधक इन प्रयोगों का सफल साधन कर लेते हैं, उन्हें सिद्ध पुरुष कहने लगते हैं। सूर्य-चक्र का साधन जागरण अतुल शारीरिक सामर्थ्य प्राप्त करके, लोगों को आश्चर्य चकित करना, भूख-प्यास पर विजय प्राप्त करके अनिश्चित समय के लिए बिना खाये-पीये निर्जन पर्वतीय गुफाओं में रहकर साधना करना, शीत-ऋतु में भी पर्वतों पर बिना वस्त्र पहने रहकर साधनारत रहना, सन्देश-प्रेषण और परकाया प्रवेश जैसे असाधारण प्रयोग हम यहाँ में दे रहे हैं।

१. प्राणायाम से सूर्य चक्र का जागरण

प्राणायाम का प्रभाव सूर्य चक्र पर भी पड़ता है। योग शास्त्रों में वर्णित षट्चक्रों में सूर्य चक्र का विशिष्ट मूल्यांकन किया जाता है। इसकी महत्त्वपूर्ण क्रियाओं का अवलोकन करने वालों ने इसे 'पेट का मस्तिष्क' नाम ही दे डाला, जो इसके गुणों के आधार पर अत्यन्त सार्थक है, क्योंकि इस क्षेत्र की सूक्ष्म गतिविधियों का यह केन्द्र-बिन्दु है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने भी इस चमत्कारिक ग्रन्थि को सूक्ष्म व शक्तिशाली नाड़ियों का केन्द्र स्वीकार किया है और ठोस तथ्यों के आधार पर यह घोषित किया है कि शरीर की समस्त गतिविधियाँ इसी केन्द्र से संचालित व नियन्त्रित होती हैं। आन्तरिक क्रियाओं पर इस चक्र का पूरा अधिकार है। वास्तविकता यह है कि आन्तरिक अंगों का विकास और उत्थान इसी पर निर्भर करता है; योग शास्त्र के अनुसार यह प्राण कोष है। इससे निकलने वाली विद्युत ही समस्त नाड़ियों में प्रवाहित होती है। चूँकि यह स्थान ओज शक्ति का भण्डार है।

सूर्य चक्र को अंग्रेजी में 'सोलर-प्लेक्सस' कहते हैं। योगाचार्यों के अनुसार इसका स्थान आमाशय के ऊपर हृदय की धुकधुकी के पीछे मेरुदण्ड के दोनों ओर है।

साधारण रीति से सूर्य-चक्र निष्क्रिय सुप्त अवस्था में रहता है परन्तु जब प्राणायाम किया जाता है तो फेफड़े फैलते हैं और फेफड़े का फैलाव सूर्य चक्र की परिधि तक पहुँचता है, उसे छूता है। बार-बार के स्पर्श से सूर्य-चक्र की हल्की सी मालिश हो जाती है, शरीर के साधारण मालिश का सहज परिणाम, अङ्गों में गर्मी, स्फूर्ति, सक्रियता व उत्तेजना होती है। इसी प्रकार के प्राणायाम द्वारा सूर्य-चक्र की स्पर्शात्मक मालिश से इसकी सुप्त शक्तियों का जागरण होने लगता है। यह जागरण चक्र से सम्बन्धित समस्त सूक्ष्म तन्तुओं में शक्ति प्रदान करता है। यह शक्ति शारीरिक व मानसिक उत्थान के रूप में दृष्टिगोचर होती है। यूँ कहना चाहिए कि इनके विकास का एक नया दौर आरम्भ होता है।

सूर्य-चक्र शक्ति का भण्डार है जब तक वह क्रियाशील बना रहता है उससे शक्ति का स्फुरण बना रहता है और साधक चमत्कारों का केन्द्र बन जाता है, वह असाधारण कार्यों के सम्पादन करने की सामर्थ्य वाला बन जाता है तभी लोग उसे सिद्ध कहने लगते हैं। यदि वह इस विकसित शब्दकोष को अपने आत्मिक उत्कर्ष में लगाए तो वह अल्प काल में ही उच्चतम स्थिति को पहुँच सकता है। उसकी उन्नति के सभी मार्ग खुल जाते हैं। यदि वह सिद्धियों के प्रदर्शन में अपनी शक्ति व्यय करेगा तो उसका पतन हो जायेगा और आत्मिक विकास रुक जायेगा।

सूर्य चक्र में एक शक्तिशाली केन्द्र है। इसकी सक्रियता से मानव असाधारण शक्तियों का स्वामी बन जाता है जिन्हें योग की भाषा में सिद्ध की संज्ञा दी जाती है। इसकी शक्तियों के विकास का एक और रहस्य भी है—अण्ड और पिण्ड का सिद्धान्त। जिस तरह से शरीर में सूर्य की शक्ति का निवास रहता है उसी तरह से ब्रह्माण्ड में भी सूर्य का तेजस्वी चक्र पिण्ड दृष्टिगोचर होता है। उसकी विशालता, तेजस्विता व शक्तियों की कोई सीमा नहीं है। कोई भी वैज्ञानिक व गणितज्ञ का उसका अनुमान लगाने में असमर्थ रहेगा। योगदर्शनकार ने अपने अनुभव के आधार पर घोषित किया कि 'सूर्य में संयम करने से समस्त भुवनों का ज्ञान होता है।' सूर्य की ज्योति में संयम करने से सिद्धों का दर्शन होता है। इसका

अभिप्राय असाधारण शक्तियों के विकास से ही है। इस प्रक्रिया से असम्भव कार्यों को भी सम्भव बनाया जा सकता है।

सूर्य-चक्र का भेदन प्राणायाम से होता है। अतः सूर्य की शक्तियों को आकर्षित करने का श्रेय भी प्राणायाम को ही है। यही कारण है कि प्राणायाम से कभी-कभी ऐसे चमत्कारी लाभ होते देखे गये हैं जिन पर सहज विश्वास नहीं होता परन्तु वास्तव में उसके मूल में वैज्ञानिक रहस्य छिपे रहते हैं। प्राणायाम भी एक ऐसा चमत्कारी प्रयोग है जिसके सहयोग से मानव सूर्य-चक्र जागरण करके चहुमुखो उन्नति के द्वार खोल लेता है।

जिस प्रकार से सेल के रूप में विद्युत छोटी सी पेटिका में एकत्र किया जाता है और आवश्यकतानुसार उसका उपयोग करके अन्धेरे में उससे रास्ता देखा जा सकता है। अथवा रेडियो बजा कर दूर-दूर का समाचार सुना जा सकता है उसी प्रकार अपने नाभि प्रदेश में स्थित सूर्य-चक्र भी उसे इकट्ठा करके आवश्यकतानुसार उसका उपयोग करके अपना अथवा दूरस्थ अपने सम्बन्धी का हम बड़ा उपकार कर सकते हैं। नीचे हम प्राण तत्त्व को जो चैतन्य विद्युत है, अत्यन्त सूक्ष्म और अगोचर है, वायु के महासागर की नाईं आस-पास अन्दर बाहर चारों ओर लहलहा रहा है, अपने अन्दर संचित करने की अत्यन्त सरल विधि दे रहे हैं।

रमणीय एकान्त स्थान में अथवा खुली छत पर नरम बिछौना बिछाकर पीठ के बल लेट जायें। मुँह ऊपर को रहे। पैर, कमर, छाती, सिर सब सीध में रहें। दोनों हाथ नाभि के पास उस स्थान पर रखें जहाँ पसलियाँ और पेट परस्पर मिलते हैं। यही सूर्य-चक्र है जिसमें प्राण एकत्र किया जाता है। लेटे-लेटे यह भावना करे कि मेरा अंग-अंग शिथिल हो रहा है। अब धीरे-धीरे नाक द्वारा साँस खींचना आरम्भ करें और दृढ़ शक्ति के साथ भावना करें कि मैं विश्वव्यापी प्राण भण्डार में से स्वच्छ प्राण साँस के साथ खींच रहा हूँ और वह प्राण रक्त प्रवाह के साथ समस्त नाड़ी तन्तुओं में प्रचलित होता हुआ सूर्य-चक्र में इकट्ठा हो रहा है। इस भावना को कल्पनात्मक चित्र के द्वारा इतनी दृढ़ता के साथ मनः चक्षु के सामने उतारें कि प्राण शक्ति की बिजली जैसी तेज किरणें नासिका के द्वारा देह में घुसती हुई स्पष्ट प्रतीत होने लगे। रुधिर का फुदक-फुदक कर नस-नस में दौड़ना और उसमें प्राण प्रवाह का बहना स्पष्ट नजर आने

लगे, भावना की जितनी प्रबलता होगी, उतनी ही अधिक मात्रा में हम प्राण अपने में खींच सकेंगे।

इस प्रकार भावनाओं के प्रवेग के साथ अधिक से अधिक जितनी प्राणवायु अपने फेफड़े में भर सकते हैं उतनी भर लेने के बाद उसे दस सेकेन्ड अन्दर ही रोकें। साँस रोके रहने के समय अपने अन्दर प्रचुर परिणाम में प्राण भरा हुआ अनुभव करना चाहिए।

इसके बाद मुँह खोलकर धीरे-धीरे वायु को बाहर निकालें साथ ही ऐसा अनुभव करें कि शरीर के सारे दोष और विष पदार्थ विजातीय तत्त्व निःश्वास के द्वारा मैं बाहर निकाल रहा हूँ। इस प्रकार उदरस्थ समस्त वायु को निकाल कर पाँच सेकेन्ड तक बिना साँस लिए रहें। फिर पूर्व-वत् यही प्राणायाम करें।

वह प्राणायाम के भाव भरे हृदय से कम से कम दस मिनट तक करना चाहिये। धीरे-धीरे इसे आधा घण्टे तक बढ़ाया जा सकता है। यदि ठीक प्रकार से इस क्रिया को करेंगे, तो सूर्य चक्र के स्थान पर एक छोटा सा प्रकाश-बिन्दु मानस नेत्र के समक्ष स्पष्ट दिखाई देने लगेगा। ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़ता जायगा, त्यों-त्यों यह प्रकाश-बिन्दु अधिकाधिक उज्ज्वल और स्पष्ट ही नहीं होता जायगा प्रत्युत क्रम-क्रम से सघन होता हुआ भी प्रतीत होगा।

२. तनाव नाशक योग

जब अभ्यास करें तो पाँच सात बार बैठकर यह प्राणायाम अवश्य करें। पालथी मार कर बैठ जाएँ और लम्बी साँस लें। हवा को पाँच-सात सेकेण्ड रोककर सीटी बजाने के समान होठों को सिकोड़ कर बिना गालों को फूलने देकर धीरे-धीरे दो तीन बार अन्दर की वायु को मुँह से निकाल दें। जब होठों के रास्ते सब हवा निकल जाये तो पुनः पुनः पूरी साँस भर-भर कर यही क्रिया करें। ऐसा करने से, श्वसन-क्रिया से अवयवों की थकान दूर हो जायगी, तरो-ताजगी आ जायगी।

३. अतुल शारीरिक सामर्थ्य

प्राणायाम से अतुल शारीरिक सामर्थ्य की वृद्धि होती है, योग शास्त्र का प्रमाण है—

प्राणायामात् पुष्टगात्रस्य बुद्धितेजो यशोबलम्।
प्रवर्धन्ते मनुष्यस्य तस्मात् प्राणायाममाचरेत्॥

प्राणायाम से शरीर पुष्ट होता है, बुद्धि तेज, यश व बल बढ़ते हैं। अतः साधक को चाहिए कि इन लाभों की प्राप्ति के लिए प्राणायाम का उपयोग करें।

प्राणायाम से शरीर के आन्तरिक अवयवों में वायु भर जाती है जिससे छाती विशाल तथा कठोर हो जाती है। मोटर व बाइसिकिल के पहिए में जब हवा भर दी जाती है तो उसमें कई व्यक्तियों के बोझ के भार उठाने या भार सहने का सामर्थ्य हो जाता है। इसी तरह प्राणायाम से वक्ष-स्थल में अद्‌भुत शक्तियों का विकास होता है। अभ्यास करने पर उसकी छाती पर हाथी जैसा विशालकाय और भारी भरकम जीव चढ़ जाये तो भी उसे कोई विशेष भार का अनुभव नहीं होता। प्रो० राममूर्ति इस तथ्य के उज्ज्वल प्रमाण थे। वे इस प्रकार के अनेकों प्रदर्शन किया करते थे। लोहे की जंजीरों को देखते-देखते तोड़ देना, वक्षस्थल पर भारी पत्थर रखवा कर उन्हें हथौड़ों से तुड़वाना, मोटर की गति को रोकना, छाती पर तख्ते रखकर उस पर से हाथी को चढ़ा कर निकाल देना आदि उनके लिए सहज व सरल क्रियायें थीं। वे उसका श्रेय ब्रह्मचर्य का पालन व प्राणायाम के अभ्यास को ही देते थे। आभ्यन्तर कुम्भक से उन्होंने सिद्धि प्राप्त की थी।

प्रो० राममूर्ति की परंपरा के प्रख्यात योगी मीरजापुर निवासी प्रो० राजवली मिश्र ने स्वर योग के बल पर अनेक आश्चर्य जनक प्रदर्शन कर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की है। सीने पर सड़क कूटने वाला रोलर चढ़ाना, गले में फाँसी लगाकर चार कारों को रोकना, हाथी को रस्से के सहारे रोकना, भार-लदे ट्रक को सीने पर से पार करना ही नहीं, बल्कि रेल का इंजन तक रोक देना आपके लिये सहज बात है। ६० वर्ष की अवस्था में आपने सागर से हिमालय तक की यात्रा करने वाले एडमण्ड हिलारी की २०० हार्स पावर की नौका को रोक दिया। जापान, रूस आदि अनेक देशों में आपने नाड़ी तथा हृदय की गति को रोककर लोगों को चकित कर दिया।

निम्न प्रकार के प्राणायामों से शारीरिक सामर्थ्य को विकसित किया जा सकता है—

(क) एकांग-स्तम्भ-प्राणायाम

इसका अभ्यास करने से शरीर का प्रत्येक अंग-पुष्ट, शक्तिशाली व सुडौल बनता जाता है। इससे शक्ति का यहाँ तक विकास हो जाता है

कि यदि वह योगी मोटर, घोड़ा, बैल आदि को रोक ले तो वह अपने स्थान से हिल तक नहीं सकते। शरीर में अपार स्फूर्ति व तेज की वृद्धि होती है। इस प्राणायाम की सिद्धि होने पर बाहों, टाँगों में इतनी शक्ति आ जाती है कि कई शक्तिशाली पुरुष भी मिलकर भी उन्हें मोड़ने की शक्ति नहीं रखते। शक्ति को चमत्कार रूप में वृद्धि ही इस प्राणायाम की विशेषता है।

इसे खड़े होकर या लेट कर किसी भी तरह से किया जा सकता है। दोनों नासिकाओं से श्वास धीरे-धीरे भीतर भरे, प्रयत्न यह हो कि उसे शरीर के प्रत्येक अंग में भरे। हाथ, पाँव, बाहुँ, जाँघ, गले सभी में श्वास भरने का अभ्यास करना चाहिए। वायु भरने के साथ यह सुदृढ़ भावना करे कि यह वायु जहाँ-जहाँ प्रविष्ट होती जा रही है, वहाँ वहाँ आशक्ति का अभाव होकर शक्ति का जागरण हो रहा है। वायु का भरना तब तक चलता रहना चाहिए जब तक उन अंगों में इतनी सामर्थ्य न आ जाय कि कई व्यक्ति मिलकर भी उन अंगों को मोड़ न सकें। इस प्राणायाम की सिद्धि अभ्यास पर निर्भर करती है, जो एक अनुभवी गुरु की देख-रेख में करना चाहिए।

(ख) नाड़ी-अवरोध-प्राणायाम

इसके पीछे लम्बे अभ्यास से प्राणों पर इतना अधिक दबाव हो जाता है कि प्राणों के इच्छानुसार किसी भी अंग में प्रवाहित किया जा सकता है। इससे वह अंग इतनी शक्ति सम्पन्न हो जाता है कि उसी से अद्भुत कार्य किये जा सकते हैं, जिसे साधारण व्यक्ति चमत्कार की संज्ञा देते हैं।

इसे खड़े होकर अथवा बैठकर दोनों तरह से किया जा सकता है। बैठकर करना हो, तो पद्मासन में स्थित होकर दाँयीं नासिका को बन्द करें और बाँयीं नासिका से प्राण वायु को भीतर खींचें, यहाँ तक कि वह मूलाधार तक पहुँच जाय, दोनों हाथों को मुट्ठियों की तरह बाँध लें और दोनों घुटनों पर रख लें। साधक की संकल्प शक्ति इस प्रकार विकसित होनी चाहिए कि यह भीतर भरी प्राण वायु को किसी ओर भी सुविधा से प्रवाहित कर सके। यह अभ्यास होने पर ही इस प्राणायाम में सिद्धि प्राप्त करना सम्भव है।

मूलाधार-चक्र प्राण वायु को भरने के बाद उसे छाती की ओर फिर दाँयें बाहु की ओर प्रवाहित करने का प्रयत्न करें। यह अभ्यास तब तक चलता रहना चाहिए जब तक कि बाहु फूल न जाय, उसमें कड़ापन न आ जाय और नाड़ी में स्तब्धता न आने लगे। इसके बाद भीतर खींची हुई प्राण वायु को रोकें और नाड़ी को पूरी तरह से स्तब्ध करने की चेष्टा करें। जब तक पूर्ण सफलता प्राप्त न हो जाय, यह अभ्यास का क्रम चलता रहना चाहिए। इसमें दीर्घकालीन प्रयत्न की अपेक्षा है, शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त करने की आशा नहीं करनी चाहिए। इसकी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि साधक प्राण-वायु को पूरी तरह से बाहु में भरने की विधि व्यवस्था जान गया या नहीं। इस विधि का क्रम जब सुविधा से होने लगता है, तो रक्त संचार रुक जाता है, जिससे कई बार बाहु काला अथवा नीला हो जाता है। इस स्थिति में पहुँचने पर नाड़ी की स्तब्धता भरने लगती है। यही इस प्राणायाम की अंतिम सीढ़ी है। यहाँ पहुँचने पर इसके सभी लाभों से लाभान्वित हुआ जा सकता है।

शारीरिक सामर्थ्य बढ़ाने के यहाँ दो प्रयोग ही दिये हैं। यही लाभ सहित कुम्भक, सर्वाङ्ग-स्तम्भ-प्राणायाम, वायवीय-कुम्भक-प्राणायाम, हृदय-स्तम्भक-प्राणायाम, भस्त्रिका प्राणायाम तभी प्राप्त किये जा सकते हैं।

४. भूख-प्यास पर विजय प्राप्त करने के लिए

प्राचीन काल में ऋषि-मुनि वनों में रहकर भूख-प्यास पर विजय प्राप्त करने के लिए कण्ठ-वात-उदर पूरक-प्राणायाम द्वारा वायु पान क्रिया करते थे, जिससे अन्न-जल ग्रहण की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती थी और शारीरिक स्वास्थ्य को स्थिर रखते हुए वह दीर्घ कालीन साधनाओं में संलग्न रहते थे। बिना अनुभवी पथप्रदर्शक के इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए। हानि की सम्भावना हो सकती है, विधि इस प्रकार है :—

सिंहासन पर बैठें। दोनों हाथ घुटनों पर रहें। इस क्रिया में मुख तो बन्द रहता है, परन्तु कण्ठ और मुख से उच्च शब्द करते हुए वायु को उत्पन्न करके उसी का घूँट-घूँट भर पान करना होता है। नासिका तो बन्द नहीं की जा सकती है परन्तु वायु की उत्पत्ति कण्ठ और मुख से होना चाहिए। इस क्रिया की पुनरावृत्ति से पेट में वायु बढ़ती रहती है। प्रारम्भ में तो पेट में पूरी वायु भरना सम्भव नहीं होगा। कुछ दिनों के

सफल अभ्यास से इसकी आशा की जा सकती है। अभ्यास धीरे-धीरे ही बढ़ाना चाहिए। जब पेट में पूरी वायु भर जाय तो वह इतना फूल जाता है मानो साधक को अफरा रोग हो गया हो। योगियों का कहना है कि आधे घण्टे के सफल अभ्यास से यह स्थिति आ जाती है। इसकी निवृत्ति के लिए 'मयूरासन' और 'शीर्षासन' करना होगा। 'मयूरासन' व 'सर्वाङ्गासन' से भी यही लाभ प्राप्त होगा। जिन योगियों ने इसका अभ्यास किया है, उनका कहना है कि पहले जैसी स्थिति लाने के लिए कम से कम एक घण्टे का समय चाहिये। इस प्राणायाम को स्वयं नहीं करना चाहिए। अनुभवी गुरु की देख-रेख में करें।

५. शीत निवारण व संरक्षण के लिए

शीत निवारण व संरक्षण के लिए अग्नि-प्रदीप्त प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। प्राचीन काल के योगी इसी प्राणायाम के अभ्यास से पर्वतीय स्थानों में भी बिना वस्त्र के रहकर साधना करने की क्षमता प्राप्त करते थे। इसकी विधि इस प्रकार है—

पद्मासन में बैठें। दाँयीं नासिका को दाँयें हाँथ के अँगूठे से बंद करके बाँयीं नासिका से श्वास भीतर खींचे और तब तक भरते रहें जब तक पूरी वायु भर न जाय। जब यह अनुभव हो जाय कि अब और वायु भरा जाना सम्भव नहीं, तभी वायु भरने की क्रिया छोड़ी जाय। अब भरे हुए वायु को रोके रहें। अन्य प्राणायामों में तो यह विधान दिया जाता है कि श्वास को यथाशक्ति ही रोकना चाहिए परन्तु इस प्राणायाम में श्वास को बल पूर्वक रोकने का आदेश है। इसे इतना रोका जाय कि वक्षस्थल और मुँह लाल हों जायें। यह क्रिया करते हुए जब कभी घबराहट की अनुभूति हो तो श्वास को दूसरी नासिका से धीरे-धीरे निकाल देना चाहिए। श्वास रोकने की कुम्भक क्रिया का अभ्यास धीरे-धीरे ही बढ़ाना चाहिए अन्यथा हानि होने की सम्भावना हो सकती है।

इस प्राणायाम से शरीर में इतनी गर्मी आ जाती है कि शीत ऋतु में भी पसीना आ जाता है। यही इसकी सफलता का चिह्न है।

६. सन्देश प्रेषण

आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के परा मनोविज्ञान के स्नातकों को सन्देश-प्रेषण का प्रयोग (एक्सपेरीमेन्ट) कराया जाता है जिसमें मन को एकाग्र कर सरल वाक्यों की आवृत्ति एक छात्र करता है और कुछ दूरी पर स्थित

दूसरा छात्र एकाग्र चित्त होकर उसको ग्रहण करने का उपक्रम करता रहता है। दोनों एक समय एक दूसरे के अभिमुख होकर पर्याप्त दूरी पर बैठते हैं। सन्देश ग्रहण को उत्सुक छात्र तत्काल में अपने मनः क्षेत्र पर जिस स्फुरण का उदय देखता है। उसे कागज पर लिख लेता है बाद में दोनों अपने प्रयोगों की सफलता का मिलान करते हैं। इन प्रयोगों में वही छात्र अधिक सफलता पाते हैं जो अपने ध्यान को सुगमता से केन्द्रित कर लेते हैं और जिनका मानसिक संस्थान अधिक संवेदनशील या सूक्ष्म होता है। जिनकी भावना जितनी अधिक तीव्र नाशवान होती है वह उतनी ही सफलता का संदेश ग्रहण करते हैं। यह प्रयोग वहाँ इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए किया जाता है कि शब्द-तरंग रूप-तरंग के समान भावों की शून्य लहर भी होती है जो ईथर के माध्यम से अदृश्य रूप में भ्रमण करता है। इस विद्या को अंग्रेजी में टेलीपैथी कहते हैं।

टेलीपैथी का प्रथम आविष्कारक भारत

सन्देश-प्रेषण या टेलीपैथी का आविष्कार सर्वप्रथम भारत में हुआ था। रामायण के पाठक यह जानते हैं कि इसी विद्या के बल से लंकापति रावण ने पाताल स्थित अपने भाई अहिरावण को सन्देश भेज कर लङ्का बुलाया था। इस विद्या का उपयोग उस समय कितनी महनीय रही होगी, जिन दिनों टेलीफोन, टेलीग्राम अथवा डाक व्यवस्था नाम की कोई चीज नहीं थी। सब ओर घोर जंगल ही जंगल थे, यातायात के साधन भी अल्प थे। दुर्गम घाटी, दुर्गम पहाड़, बीहड़ नदियाँ, हिंसक पशुओं की बहुतायत और लोगों को दूर-दूर पर बसना। इस विषम स्थितियों में सामाजिक आवश्यकताओं के नाते परस्पर संलाप हेतु इस विद्या का आविष्कार करके भारतीय ऋषियों ने एक बड़ी कमी को पूरा किया था। आज भी भारतीय योगी अपने शिष्यों के अपेक्षित सन्देश इसी माध्यम से प्रेषित करते हैं। शक्तिपात का यही साधन है।

आज भी इसकी अतीव उपयोगिता है। आवागमन और संचार साधनों की विपुलता के आधुनिक युग में भी इस विद्या की अपनी उपयोगिता है। इसके द्वारा अपने विचारों को दूसरों के मन तक पहुँचा कर अपने प्रति बनी हुई उसकी धारणा को पूर्वग्रह (पक्षपात पूर्ण भावना) को प्रभावित और परिवर्तित किया जा सकता है, दूसरों की सहानुभूति, सहयोग और प्रेम को प्राप्त करके अपने सुखों की वृद्धि के लिए भी आज के युग में इसका बड़ा महत्त्व है। इसके द्वारा टूटे सम्बन्धों को जोड़ा जा सकता

है। मन में पड़ी हुई गाँठ, जटिल भावना ग्रन्थियों को मिटाना भी इससे सहज सम्भव है। परस्पर आत्मीयता को बढ़ाने में तो यह अनुपम है। प्रभाव की दृष्टि से यह अल्प समय साध्य है।

सच पूछें तो इस विद्या की सबसे बड़ी खूबी यही है कि यह अपने को तो प्राणवान, स्वस्थ और सद्भावो (उच्चाशय) बनाता, ग्रहण कर्ता या मध्य के प्रसुप्त कोषों को भी चैतन्य करके प्रमस्तिष्क को सबल करता है। सन्देश भेजने वाले और ग्रहण करने वाले दोनों को ही इसमें अपरिमित लाभ होते हैं।

भारतीय आविष्कार की श्रेष्ठता

ऊपर वर्णित आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के तथाकथित प्रयोग टेलीपैथी (विचार-संचरण) की सत्यता को प्रतिपादित भर करते हैं। उनका कार्य क्षेत्र और उनकी उपयोगिता अत्यन्त सीमित है, क्योंकि उसके प्रयोग की सफलता के लिए सन्देश भेजने वाले और ग्रहण करने वाले दोनों का अभिमुख होना, परस्पर सहमत होना और संवेदनशीलता भी समान होनी जरूरी है, प्रेषक और ग्राहक दोनों का परस्पर सहयोग करना आवश्यक है, किन्तु भारतीय विचार संचालन विद्या का टेलीपैथी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखती क्योंकि हम लोग विचार प्रेषण का कार्य सिर्फ एकाग्रता या ध्यान के वल पर ही नहीं करते। हम अपने प्रखर विचारों के साथ विचार भेजते हैं। इसके लिए ग्राहक को तत्पर या अभिमुख होना जरूरी नहीं है। उसकी अपेक्षा और सहयोग मिलने पर भी हम अपनी प्रबल शक्ति के द्वारा उसे अपने भावनाओं से प्रभावित कर सकते हैं। उसके चित्त को बरवश अपनी ओर आकृष्ट करके अपने समान ही उदार दृष्टिकोण वाला सहृदय और सुहृद् बना सकते हैं। इस तरह भारतीय विचार संचालन विद्या पाश्चात्य विज्ञान विशारदों को टेलीपैथी से बढ़कर है। प्रभाव क्षेत्र और उपयोगिता दोनों ही दृष्टि से हमारो क्रिया-पद्धति आज के युग में महत्वाकांक्षाओं के अनुकूल है।

इस विद्या का सदुपयोग आवश्यक है

तन्त्र ग्रन्थों में इस विज्ञान का वर्णन वशीकरण-विद्या के नाम से किया गया है। मध्यकाल में इसका बड़ा ही दुरुपयोग हुआ है फलतः व्यक्ति के साथ ही साथ समाज को बड़ी हानि उठानी पड़ी थी। इस विद्या का प्रयोग जब हीन प्रयोजन के लिये किया जाता है, तो व्यक्ति की प्राण-

शक्ति विपुल वेग से क्षीण होती है। प्रयोक्ता का मानसिक संस्थान विकृत हो जाता है और सुमति के अभाव में उसका दैनिक जीवन पहले की अपेक्षा कहीं अधिक समस्या-संकुल हो जाता है। प्राण-शक्ति का अपव्यय प्रकृति कभी सहन नहीं कर सकती। जो भी जाने-अनजाने दुरुपयोग करता है, उसको अपने पाप का उसी अनुपात में रोग, कलह, कष्ट, अपमान, असहयोग और अशक्ति के रूप में दण्ड भोगना पड़ता है, अतः किसी को हानि पहुँचाने या अपना स्वार्थ साधन करने के लिए किसी दूसरों को अपने सन्देशों से प्रवाहित करने की इच्छा न करें। इस प्रकार का सन्देह जब दूसरों पर प्रयुक्त किये जाते हैं, तो दुगने बल से प्रत्यावर्तित होकर प्रयोक्ता के मस्तिष्क पर आक्रमण करते हैं और उनके तन-तन्तुओं की बड़ी क्षति करते हैं। मस्तिष्क के धृति-स्मृति कोषों के क्षीण होने पर मनुष्य मोह-विमूढ़, विचार विमूढ़ बन जाता है। विवेक बुद्धि मारी जाती है, क्योंकि मानस केन्द्र के अनेक कोष और स्नायु हमेशा के लिए प्रत्यावर्तित (उल्टी) विद्युत धारा से जलकर नष्ट हो जाते हैं। अतः सन्देश भेजने की क्रिया स्वार्थ के लिए न होकर परमार्थ के लिए ही की जानी चाहिए। सद्भावना और उदार दृष्टिकोण सच्चरित्रता और मंगल कामना रखते हुए, भले उद्देश्यों के लिए ही इस विद्या का उपयोग करने से अपना और दूसरे का बड़ा हित होता है।

सन्देश भेजने की क्रिया पद्धति

सन्देश भेजने के लिए शान्त एकान्त स्थान में पालथी मारकर सुखासन पर बैठना चाहिए। सर्वसुहृद सर्वहितकारी सर्वेश्वर का कुछ समय तक स्मरण ध्यान करके तालबद्ध प्राणायाम करना चाहिए। तालबद्ध प्राणायाम उस प्राणायाम को कहते हैं जिसमें श्वास-प्रश्वास एक ताल के साथ खींचा और छोड़ा जाता है, जितना समय श्वास खींचने में लगाया जाता है उतना समय श्वास छोड़ने में लगाया जाता है। साँस भरने और साँस खाली हो जाने पर पुनः साँस को भरने और खाली करने की अपेक्षा आधे समय तक अन्दर या बाहर रोका जाता है।

पहला अभ्यास :—अतः ताल युक्त प्राणायाम करने के लिए मेरुदण्ड को सीधा करके बैठिये। हृदय पर हाथ रखिये। धीरे-धीरे उतने समय में पूरी स्वास खींचिये जितने समय में छः बार हृदय धड़कता है। हाथ हृदय पर ही रखे रहिये। तीन धड़कनों तक वायु अन्दर रोके रहिये।

फिर छः धड़कनों तक गिनते हुए श्वास को धीरे-धीरे बाहर निकालिये। अब तीन धड़कनों तक श्वास को बाहर ही रोके रहिये अर्थात् साँस न लीजिये।

नित्य नियम पूर्वक एक-दो महीने तक इस क्रिया को करने से यह सिद्ध हो जाती है, थोड़े ही अभ्यास के बाद श्वास खींचने और छोड़ने का समय सोलह धड़कनों तक की अवधि तक बढ़ाया जा सकता है। जब सोलह धड़कनों तक बिना कष्ट के श्वास खींचना और छोड़ना अथवा आठ धड़कनों तक अन्दर और बाहर साँस रोकने का अभ्यास सध जाए, तो समझना चाहिए कि ताल बद्ध प्राणायाम सिद्ध हो गया है। याद रहे श्वास की मात्रा धड़कनों की अवधि बढ़ाने में जल्दीबाजी न की जाय। ताल प्राप्त करने में जहाँ तक हो सके, पूरा प्रयत्न किया जाय। साँस लेने, अन्दर रोकने-छोड़ने और बाहर रोकने की क्रिया तबले की ताल के अनुसार एक लय के साथ चलनी चाहिए। समतालता या समस्वरता इस प्राणायाम का प्रभावकारी तत्त्व है। जब तक आपकी ताल युक्त गति न मिल जाय अथवा जब तक तालमय कम्पनों का अनुभव अपने शरीर में स्वयं न होने लगे, तब तक इसे सिद्ध हुआ समझना भूल है।

दूसरा अभ्यास—जब तालबद्धता सिद्ध हो जाय, तो इस प्राणायाम के साथ सद्भावना पूर्ण सन्देश भेजने का कार्य आसानी से सम्पादित किया जा सकता है। अभी तक आप हृदय पर हाथ रखकर श्वास प्रश्वास की अवधि का निर्धारण किया करते थे किन्तु प्राणायाम के सिद्ध होने पर आप अनुभव करेंगे कि आप इस क्रिया को बिना धड़कन गिने ही ताल की अभीष्ट समता के साथ सरलता पूर्वक करने लगे हैं। जब यह स्थिति आ जाय तब ही इस लय के साथ मन ही मन अपने सन्देश की निर्विघ्न आवृति करना सहज हो जाता है। ताल टूटने नहीं पाता और भावना की आवृति भी श्वास-प्रश्वास के साथ अबाध गति से चलती रहती है। ताल युक्त सन्देश के सप्राण प्रवाह की फ्रीक्वेन्सी अति उच्च होती है। उसे दूर-दूर तक भेजा और सुना जा सकता है। ऐसा अनुभवी लोगों का कहना है।

सन्देश प्रसारण का क्रम—सन्देश प्रसारण करते समय प्रयोक्ता को चाहिये कि वह ग्राहक महोदय का मनः पटल पर ध्यान द्वारा स्पष्ट चित्र

खींचे और मन ही मन उनसे कहे कि मैं आप से अत्यन्त स्नेह करता हूँ, मेरे हृदय में आप के प्रति सद्भावनाएँ ही सद्भावनाए हैं। मुझे आप की उदारता पर, विशाल हृदयता पर, पूरा विश्वास है। मैं अपने प्रवाह प्राण के साथ आप को सूचित करता हूँ कि वस्तुस्थिति वस्तुत: ऐसी ही है आप इसे भली भाँति समझ गये हैं। आप की भ्रांतियाँ दूर हो गयी हैं आदि, आदि इस प्रकार से कल्पना करें।

अव इसी भावना के साथ जो कुछ सूचना आप उन्हें देना चाहते हैं उसे उनके मन पर उतारिये। उन्हें वे गुप्त रहस्य या बातें बता दीजिए जिन्हें लज्जा भय दूरी या अन्य किसी कारण से आप सम्मुख होकर नहीं बता सकते हैं। सूचना या वर्णन प्रसाद शैली में किया जाना चाहिए। बीभत्स या भयावह सूचना अपने लिये ही हानिकारक होती है। अतः संदेश शुभ ही हो इसका ध्यान रहे।

यदि आप अपने को अधिक प्राणवान बना सकें तो ग्रहण कर्ता से अपनी इच्छाओं के सही-सही उत्तर भी इसी विधि से प्राप्त कर सकते हैं।

७. प्राण शरीर का परकाया प्रवेश

मृत्यु के बाद की जीव की स्थिति के सम्बन्ध में पाश्चात्य पर लोक विद्या विशारदों ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। गीता भी इस तथ्य की पुष्टि करती है कि जीव को इस संसार में जिस प्रकार का स्थूल शरीर प्राप्त होता है उसी आकार का उसका एक वियत् शरीर भी होता है। इस वियत् शरीर के ७ कोश होते हैं। मृत्यु के बाद मनुष्य के वियत् शरीर के तीन कोश और एक स्थूल शरीर कुल चार शरीर यहाँ रह जाते हैं। जीव के पास ८ उप शरीर और एक प्राणमय शरीर रह जाता है। इसके सहयोग से वह अपने स्तर के अनुकूल पितृलोक में विचरण करता है। कुछ समय बाद वियत् शरीर के चार कोशों का भी नाश हो जाता है, प्राण मय शरीर ही शेष रह जाता है, जिसकी सहायता से वह विभिन्न लोकों में आ जा सकता है। इस लोक का निवास जीव के कर्मों के अनुसार ही होता है। शुभ कर्मों से युक्त जीव उच्चलोकों में निवास का अधिकारी होता है।

स्थूल शरीर और प्राण शरीर अलग-अलग होते हैं। इसका प्रमाण यह है कि स्थूल शरीर के नष्ट होने पर भी प्राणों की गति का बना रहना देखा गया है। विख्यात तिब्बती योगी लामा श्री लावसांग रम्पा ने "आप

अपर हैं" नामक पुस्तक में एक घटना का वर्णन इस प्रकार किया है कि फ्रांस की क्रांति में एक विद्रोही का सिर धड़ से अलग कर दिया गया था। इस स्थिति में भी उसके मुख से बुदबुदाहट जारी रही। ऐसा लगता था कि वह कुछ बोलने का प्रयत्न कर रहा है। इस घटना का वर्णन फ्रांसीसी शासन के रिकार्ड में अभी तक सुरक्षित है।

एक बार कर्नल **टाउनशेंड** ने वैज्ञानिकों और साहित्यकारों की साक्षी में इस प्रकार का ही एक प्रदर्शन किया था। एक ब्लैक बोर्ड के साथ खड़िया बाँधी। ब्लैक बोर्ड के पास ही वह बैठ गये और प्राण शरीर को स्थूल शरीर से अलग कर लिया। प्राण शरीर से वह ब्लैक बोर्ड पर लिखते रहे और दर्शकों के प्रश्नों का उत्तर लिखित रूप में बोर्ड पर देते रहे। इस प्रदर्शन में वह कई बार स्थूल शरीर में आ गये और जीवित मनुष्य के तरह बोलते रहे। फिर वह अपने इच्छानुसार प्राण शरीर अलग कर लेते थे। वह यह सहज स्वभाव से ही कर लेते थे।

कर्ण प्रयाग में स्वामी भास्करानन्द ने समाधि ग्रहण की। समाधि का बड़ी श्रद्धा से पूजन किया गया। उसी समय स्वामी जी कर्ण प्रयाग से कोल्हापुर लौट आये थे। इस घटना को भी अनेकों व्यक्तियों ने देखा था।

इस घटना से परिलक्षित होता है कि स्थूल शरीर की तरह ही एक अदृश्य शरीर भी होता है जो इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

मिस्र और चीन में मरने के बाद मृतक को जलाते नहीं वरन् कुछ निश्चित रासायनिक प्रयोगों से सुरक्षित रखते हैं जो लम्बे समय तक ज्यों का त्यों बना रहता है और सड़ता नहीं है। इस तरह से रखे गये मृतक शरीरों को वहाँ की भाषा में 'मम' कहते हैं। उन लोगों की यह मान्यता है कि जीव अपने स्थूल शरीर को देखने के लिए कभी-कभी आया करता है। यह वास्तविकता भी है। यह गतिविधियाँ प्राणमय शरीर की हैं।

स्थूल शरीर के नष्ट होने पर भी प्राण शरीर की गतिविधियाँ संचालित होती रहती हैं। एक साधारण उदाहरण से इसे स्पष्ट करते हैं। बिजली का प्रकाश बल्ब द्वारा हमें प्रकाशित होते दिखाई देता है। प्रकाश काँच में नहीं होता है उसका तो केवल सहयोग मात्र रहता है। काँच के बल्ब को हटा दिया जाय तो प्रकाश भी समाप्त हुआ दृष्टि गोचर होता है। परन्तु वास्तविक तो यह है कि विद्युत की गति बराबर बनी रहती है

उसके प्राण-परमाणु भी क्रियाशील रहते हैं। केवल काँच के हटने पर प्रकाश का प्रसारण बन्द हो जाता है। इसी प्रकार स्थूल शरीर के सहयोग से प्राण शरीर की गतिविधियाँ प्रदर्शित हो रही थीं। मृत्यु होने पर इनका दिखाई देना बन्द हो गया, परन्तु उसकी क्रियाशीलता ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। स्थूल शरीर के साथ प्राण-शरीर का नाश नहीं होता। उसकी सत्ता स्थूल शरीर से बिलकुल भिन्न है।

प्रशान्त महासागर में समाओं दीप के पास 'पैलोलो' नाम का एक जीव मिलता है। इसकी जीवन प्रक्रिया कुछ इस प्रकार से है कि वह समुद्र की जल मग्न चट्टानों में अपने निवास का स्थान बनाता है। पूरा वर्ष तो वह जल में ही रहने का अभ्यस्त है परन्तु जब चन्द्रमा आधा होता है और ज्वार कम होता है तो अक्टूबर-नवम्बर के इन दिनों में यह बाहर निकलता है और जल की सतह पर अण्डे देकर अपने मूल स्थान को लौट जाता है। 'पैलोलो' अपने पूरे शरीर के साथ जल की सतह पर नहीं आता वरन शरीर का कुछ भाग घर पर छोड़ आता है। वह शरीर का उतना भाग ही अपने साथ लाता है जितने के लिए उसे जल पर तैरने और अण्डे देने के लिए आवश्यक होता है। घर पर छोड़ा हुआ शरीर मृतक की तरह पड़ा रहता है। जिस तरह से कोई मिस्त्री किसी मशीन के दो पुर्जों को मिलाकर एक कर देता है उसी तरह 'पैलोलो घर लौटने पर सुरक्षित शरीर (मृतकप्राय भाग) से अपने जीवित शरीर को जोड़ लेता है। मृतक शरीर भी जीवित सा हो जाता है। अब उसका पहले जैसा एक पूर्ण शरीर हो जाता है जिसमें रक्त संचार व प्राण संचार की सभी क्रियाएँ संचालित होने लगती हैं।

मैसूर के नन्दी दुर्ग पर्वत पर १/२ इञ्च के आकार का एक 'टाडिग्राफ' नामक जोव रहता है। जल के अभाव में उसका स्थूल शरीर इस प्रकार सूख से जाता है जिस तरह से वह मिट्टी का ढेला हो और उसमें प्राण संचालन की कोई क्रिया न हो। इस मृतक प्रतीत होने वाले जीव के काट कर कई टुकड़े कर दिये जायें तो भी यह देखा गया है कि उसकी प्राण शक्ति का नाश नहीं होता। इन टुकड़ों को एक शून्य अंश उष्णता वाले एक पात्र में रखकर हेलियम नाम का एक द्रव्य मिलाया जाये तो उसकी सुप्त प्राण शक्ति जाग्रत हो जाती है और चेतना लौट आती है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्राण शरीर की सत्ता स्थूल शरीर से अलग है। प्राण शरीर मानव के आध्यात्मिक उत्थान में महत्त्वपूर्ण

भूमिका निभा सकता है। स्थूल शरीर तो कुछ वर्षों तक ही उसके साथ रहता है। प्राण शरीर मोक्ष प्राप्ति की लम्बी यात्रा के अंतिम क्षणों तक साथ देता है।

प्राण शरीर को प्रत्यक्ष देखा जाना सम्भव नहीं है। स्थूल शरीर से वह सूक्ष्म है। स्थूल से सूक्ष्म हर वस्तु शक्तिशाली होती है। उसमें एक अद्भुत गति व क्रियाशीलता होती है जिसके कारण उसकी शक्ति का अनुमान लगाना भी सहज नहीं होता।

सूक्ष्म होने के कारण प्राण शरीर दूसरे स्थूल शरीर में प्रविष्ट होने की क्षमता रखता है। योगियों की परकाया प्रवेश की अनेकों घटनायें प्राप्त होती हैं। श्रीमत् आद्य शंकराचार्य का उदाहरण तो लोक प्रसिद्ध है। उन्होंने अपना प्राण शरीर मृतक राजा सुधन्वा के शरीर में प्रविष्ट करवाया था और अपने स्थूल शरीर की सुरक्षा की जिम्मेदारी अपने शिष्यों पर छोड़ दी थी। राजा सुधन्वा में कुछ विशिष्ट महानताओं की अनुभूति करके उसके दरबारी चकित रह गये थे। उनके कुल गुरु तो उनके शरीर में किसी महान आत्मा का निश्चय से प्रवेश मान रहे थे। इसलिए उन्होंने आदेश दे दिया था कि जहाँ कहीं भी कोई सुरक्षित मृतक शरीर प्राप्त हो जाय, उसे जला दिया जाय ताकि वह आत्मा राजा के शरीर में ही बना रहे। इस प्रकार अनेक उदाहरण देखे गये और सुने गये हैं। ऐसे योगी व सिद्ध पुरुषों की घटनाएँ भी उपलब्ध होती हैं जो एक समय में ही दो स्थानों पर देखे गये थे। कुछ सिद्ध पुरुषों की ऐसी भी घटनायें सामने आई हैं जब उन्होंने अपने विपत्तिग्रस्त शिष्यों को अन्नमय शरीर से अलग होकर प्राणायाम शरीर से हजारों मील की दूरी पर भी उन्हें बचाया था। चीन के लामाओं में यह विधि प्रचलित थी। उनके ग्रन्थों में लिखा है कि किस प्रकार प्राणायाम से अन्नमय कोश से प्राणमय कोश को पृथक् किया जा सकता है। श्री गुलगेन ने 'प्राणायाम शरीर का उद्‌गमन' नामक एक स्वतन्त्र ग्रंथ की रचना की है। कर्नल टाऊशेड ने तो प्राणायाम के अभ्यास से प्राणमय शरीर पर नियन्त्रण प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की थी और इस प्रकार के अनेकों सफल प्रदर्शन भी किए थे।

इससे सिद्ध है कि प्राणायाम एक ऐसा वैज्ञानिक व चमत्कारी विधान है जिससे प्राण शरीर को स्थूल शरीर से अलग किया जा सकता है और

किसी भी दूसरे शरीर में प्रविष्ट किया जा सकता है। प्राण शरीर से हजारों मील दूर आकर भी दूसरों की सहायता की जा सकती है और प्राण शरीर को अधिक क्रियाशील व शक्तिशाली बनाया जा सकता है। यदि ऐसा किया जाना सम्भव हो जाय तो जीवन की महान् सफलता होगी।

८. आकाश गमन

'वृहंद्योग सोपान' के अनुसार—

प्राणायामत्खेचरत्वं प्राणायामादरोगिता।
प्राणायामाच्छक्तिबोध प्राणाय मन्मनोन्मनी॥
आनन्दो जायते घित्वे प्राणायामो सुखी भवेत्।

प्राणायाम से साधक आकाश में उड़ने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। ऐसा लगता है वह पक्षियों की भाँति आकाश गमन कर रहा हो। प्राणायाम से उन्मनी शक्ति जागृत होती है। साधक का चित्र सच्चे आनन्द से ओत-प्रोत हो जाता है और वह मानसिक सुख शान्ति की अनुभूति करता है।

प्राणायाम से उलझी समस्याओं का सहज समाधान

आज का मानव-जीवन समस्या-संकुल है। प्रत्येक प्राणी पद-पद पर अनेक प्रकार की उलझनों से अपने को घिरा पाता है, आर्थिक ही नहीं, वह पारिवारिक और सामाजिक समस्याओं से भी संत्रस्त है तथा योग्य सूत्र के अभाव में उलझा ही रहता है। ज्यों-ज्यों वह सुलझाने की कोशिश करता है त्यों-त्यों अधिकाधिक उलझता ही जाता है।

अपनी परिस्थिति से ऊब कर कितने ही व्यक्ति आत्महत्या कर लेते हैं। कोई उन्हें माया, भव-जाल कहता है, तो कोई उन्हें दुर्भाग्य कह-कहकर रात-दिन रोता झीकता रहता है। साधारण मनुष्य ही नहीं, तथाकथित खूब पढ़े-लिखे लोग भी परिस्थितियों से हार मानकर अपने जीवन का निष्कर्ष इन शब्दों में व्यंजित करते हैं—"मनुष्य परिस्थितियों का गुलाम है। वह कर्म स्वतन्त्र नहीं है। वह भाग्याधीन है।" इत्यादि इत्यादि।

परिस्थितियों की परिवर्तनशीलता अनिवार्य

वास्तव में ये उद्गार मोह और कुण्ठा के परिणाम हैं। सूझ-समझ की कमी और यथार्थ दर्शन के अभाव ने ही उसकी विचार शैली को

हतप्रभ कर रखा है। वह भूल गया है कि संसार घटनाओं का अनादि प्रभाव है जिस प्रकार दिन के बाद रात का आना स्वाभाविक है। यदि जन्म हुआ है, तो मृत्यु अनिवार्य है, बालक के बाद युवा, उसके बाद वृद्ध होना अनिवार्य है। जो व्यक्ति इन परिवर्तनों के अनुकूल अपने को ढालने-साधने में जितना असमर्थ होता है, वह उतना ही अपने को विवश, पराधीन और दुःखी अनुभव करता है।

पारिवारिक जीवन को ही देखिए। परिवार के सदस्यों की ज्यों-ज्यों संख्या बढ़ेगी, त्यों-त्यों उसी क्रम से परिवार की आवश्यकतायें भी बढ़ेंगी, उसका खिन्न, विपन्न और व्यक्तित्व-छिन्न होना अनिवार्य ही है।

समस्या का मनोविज्ञान

हर समस्या अपने में एक चुनौती है। हर बाधा किसी कमी की पूर्व-सूचिका है। हर रोग किसी उपेक्षा का परिणाम है। हर वियोग प्रकृति का सहज विधान है। उनके अन्तराल से जो प्रवेश कर सकता है, उनके समाधान के लिए जो उत्साह और धैर्य जुटा सकता है, वह तथाकथित प्रतिकूलताओं में भी सानन्द और सकुशल रह सकता है। आवश्यकता है अनुचित-उचित समझ की। आवश्यकता है समुचित क्रियाशीलता की।

सभी प्रकार की उलझनों को गणित के प्रश्न के समान ही सुलझाया जा सकता है। जो व्यक्ति गणित के प्रश्न की भाषा को नहीं समझता है, जो नहीं जानता कि प्रश्न में क्या दिया गया है, क्या पता चलाना है, कैसे पता चलाना है, इसी प्रकार मानव जीवन की जीवन्त-समस्याओं और उनकी आशा-आकांक्षाओं के प्रति जो उदासीन या अनभिज्ञ है, वह यदि उन्हें माया, भव जाल, प्रकृति की निष्ठुरता या अभाग्य कहे। उसके लिये ईश्वर या किसी और को कैसे दोषी ठहराया जा सकता है।

प्राणायाम और समस्या का हल

प्राणायाम की विशिष्ट साधना के द्वारा प्रत्येक प्रकार की समस्या, उलझन, विपरीत परिस्थिति और निर्बलता के निर्मूलन के लिये सूझ-सुबुद्धि और परमात्म बल अर्जित करना सहज सम्भव है। जिस प्रकार आज का वैज्ञानिक प्रचण्ड आत्म-साधना यानी पुरुषार्थ के द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में प्रकृति को विजित कर रहा है उसी प्रकार प्राणायाम की विशिष्ट साधना के द्वारा वह अपनी प्रकृति को जीत सकता है। परि-

स्थितियों को अपने अनुकूल बना सकता है, विजय प्राप्त कर सकता है, उन्हें बदल भी सकता है। नीचे हम उसी प्राण साधना का विधि-विधान दे रहे हैं।

साधना का विधान

सिद्धासन या पद्मासन पर बैठ जाइये। बाँयें हाथ की अंगुली से दाहिने नासापुट को बन्द कर दीजिए और 'जय महाबुद्धि!' 'जय महाशक्ति!' कहते हुए बाँयें नथुने से धीरे-धीरे साँस लीजिए। यथाशक्ति सुविधा के अनुसार कुछ देर साँस को अन्दर ही रोके रहिये तथा मन ही मन ध्यान कीजिये कि आप के चारों ओर परमात्मा का विमल प्रकाश छाया हुआ है। आप उस प्रकाश की गोद में सुरक्षित बैठे हुए हैं। प्रकाश की चुम्बकीय किरणें समस्त ब्रह्माण्ड में सब ओर फैल रही है, इन्हीं शक्ति-तरंगों के द्वारा जगन्नियन्ता सारे संसार को सुव्यवस्थित सन्तुलित बना रहा है, ज्योति की इन्हीं लहरियों ने सम्पूर्ण विश्व को विवेकमयी गणितीय व्यवस्था में बाँध दिया है। परम पिता सर्वसुहृद् है, सबका हितैषी है। उसका प्रत्येक विधान दूरदर्शिता युक्त है। बालक के जन्म लेने से पहले ही वह माता के स्तनों में दूध भर देता है। वायु प्रदूषण की विनाशकारी क्रिया के अवरोध के लिए वह इन्हीं रश्मिल प्रकर्षों के द्वारा विषैली कार्बन गैस को प्राणदायी ऑक्सीजन गैस में अहर्निश परिवर्तित किया करता है। वही ज्वर, कास, अतिसार आदि के रूप में शरीरस्थ विजातीय तत्त्वों का जरण-क्षरण किया करता है। उसका प्रत्येक विधान मंगलमय है। वह वही कर रहा है, जिससे मैं उत्कृष्ट, स्वस्थ, सुखी और सबल बनूँ। मैं उसकी शुभाकांक्षा को समझ गया हूँ, वर्तमान विषमता या विघ्न बाधा मुझे अधिक सजग, अधिक सन्तुलित और अधिक कर्मण्य बनने की प्रेरणा देती है, मैं प्रभु के इस प्रबोध को कृतज्ञता के साथ स्वीकार करता हूँ।

ऐसा मन ही मन चिन्तन करते हुए बाँयें हाथ के अँगूठे से बाँया नथुना दबाकर दाहिने नाशापुट से 'जय महाबुद्धि! जय महाशक्ति।' मन ही मन कहते हुए धीरे-धीरे साँस छोड़िये, चार बार 'जय महाशक्ति, जय महाबुद्धि' कहने तक साँस को बाहर ही रोके रखिये।

इस क्रिया को इसी प्रकार से तीस बार तक किया जाना चाहिए, प्राणायाम की मात्रा क्रम-क्रम से बढ़ाना चाहिए। एकदम जल्दी-जल्दी

प्राणायामों की संख्या बढ़ाना उचित नहीं है। प्रति सप्ताह दो-तीन प्राणायाम को नीचे लिखी कविता के पाठ के साथ भी किया जा सकता है। कविता पाठ मन ही मन अर्थों पर ध्यान देते हुए भावपूर्ण हो, इसका विशेष प्रयत्न करने में ही परिस्थिति परिवर्तन हेतु यथेष्ट शक्ति और सूझ उस महाप्राण से प्राप्त की जा सकती है।

कवितामय आत्म संकेत

१. साँस भरते समय कहें—

जय महाबुद्धि ! जय महाशक्ति !
जय महाबुद्धि ! जय महाशक्ति !

२. साँस को अन्दर रोकने की अवधि में मन ही मन इस कविता की भावपूर्ण आवृत्ति करें।

३. फिर श्वास छोड़ते समय इसे मन ही मन कहिये :—

जय महाबुद्धि ! जय महाशक्ति !
जय महाबुद्धि ! जय महाशक्ति !

४. साँस को बाहर ही रोके-रोके 'जय महाबुद्धि ! जय महाशक्ति!' चार से छः बार तक कहना चाहिए।

इस प्राणायाम से ईश्वर के स्वरूप की स्पष्टि तो होती ही है, बुद्धि भी सूक्ष्मग्राही बनती है। धैर्य, साहस, उत्साह का प्राणमय प्रस्फुरण व्यक्ति को क्रियाशील बनाता है जिससे परिस्थिति अनुकूलन और रुचि प्रकृति का शोधन होकर सुख-समृद्धि होती है।

प्राणायाम की आध्यात्मिक उपलब्धियाँ

दोषों और दुर्गुणों का निवारण

प्राणायाम शुद्ध सात्विक यौगिक क्रिया है। इसके द्वारा शुद्ध सात्विक जीवन यापन की दिशा में बड़ी सहायता मिलती है। दुस्संस्कारों की प्रखरता के कारण प्रायः देखा जाता है कि इच्छा रहते हुए भी साधक निर्धारित नियमों का दीर्घकाल तक निर्वाध रूप से पालन नहीं कर पाता है। प्रायः तीन-चार दिन अथवा दो-चार सप्ताह से अधिक वह इच्छित साधना नहीं चला पाता, कभी-कभी वह बार-बार की अपनी असफलता को देखकर दोषों-दुर्गुणों की प्रबलता को देखकर इतना घबड़ा जाता है कि चाहते

हुये भी वह उस ओर कोई प्रयास करने से डरने लगता है। हमने कितनों को ही देखा है जो सिगरेट, बीड़ी, गाँजा, भाँग, शराब, मांस आदि छोड़ना चाहते हैं, किन्तु कुण्ठा के अतिरेक के कारण कुछ डरते हैं। यही बात क्रोध, कामुकता, लोलुपता, वैमनस्य, चिन्ता, भय आदि मनोविकारों के विनाश के सम्बन्ध में देखी गयी है। दुस्सङ्ग, जुआ, वेश्यागमन को लोग बुरा समझते हैं, किन्तु उसे छोड़ नहीं पाते हैं। ऐसी दयनीय स्थिति का उपचार यौगिक प्राणायाम की सहायता से सुविधा पूर्वक किया जा सकता है। एकाग्रता, समय परायणता, स्वच्छता प्रभृति सद्‌गुणों के विकास में भी वह सहायक है अतः संक्षेप में हम उसे नीचे दे रहे हैं।

कामवासना क्षय के लिए

मान लीजिये आप काम वासना के नियन्त्रण में अपने को असक्त पा रहे हैं। ब्रह्मचर्य व्रत धारण के लिए अपेक्षित इच्छा शक्ति या आत्मबल की आप में कमी है तो आत्मबल की वृद्धि और वीर्य रक्षण के लिये आप को यह प्राणायाम इस प्रकार करना चाहिए।

सर्व प्रथम पीठ के बल लेट जाइये। सिर, गरदन, छाती सब एक सीध में हों। शरीर को बिल्कुल ढीला कर दीजिए। सब ओर से मन को हटा लीजिए। अब मुँह को बन्द करके अन्दर को साँस खींचिये, सरलता पूर्वक जितनी साँस अन्दर भरा जा सके, भरिये। योग की भाषा में इसे पूरक (हवा अन्दर भरना) कहते हैं।

अब अन्दर खींची हुई साँस को जितनी देर तक आसानी से रोक सकते हैं उतनी देर तक उसे रोकिए। फिर धीरे-धीरे रुके हुए साँस को बाहर निकालना चाहिए। साँस रोकने की क्रिया को रेचक कहते हैं। नियमानुसार जितनी देर में साँस अन्दर खींची जाय उतनी ही देर उसे बाहर निकालने में लगाना चाहिए। किन्तु फुफ्फुस के अन्दर साँस रोकने की अवधि साँस भरने की अवधि (समय) से आधी होनी चाहिए यही बात साँस निकालने के बाद दूसरी बार, साँस भरने या छोड़ने में जितना समय लगाया है। उसके आधे समय तक श्वास रोकना चाहिए।

साँस अन्दर खींचते समय यह भावना करनी चाहिये कि काम शक्ति का प्रवाह जननेन्द्रिय की ओर से मस्तिष्क की ओर हो रहा है। अपने मानसिक नेत्रों के द्वारा यह देखना चाहिए कि हमारा वीर्य स्पष्ट रूप से वीर्यवाहिनी नाड़ियों द्वारा ऊपर चढ़ रहा है। नीचे की नाड़ियों में

शीतलता और शान्ति का प्रसार हो गया है। जब तक साँस रोके रहें, ध्यान में जितनी चित्तमयता होगी, उतनी ही तीव्रता वीर्य के ऊर्ध्वगमन में होगी।

जब श्वास को बाहर निकाल लें तब ऐसी भावना करनी चाहिए कि निःश्वास के साथ काम विकार बाहर निकालते जा रहे हैं, जननेन्द्रिय स्थान पर हलकापन आ गया है। सभी क्षोभकारी विकार दूर हो गये हैं। वह निर्मल और पवित्र हो गया है।

इस क्रिया को करते समय यदि मूल-बन्ध लगाया जावे, तो वीर्य के उर्ध्वगमन की गति तीव्र हो जाती है। मूलबन्ध के लिए साँस अन्दर खींचते समय गुदा का अन्दर की ओर दृढ़ता के साथ संकोचन करना चाहिए जिससे अपानवायु का प्रवेश ऊपर की ओर हो और वह वीर्य की तेजी को बल पूर्वक ऊपर जाने के लिए प्रेरित करे।

इस क्रिया को केवल एक बार ही अभ्यास करना पर्याप्त नहीं है। कम से कम १०-१५ बार नित्य इस क्रिया को दोहराना चाहिए। यह क्रिया प्रातः काल की अपेक्षा शाम को करना अधिक लाभकर है। दोनों समय की जाय तो सोने में सुहागा डालना जैसा लाभ होगा।

वीर्यदोषों की निवृत्ति के लिए

वीर्य दोषों की निवृत्ति के लिए उज्जायी प्राणायाम करना चाहिये। विधि इस प्रकार है—

सुखासन से बैठें। दोनों नासिकाओं से श्वास को धीरे-धीरे भीतर खींचे। यह ध्यान रहे कि यह श्वास कण्ठ से हृदय तक ही जा पाये। इस क्रिया के साथ जालन्धर-बन्ध लगाना चाहिए। जितना सम्भव हो सके भीतर खींची हुई वायु को रोकना चाहिए। अब दाँयीं नासिका को बन्द करके बाँयीं नासिका से प्रश्वास को बाहर निकालें। श्वास रोकते समय यह सावधानी रखनी चाहिए कि श्वास हृदय से नीचे नहीं जाना चाहिए वरन् क्रम से उसे हृदय से गले में और गले से मुँह में लावें और शनैः शनैः प्रश्वास को बाहर निकालना चाहिए। आरम्भ में ३ प्राणायाम से अधिक नहीं करना चाहिए। अभ्यास बढ़ने पर ही इनकी संख्या बढ़ानी चाहिए।

हठ जोग के ग्रन्थों में इसके अन्य लाभ भी बताये गये हैं। यथा—

उज्जायीकुम्भकं कृत्वा सर्वकार्याणि साधयेत् ।
न भवेत्कफरोग च क्रूरवायुरजीर्णकम् ।।

पूर्ण इन्द्रिय संयम के लिए

आँख, श्रवण, त्वचा, घ्राण और जिह्वा—यह पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। वाक्, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ—यह पाँच कर्मेन्द्रियाँ, यह दश इन्द्रियाँ मनुष्य के उपयोग के लिए वनी हैं। यह मानव शरीर के आवश्यक अंग हैं। इनमें से किसी एक की कमी हो जाय या उनमें रोग उत्पन्न हो जाय तो स्वाभाविक कार्यों में बाधा उपस्थित होती है परन्तु उन्हें स्वच्छन्द छोड़ दिया जाय और वह अपने विषयों में विचरती रहें तो वह स्वामी के शत्रु बन कर उनका नाश कर देती हैं। इसीलिये अध्यात्म शास्त्र का आदेश है कि कल्याण की इच्छा वाले साधक को इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिये।

शास्त्रों का आदेश है कि हम हाथों से किसी को कष्ट न दें, चोरी आदि कोई बुरा कार्य न करें, साधु सन्तों व गुरुजनों की सेवा करें, सत्सङ्ग और देव मन्दिर की ओर अग्रसर हों, सेवा कार्यों में प्रवृत्त हों, वाणी से मधुर शब्द ही बोलें, ऐसे वाक्य न कहें जिससे किसी को बुरा लगे, सत्शास्त्रों और उपदेशों का ही श्रवण करें, भगवान के विग्रह और साधु सन्तों के ही दर्शन करें, स्वाद के लिए नहीं, शरीर धारण के लिये विवेक पूर्वक खायें।

आज वातावरण बहुत दूषित हो चुका है। उपन्यास, पत्रिकाएँ, फिल्में, काम-वासनाओं को भड़काने का आसुरी काम कर रही हैं। नेत्र स्त्री रूप में पवित्र रूप को नहीं कामी रूप से ही देखते हैं, उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का निरीक्षण करते हैं। भजन, कथा, कीर्तन सुनना तो पिछड़े युग की बात हो गयी, सिनेमा की कथा कथित सभ्य युग की देन है। बीड़ी, सिगरेट, मांस, दारू आदि तामसिक पदार्थों का सेवन आधुनिक सभ्यता का एक अंग बन गये हैं। यह आहार तमोगुणी प्रवृत्तियों को उत्तेजित करते हैं। आहार का कामवासना से घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्री विजय कृष्ण गोस्वामी का मत है कि शरीर में प्रधान यंत्र है—जीभ! जीभ वश में हो जाने से सब कुछ वश में हो जाता है। गाँधी जी का कहना है—"ब्रह्मचर्य के साथ आस्वाद व्रत का वहुत निकट सम्बन्ध है। मेरे

अनुभव के अनुसार इस व्रत का पालन करने में समर्थ होने पर ब्रह्मचर्य अर्थात् जननेन्द्रिय संयम बिल्कुल सहज हो जाता है। इन इन्द्रियों को काबू में रखना ही शक्ति और सिद्धि का साधन है।

हमारे शास्त्रों में इन्द्रिय निग्रह के लिए उसी उद्देश्य से प्रेरित किया गया है। गीता ४–३९ में कहा है जब श्रद्धावान मनुष्य इन्द्रिय निग्रह द्वारा ज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न करने लगता है तब उसे ब्रह्मात्मैक्य रूप ज्ञान का अनुभव होता है और फिर उस ज्ञान से उसे शीघ्र ही पूर्ण शान्ति मिलती है। बुद्धि की स्थिरता के लिए इन्द्रियों को विषयों से खींचना आवश्यक बताया गया है और कछुए का उदाहरण देते हुए कहा गया है कि जिस तरह वह अपने हाथ-पैर आदि अवयव सब ओर से सिकोड़ लेता है उसी तरह इन्द्रियों के शब्द-स्पर्शादि विषयों से अपनी इन्द्रियों को खींच लेना चाहिये। इन्द्रियों को बलत्कार से मनमानी और साधक को खींच लेने वाली शक्ति कहा गया है। जो अनेक प्रवाह में बह जाता है उसका आत्मिक पतन हो जाता है। जो उन्हें अपने इच्छानुसार चलाता है, उसका उत्थान होता है। इन्द्रियों के प्रति कड़ा रुख अपनाने को अहितकर बताया है और जो हाथ पैरादि पर रोक लगाकर मन से विषयों का चिन्तन करता है उसे **दाम्भिक** कहा है। भगवान ने परामर्श दिया है कि उसकी योग्यता विशेष है जो मन से इन्द्रियों को आसक्त करके केवल कर्मेन्द्रियों द्वारा अनासक्त बुद्धि से कर्मयोग का आरम्भ करता है। इसी को दृष्टि में रखते हुए, वशिष्ठ ने इन्द्रियों के निग्रह को मानस तीर्थ कहा है, जो इसमें स्नान करता है वह पवित्र हो जाता है। महाभारत पर्व में स्पष्ट कहा है कि इन्द्रियों को काबू में रखना ही ज्ञान है। और वही मार्ग है जिससे कि बुद्धिमान लोग उस परम पद की ओर बढ़ते हैं। कोई अजितेन्द्रिय पुरुष श्री हृषिकेश भगवान को प्राप्त नहीं कर सकता। तुकाराम ने भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए व्यंग्य से कहा है—'ईश्वर के पास मोक्ष की गठरी नहीं रक्खी है कि वह किसी के हाथ दे दें। यहाँ तो इन्द्रियों को जीतना, मन को निग्रह करना ही मुख्य उपाय है।'

मनुस्मृति में प्राणायाम के अभ्यास से इन्द्रियों के पवित्र, दोष रहित होने का आश्वासन दिया है—

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मला।
तथन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषा प्राणस्य निग्रहात् ॥ ७ ॥

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणभिश्च किल्बिषम् ।
प्रात्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणात् ॥ ७२ ॥

प्राण निरोध से इन्द्रियों के दोष वैसे ही जलते हैं जैसे अग्नि में धौंकने से धातुओं के मल नष्ट होते हैं। प्राणायाम साधना से रोगादि दोषों को, धारणा के अभ्यास से पापों को, इन्द्रिय निरोध से विषय-वासनाओं की ओर, ध्यान सिद्धि से मोहादि गुणों को नष्ट कर दे।

हठयोग प्रदीपिका (२/५) में कहा है कि मल शुद्धि के लिए प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए—

तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥

वृहद्योगियाज्ञवल्क्य स्मृति (८–४०) में घोषणा है 'जो व्यक्ति नित्य-प्रति सूर्योदय के समय सौ प्राणायाम करता है, वह निर्मल होकर स्वर्ग को प्राप्त होता है।' योग वासिष्ठ में महर्षि वशिष्ठ जी भगवान् राम को उपदेश देते हैं—अभ्यास के द्वारा प्राणों की गति रुक जाने पर मन शान्त हो जाता है और केवल निर्माण ही शेष रह जाता है। जैसे पंखा बन्द कर देने से हवा की गति रुक जाती है, वैसे ही प्राण के निरोध होने से निश्चित ही मन शान्त हो जाता है। हे राम ! प्राण-शक्ति का निरोध होने से मन का निरोध हो जाता है। जैसे अन्य पदार्थों की अपनी छाया होती है वैसे ही प्राण की छाया मन है। हे राम ! प्राणों को वश में कर लेने से मनुष्य राज्य प्राप्ति से लेकर मोक्ष प्राप्ति तक की समस्त सिद्ध सम्पदायें प्राप्त कर सकता है। 'स्नायु चिकित्सा के ख्याति प्राप्त विशेषज्ञ डा० वाल्गेसी ने अपनी पुस्तक (स्नायु रोगों से ग्रस्त लोगों को एक सन्देश) में यह माना है कि प्राणायाम साधना से मनोविकारों का दमन व मानसिक स्थिरता सफलता पूर्वक प्राप्त की जा सकती है।

प्राणायाम का अभ्यास जैसे-जैसे बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे मनुष्य के संचित कर्मों के संस्कार, अविद्या जनित क्लेश, जो कि ज्ञान के आवरण रूप है, दुर्बल होते जाते हैं। इसी आवरण से ज्ञान ढका रहने के कारण सांसारिक विषय वासनाओं से पीड़ित मनुष्य दुःखों को भोगता रहता है अतः यह संचित कर्मों का पर्दा प्राणायाम के अभ्यास से शनैः शनैः क्षीण हो जाता है। तब विवेक ज्ञान रूपी प्रकाश का उदय हो जाता है। जैसे तपाये हुए सोने के सभी मल नष्ट हो जाते हैं।

तपो न पर प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तश्च ज्ञानस्य ॥१९॥

प्राणायाम से श्रेष्ठ कोई तप नहीं है। इसकी साधना से मलों की शुद्धि होती है और ज्ञान का प्रकाश होता है।

इन्द्रियों की स्थिरता, पवित्रता व मलों की शुद्धि के लिए उदरस्थल शुद्धि प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। विधि इस प्रकार है—

पद्मासन से बैठें। रीढ़ की हड्डी को सीधा रखें। दोनों नासिकाओं से धीरे-धीरे श्वास भीतर खींचे। जब पूरा श्वास खिंच जाये तो दाँयीं नासिका को दाँयें हाथ के अँगूठे से बन्द करके प्रश्वास को धक्का देकर बाँयीं नासिका से बाहर निकालना चाहिए। फिर दोनों नासिकाओं से श्वास भीतर खींचकर बाँयीं नासिका को बन्द कर दाँयीं नासिका से प्रश्वास से धक्का देकर बाहर निकालें। इसी प्रकार से अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाते रहें।

अन्य दोषों के निवारण के लिए

जिस विकार को दूर करना है, उसके अनुकूल कल्पना करना आवश्यक है। प्राण-प्रवाह को आज्ञा चक्र की ओर बहाने के लिए नासा द्वारा साँस खींचकर वैसा संकेत दें। मानस चित्र में वैसा ही ध्यान करते रहें। साथ ही यह भी भावना करते रहें कि इस ऊर्ध्वगमन से मेरा आत्मबल बढ़ रहा है। मेरा प्राण प्रबल हो रहा है, इत्यादि।

साँस छोड़ते समय ऐसा चिन्तन कीजिये कि मनोगत विकार निःश्वास के साथ निकल रहे हैं। मेरा अन्तःकरण अब शुद्ध और पवित्र हो रहा है।

याद रहे यह कोरा आत्मकथन शब्दात्मक न होकर "भाव प्रवण" होना चाहिए। अनुभूतिमय (मानसिक चित्रमय) होना चाहिए। जो शब्द आप मन ही मन कहें उसी का ध्यान भी करें। उसे चित्र कल्पना के द्वारा अपने मन स्थल पर अंकित करें, तभी उन संकेतों के द्वारा प्राणशक्ति अभीष्ट दिशा में प्रवाहित हो सकेगी और आप के मनोरथों को पूर्ण करेगी। भाव, संकेत, कल्पना या चिन्तन के द्वारा प्राणशक्ति का ग्रहण-संचयन किया जाता है।

आत्म संकेतों की प्रबलता से ही प्राण-शक्ति प्रखर होती है। आत्म संकेतों के द्वारा विपुल (ईथर-व्यापी) महा-प्राण को आत्मस्थ किया जाना सम्भव है। उसके आभूषण का वही सहज उपाय है।

आत्म-संकेतों के द्वारा ही आत्म संमोहन होता है और दोषों, दुर्गुणों तथा दुष्प्रवृत्तियों का नाश होकर सद्‌गुण, सद्भाव और सत्प्रवृत्तियों का विकास होता है। जीवन प्रवाह निम्न धरातल से ऊपर उठकर मनो-विकास, बुद्धि-विकास के साथ जीवन स्तर को भी उच्चस्तरीय बना देता है। उत्कृष्ट दृष्टिकोण के आने से रहन-सहन में, अहार-विहार में, आचार व्यवहार में उत्कृष्टता का समावेश होने लगता है। मनः शान्ति और अद्भुत मस्ती आती है। तब हमारे सोचने-समझने और विचार करने का ढंग एकदम बदल जाता है। शक्ति, स्फूर्ति, उत्साह और उज्ज्वलता सभी समस्याओं और अभावों को यथा शीघ्र नष्ट करते हैं। अतः भाव की प्रगाढ़ता के द्वारा हमें अपने आत्म-संकेतों को प्राणवान बनाना चाहिये। प्राणवान संकेत ही परिपक्व होकर प्रबल आत्म-विश्वास, प्रखर इच्छा शक्ति और सफल संकल्प बनते हैं। संकेतों की परिपक्वावस्था ही मनो निग्रह है, सहज ध्यान है।

यदि आप अपने में आत्म-बल की न्यूनता (कमी) अनुभव करते हैं, यदि आप जल्दी-जल्दी घबड़ा जाते हैं, भय कुण्ठा के कारण बेचैन रहते हैं, कुत्सित चित्र, कुत्सित आकृतियाँ, आपके हर ओर दिखाई देती हैं, हरदम संत्रस्त करती हैं। यदि आप को नींद नहीं आती, हर समय अवसाद, थकान और आलस्य लगता रहता है, किसी काम में जी नहीं लगता, हर ओर अपने शत्रु ही शत्रु दिखाई देते हैं, तो निश्चय जानिये की आप का मानसिक संस्थान विकृत है, रोगग्रस्त है। ऊपर बतायी हुई विधि से दो तीन महीने प्राणायाम कीजिये। आप अपने में अनेक आह्लादकारी परि-वर्तन पायेंगे। मानसिक प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करने के लिए मस्तिष्क को शान्त, शीतल और चैतन्य बनाने के लिए, मानसिक-गुणों की अभिवृद्धि के लिये भी भावना पूर्वक उपर्युक्त प्राणायाम करना चाहिए। इसके अद्भुत लाभ देखकर विदेशों में भी इसका दिन-दिन प्रचार-प्रसार बढ़ता जा रहा है। अब तो मनोवैज्ञानिक चिकित्सकों ने भी इसकी श्रेष्ठता को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। वे भी अपनी चिकित्सा पद्धति में इस विधि को स्थान देने लगे हैं।

ज्ञान का विकास और विवेक की जागृति

योग दर्शन (२।१५) में महर्षि पतंजलि ने लिखा है—

ततः क्षीयते प्रकाशावरण्।

"प्राणायाम के अभ्यास से ज्ञान के आवरण का नाश होता है, अज्ञानान्धकार से निवृत्ति होकर ज्ञान का विकास होता है और विवेक की जागृति होती है।"

ज्ञान की रूप-रेखा के विषय में शास्त्रों ने अनेकविध तो वर्णन किया हो है श्वेताश्वतरोपनिषद् में व्यक्त किया गया है कि वही अग्नि है, वह सूर्य है, वह वायु है तथा वही चन्द्रमा है, वह अन्यान्य प्रकाशयुक्त नक्षत्र आदि है, वह जल है, वह प्रजापति है, वही ब्रह्मा है (४।२); तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू ही कुमार है अथवा कुमारी है, तू बूढ़ा होकर लाठी के सहारे चलता है तथा तू ही विराट् रूप में प्रकट होकर सब ओर मुख वाला हो जाता है (४।३)। तू ही नीलवर्ण पतंग है, हरे रंग का और लाल आँखों वाला पक्षी एवं मेघ वसन्त आदि ऋतुयें तथा सप्त समुद्र रूप है क्योंकि तुम से ही सम्पूर्ण लोक उत्पन्न हुए हैं, तू ही अनादि (आकृतियों) का स्वामी है और व्यापक रूप से सबमें विद्यमान है।

जो व्यक्ति इस ज्ञान को व्यावहारिक रूप में ग्रहण करता है उसी का जीवन सफल हो पाता है। गीता में भगवान ने इसे भिन्न-भिन्न प्रकार से समझाया है। उन्होंने कहा है जो आत्मा मुझमें है वही सब प्राणियों में है। मैं सब प्राणियों में हूँ और सब प्राणी मुझमें हैं (६।२९), जो कुछ है वह वासुदेव मय है (१७।१४), ऐसी बुद्धि रखने वालों को ही भगवान ने पंडित कहा है, पंडितों अर्थात् ज्ञानियों की दृष्टि विद्याविनय युक्त ब्राह्मण गाय, हाथी, ऐसे ही कुत्ता और चाण्डाल सभी के विषय में समान रहती है (५।१८), ऐसे व्यावहारिक ज्ञान रखने वाले पंडित और ज्ञानी को ही भगवान अपना परम पद प्रदान करते हैं। गीता में भगवान आश्वासन देते हुए कहते हैं—

जिसकी ज्ञान दृष्टि में समस्त प्राणियों को भिन्नता का नाश हो चुका है और जिसे वह सब एकस्थ अर्थात् परमेश्वर स्वरूप दिखने लगता है, ब्रह्म में मिल जाता है (१३।३०)।

जो मुझ (परमेश्वर) को सब स्थानों में और सबको मुझ में देखता है उससे मैं कभी नहीं बिछुड़ता और न ही मुझसे कभी दूर होता है (६।३०), जो एकत्त्व बुद्धि अर्थात् सर्वभूतात्मक बुद्धि को मन में रखकर प्राणियों में रहने वाले मुझको (परमेश्वर को) भजता है वह कर्मयोगी सब प्रकार से वर्तता हुआ भी मुझमें रहता है। (६।३१)। यह अनुभव हो

जाने से कि जो कुछ है वह सब वासुदेव ही है, ज्ञानवान मुझे पा लेता है (७।१९), जिस ज्ञान से यह मालूम होता है कि वह भक्त अर्थात् भिन्न-भिन्न सब प्राणियों में एक ही अविभक्त और अव्यय भाव अथवा तत्त्व है उसे सात्विक ज्ञान जानो (१८।२०), जिसे समस्त प्राणि मात्र में समदृष्टि हो वह मेरी परम भक्ति को प्राप्त कर लेता है (१८।५४)।

कैवल्योपनिषद् में भी कहा है कि जो आत्मा को सब भूतों में और सब भूतों को आत्मा में देखता है वह परब्रह्म को प्राप्त करता है। दूसरे किसी उपाय से नहीं। ईशावास्योपनिषद् का कथन है कि बुद्धिमान पुरुष प्राणी-प्राणी में परब्रह्म पुरुषोत्तम को समझ कर लोक से प्रयाण करके अमर हो जाते हैं।

ज्ञान का अभिप्राय शास्त्रों का गहन अध्ययन करना अथवा उनकी अधिक से अधिक जानकारी मात्र बढ़ा लेना नहीं है, प्राणी मात्र में ईश्वर को व्यापक समझ कर उसके अनुरूप उससे व्यवहार करना ही वास्तविक ज्ञान है। जब हर प्राणी ईश्वर की चलती-फिरती प्रतिमा अनुभव होने लगती है तो वह उसे हानि पहुँचा कर अपना स्वार्थ सिद्ध करने की कल्पना भी नहीं कर सकता, कोई भी अपना शत्रु प्रतीत नहीं होता, किससे ईर्ष्या द्वेष करें, किस पर क्रोध करें, शिष्ट व्यवहार ही उसके स्वभाव का एक अंग बन जाता है, ज्ञानी साधक घृणा करना भूल जाता है, वह भी प्रेम के अमृत का रसास्वादन करता है, किसी से अन्याय व अत्याचार करना वह ईश्वर के साथ ऐसा व्यवहार करना मानता है। प्राणी मात्र का स्वार्थ ही अब उसका अपना स्वार्थ हो जाता है, तो झूठ, छल, कपट, घूस, स्वार्थ व अविवेक पूर्ण कृत्य उसमें कैसे हो सकते हैं। ऐसा साधक ज्ञान व विवेक की साक्षात् प्रतिमा बन जाता है। उसका जीवन धन्य हो जाता है।

योगाचार्य पतंजलि ने अपने अनुभव के आधार पर आश्वासन दिया है कि प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से अज्ञान दूर होता है और ज्ञान व विवेक का विकास होता है।

मानसिक एकाग्रता

मन का चञ्चल स्वभाव प्रसिद्ध है। उसे नियन्त्रण में रखना अत्यन्त कठिन है। यही शिकायत अर्जुन ने भगवान कृष्ण से की थी—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

"यह मन अत्यन्त चंचल, अस्थिर, शक्तिशाली, मथने वाला व दृढ़ है। इसे नियन्त्रण में रखना व स्थिर रखना उतना ही कठिन है जितना की वायु की गति को रोकना।

मन की गति अत्यन्त तीव्र है। वह हजारों मील की यात्रा क्षण भर में करता है। क्षण भर में बम्बई, कलकत्ता आदि में घुमने की क्षमता रखता है। वह अपने इच्छानुसार शरीर को नचाता है, जहाँ चाहे घुमाता है, इन्द्रियों और विषयों को अपने नियन्त्रण में रखता है, मनुष्य का सुख दुःख, उन्नति अवनति और बन्धन, मोक्ष, इसी पर निर्भर है क्योंकि जैसा मन होता है वैसा ही कार्य में मनुष्य प्रवृत्त होता है। उपनिषद् का कथन है, मनुष्य के (कर्म से) बन्धन या मोक्ष का मन ही कारण है। मन के विषयासक्त होने में बन्धन और निष्काम या निर्विषय अर्थात् निःसङ्ग होने से मोक्ष होता है। वेद शास्त्र भी मन की असाधारण शक्ति का समर्थन करते हैं। यथा—

यजुर्वेद १७।२५ में मनन शक्ति से संसार की उत्पत्ति बतायी गयी है। कहा है "सूर्य उत्पादक सर्वधारक ईश्वर ने मनन शक्ति से निश्चय ही जब जल को तथा इन दोनों में बने हुये द्युलोक तथा पृथ्वी लोक को उत्पन्न किया जब ही इन दोनों के अन्तः प्रदेश को भी दृढ़ किया। अनन्तर उत्कृष्ट धावा पृथ्वी विस्तार को प्राप्त हुई।" यजुर्वेद के तृतीय अध्याय के ५४वें मन्त्र में प्रार्थना है कि "पुनः वह मनन शक्ति हमको सत्कर्म के लिए, वल के लिए भली भाँति प्राप्त हो।" आगे ५५वें मन्त्र में प्रार्थना है कि 'हे विद्यादान से पालन करने वाले महानुभावों, आप जो देवत्व गुण-युक्त जेष्ठ विद्वान् हैं, हमें पुनः मनन शक्ति प्रदान करें जिससे हम सत्य भाषण आदि व्रतों से युक्त जीवन बना सके।' यदि हम अपनी शक्ति को जीवन में सत्य व्रतों को धारण करने में लगा दें। काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर चिंता, कलह, क्लेश, दुःख, ईर्ष्या, द्वेष, राग आदि हमारे शत्रु हमें दिन रात जलाते रहते हैं। अपने प्रतिकूल वातावरण देखकर अनुकूल वातावरण में जाने के लिए उत्सुक रहेंगे और उनके छोड़ने पर हमारे ऊपर निरन्तर सुख-शान्ति एवं आनन्द की वर्षा होती रहेगी। यह सुनिश्चित है और वह दिन दूर नहीं जब यह मैला मन धुलने पर ज्योतिर्मय प्रभु के दर्शन हों।

गीता १०।२२ में भगवान् ने कहा है 'इन्द्रियों में मन मैं हूँ।' प्रश्नोपनिषद (२।२) में भी मन को देवता कहा है। छान्दोग्योपनिषद् में

सनत्कुमार जी ने नारद जी को उपदेश देते हुए कहा 'मन ही आत्मा है, मन ही लोक है, और मन ही ब्रह्म है। तुम मन की उपासना करो। वह जो कि मन की 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है, उसकी जहाँ तक मन की गति है, वहाँ तक स्वेच्छा गति हो जाती है।' मुक्तिकोपनिषद् में कहा है, 'सहस्रों अंकुर, त्वचा, पत्ते, शाखा एवं फल-फूल से युक्त इस संसार वृक्ष का मन ही मूल है। यह निश्चित हुआ, और वह मन संकल्प रूप है। संकल्प को निवृत्ति रूप करके उस मनस्तत्त्व को सुखा डालो, जिससे यह संसार वृक्ष भी निराश होकर सूख जाए।' तैत्तरीयोपनिषद् में भी मन को ब्रह्म कहा है, और कहा है कि 'सचमुच मन से ही प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर मन से ही जीते हैं, तथा इस लोक से प्रयाण करते हुए (अंत में) मन में ही सब प्रकार से प्रवृष्ट हो जाते हैं।'

स्वामी विवेकानन्द का वचन है, 'मन की दुर्बलता सब प्रकार के बन्धनों की जड़ है। जब तक हमारा मन असक्त नहीं हुआ है, तब तक दुःखों की क्या मजाल है, जो वह हमारी ओर आँख उठाकर भी देखे। शक्ति ही हमारा जीवन और दुर्बलता ही मृत्यु है। मनोबल ही सुख सर्वस्व चिरन्तन जीवन और अमृतत्त्व तथा दुर्बलता ही रोग समूह दुःख और मृत्यु है।

मैत्रेयोपनिषद् (५।७) में कहा है, 'परशांत धन वाला पुरुष जब आत्मा में स्थिति लाभ करता है, तब उसे अक्षय आनन्द की प्राप्ति होती है।' महोपनिषद् 'अमृत के पान करने से तथा लक्ष्मी के आलिंगन से वैसा सुख प्राप्त नहीं होता, जैसा सुख मनुष्य मन की शांति से प्राप्त करता है।' **कबीर 'जग में बैरी कोई नहीं, जो मन शीतल होय।'**

मनु० (४।१६०) जो दूसरों की (बाह्य वस्तुओं की) अधीनता में है, वह दुःखी हैं और जो अपने (मन के) अधिकार में है, वह सुखी है। यही सुख-दुःख का संक्षिप्त लक्षण है।' महाभारत—मन से दुःखों का चिन्तन न करना ही दुःख निवारण की अचूक औषधि है।' भर्तृहरि—'मन के प्रसन्न होने पर क्या दारिद्रय और क्या अमीरी, दोनों समान हैं।' प्रसिद्ध यूनानी तत्त्ववेत्ता प्लेटो का कहना है कि 'शारीरिक अर्थात् बाह्य आधिभौतिक सुख की अपेक्षा मन का सुख श्रेष्ठ है।'

अतः निश्चित हुआ कि मन पर विजय प्राप्त करने वाला व्यक्ति ही विश्व विजय का अधिकारी होता है। वह जीवन के हर क्षेत्र में असाधारण

विकास व सफलता प्राप्त करता है। आत्म विकास भी बिना मनोजय के हो ही नहीं सकता।

मनोजय के हमारे शास्त्रों में अनेकों उपाय वर्णित किये गये हैं। उनमें एक प्राण शक्ति का उपयोग है। यह प्राण साधारण शक्ति नहीं है। अथर्ववेद के ११वें काण्ड में उसे विराट्, प्रेरक, सूर्य, चन्द्रमा, प्रजापति की संज्ञायें दी गयी हैं :—

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राण सर्व उपासते।
प्राणो हि सूर्यश्चन्द्रमा प्राणमाहु प्रजापतिम् ॥

जिस प्राण के वश में सारा संसार है, जो सभी प्राणियों का ईश्वर है, जिसमें सारा संसार प्रतिष्ठित है, उसे साधक नमस्कार करता है :—

प्राणाय नमो यरन्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वनो यस्मिन सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

(अथर्व० का० ११)

प्राण के आधार पर यह सारा ब्रह्मांड स्थित है, जो प्राण को वश में कर लेता है, वह सारे संसार को नियन्त्रण में करने की क्षमता रखता है। वह असाधारण शक्तियों का स्वामी हो जाता है, जिसे लोग चमत्कार की संज्ञा देते हैं।

प्राण मन से शक्तिशाली है। अतः इसे नियन्त्रित करने की क्षमता रखता है। शास्त्र का प्रमाण है :—

चित्तं प्राणेन सम्बद्ध सर्वजीवेषु संस्थितम्।
रज्जता यद्वत्सु सम्बद्धः पक्षी तव विदं मनः ॥

नानाविधैर्विचारैस्तु न बाध्यं जायते मनः।
तस्मात्तस्य जयोपायः प्राण एव हि नान्यथा ॥

"प्राण मन को अपने अधीन रखता है। समस्त प्राणियों का चित्त प्राण के साथ उसी तरह बँधा रहता है जैसे रज्जु से पक्षी बँधा रहता है। विचार द्वारा मन को वश में करने का प्रयत्न किया जाय तो मन इसके लिए बाध्य नहीं है। अतः मनोजय का एकमात्र उपाय प्राण शक्ति को सक्रिय करने की शक्ति प्राणायाम है।"

उद्धव के पूछने पर भगवान् कृष्ण ने उनका समाधान करके कहा है कि ओंकार जप के साथ रेचक, पूरक, कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास करने

से प्राण निरोध में सहायता मिलती है और मानसिक शान्ति प्राप्त होती है—

प्राणेनोदीर्यं तत्राथ पुनः संवेशयेत्वरम् ।

हठयोग प्रदीपिका (२।४२) में भी इसकी पुष्टि करते हुए कहा गया है कि जब प्राण का सुषुम्ना में संचार होने लगता है, मानसिक स्थिरता प्राप्त होती है—

मारुते मध्य संचारे मनः स्थैर्यंप्रजापते ।

ऋग्वेदादि—भाष्य भूमिका में स्वामी दयानन्द ने प्राणों की स्थिरता से मन को स्थिरता का अनुमोदन करते हुए कहा है—

"जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार वमन हो जाता है वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकाल के सुखपूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोक दें। पुनः धीरे-धीरे भीतर लेकर पुनरपि ऐसे ही करें। इसी प्रकार बारंबार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से, मन के स्थिर होने से, आत्मा भी स्थिर हो जाता है।"

योग-दर्शन (२।५३) में कहा है—

'धारणासु च योग्यता मनसः ।

प्राणायाम के निरन्तर जप से मन की चञ्चलता नष्ट हो जाती है और उसमें धारण की शक्ति आ जाती है। शङ्कराचार्य की प्रबल स्मरण शक्ति का एक ऐसा ही उदाहरण है। उनके एक शिष्य पद्मपाद ने वेदान्त पर एक भाष्य लिखा था जो आग लगने से भष्म हो गया। इसे एक बार पद्मपाद ने शङ्कराचार्य को सुनाया था। शंकर ने शिष्य को निश्चिन्त करते हुए कहा कि तुमने मुझे एकबार सुनाया था अतः वह मुझे स्मरण है। मैं बोलता हूँ, तुम उसे लिखते जाओ। इस तरह से वह वेदान्त भाष्य तैयार हो गया। स्वामी विवेकानन्द की स्मरण शक्ति का अनुभव जर्मन दार्शनिक पाल ड्यूसन ने देखा था। एक बार स्वामी जी एक कविता की पुस्तक के अध्ययन में इतने लीन हो गये कि प्रो० पाल चाय की प्रतीक्षा में काफी देर तक खड़े रहे और उन्हें इसका भान तक न हुआ। फिर वह पहली बार की पढ़ी लम्बी कविता तुरन्त ज्यों की त्यों सुना दी। प्रो० पाल चकित रह गये और इसका कारण पूछा तो स्वामी जी ने बताया कि

ब्रह्मचर्य के पालन और प्राणायाम के अभ्यास से चित्त की एकाग्रता प्राप्त होने पर यह सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है।

मन को एकाग्र करने के लिए प्राणायाम की विभिन्न विधियों का उपयोग किया जाता है जो इस प्रकार है—

१. भ्रामरी प्राणायाम

इस प्राणायाम में रेचक की विशेषता है जो भँवरी के शब्दों से ही मिलता जुलता है। इसलिए इसका नाम भ्रामरी हुआ है। पूरक भौंरे की तरह तेजी के साथ किया जाता है।

वीरासन में बैठे भ्रूमध्य में ध्यान करें, दोनों नासिकाओं से लम्बे स्वर में इस तरह पूरक करें कि ध्वनि भौंरे की तरह हो। कुम्भक जितना सुविधा पूर्वक हो करें तत्पश्चात् रेचक इस प्रकार करें जिससे भौंरी की तरह मन्द-मन्द ध्वनि सुनाई दे। ध्वनि में मीठास व सुरीलापन हो। इस तरह प्राणायाम में उड्डीयान तथा मूल-बन्ध भी लगाने चाहिए। घेरण्ड संहिता में अँगुलियों से कानों को बन्द करके उपर्युक्त ध्वनियाँ सुनने का विधान मिलता है।

अनुलोम विलोम भ्रामरो प्राणायाम की विधि इस प्रकार से है कि बाँयीं नासिका से श्वास खींचे, यथा शक्ति उसे रोकें, फिर दाँयीं नासिका से निकाल दें। इसके बाद दाँयीं नासिका से श्वास खींचें और यथाशक्ति रोककर दाँयी से बाहर निकाल दें, यह एक प्राणायाम की विधि हुई। इससे मन की एकाग्रता बढ़ती है।

२. मूर्च्छा प्राणायाम

पद्मासन से बैठें। दाँयें हाथ के अँगूठे से दाँयीं नासिका को दबायें और पूरक करें। यथाशक्ति कुम्भक करें। इस क्रिया के साथ जालन्धर-बन्ध भी लगाना चाहिए और दृष्टि भ्रूमध्य पर। सुविधानुसार कुम्भक करके दोनों नासिकाओं से धीरे-धीरे श्वास बाहर निकालना चाहिये। श्वास रोकने की स्थिति में मन को इस प्रकार विलीन करने की चेष्टा करें जिससे वह मूर्छित सा हुआ प्रतीत हो। यही क्रम दूसरी नासिका से भी करना चाहिए। अभ्यास बढ़ाने-से मानसिक शान्ति मिलती है, मन की चंचलता कम होती है और एकाग्रता की स्थिति आने लगती है।

३. षण्मुखी रेचक प्राणायाम

इसका पूरक-रेचक भ्रामरी प्राणायाम की तरह ही है। अन्तर यह है कि इसमें दोनों कानों को, दोनों हाथों के अँगूठे से, दोनों नेत्र को दोनों तर्जनियों से, दोनों नासिकाओं को मध्यमाओं से और मुख को अनामिका व कनिष्ठिका से बन्द किया जाता है। इसमें जालन्धर-बन्ध लगाना चाहिए, यथा शक्ति बाह्य-कुम्भक करते समय ध्यान भ्रूमध्य पर जमा रहे। इसके बाद जब पूरक करने की आवश्यकता प्रतीत हो तो बाँयें हाथ की मध्यमा को उठायें और श्वास लें। फिर श्वास को रोके बिना ही इसी ओर से श्वास निकाल दें और श्वास को बाहर रोकने का प्रयत्न करें। इसी तरह दाँयें-बाँयें क्रम से करना चाहिए। इससे मन की चपलता समाप्त होने, दिव्य चक्षु खुलने का महान लाभ भी प्राप्त होता है।

४. सूक्ष्म श्वास-प्रश्वास प्राणायाम

इस प्राणायाम में आहार का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। आहार की मात्रा साधारण क्रम से कम हो तो अच्छा है। इसके अभ्यास में श्वास निकालने की दूरी को क्रमशः कम करना पड़ता है। सुखासन में बैठ कर प्रथमतः एक फुट पर तिपाई पर रूई रखें। यह देखना चाहिए कि श्वास छोड़ने पर रूई उड़ती तो नहीं। दूरी उतनी हो जिस पर रूई को उड़ना चाहिए। केवल हिलाना चाहिए। इस अभ्यास को एक सप्ताह तक करें। धीरे-धीरे अभ्यास को इतना बढ़ा लें कि रूई बिल्कुल निकट आ जाय परन्तु श्वास छोड़ने पर भी वह न उड़े, न हिले। इसके अभ्यास में मन लगा रहकर एकाग्र स्थिति में आ जाता है।

५. सप्त व्याहृति प्राणायाम

सप्त व्याहृतियाँ हैं—ऊँ भूः, ऊँ भुवः, ऊँ स्वः, ऊँ महः, ऊँ जनः, ऊँ तपः, ऊँ सत्यम्। प्राणायाम के साथ उसका मानसिक जप सप्त व्याहृति प्राणायाम कहलाता है। वीरासन में बैठना चाहिए। श्वास खींचने में इतना समय लगाना चाहिए कि सप्त व्याहृतियों का जप हो जाय। श्वास रोकने में चार बार और दौड़ने में दो बार उनका मानसिक जप होना चाहिए। यह एक प्राणायाम हुआ। इसका यथाशक्ति अभ्यास करें। मन की चपलता का अभाव होने से शान्ति और एकाग्रता का अनुभव होता है।

उपर्युक्त प्राणायाम में से कोई भी अपने सुविधानुसार करके अभीष्ट लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

अमरता की प्राप्ति

इस जगत् की तीन स्थितियाँ हैं—उत्पत्ति, स्थिति व नाश। हर वस्तु यहाँ उत्पन्न होती है, उसका पालन-पोषण, विकास होता है और निश्चित अवधि होने पर समाप्त हो जाती है। इसका नियमन एक ऐसी शक्ति करती है जिस पर किसी का अधिकार नहीं है। यह कार्य अपने स्वाभाविक रूप व गति से चलते रहते हैं। प्रथम दो गतियों में तो सभी को सन्तोष व प्रसन्नता होती है, परन्तु तीसरी गति-विनाश की कल्पना से ही भय लगता है। मानव इच्छा यही रहती है कि उसकी मृत्यु न हो, वह सदैव स्थिर ही रहे, वास्तविकता यह है कि विनाश इसकी स्वाभाविक गति है, इसे नष्ट होकर नवीन उज्ज्वल रूप धारण करना ही है, परन्तु अज्ञान के कारण मानव अनिश्चित भविष्य की कल्पना करके भयभीत हो जाता है।

आधुनिक विज्ञान ने प्रकृति पर कुछ हद तक विजय प्राप्त कर ली है। वैज्ञानिक मृत्यु पर भी विजय प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं। इसके मूल सिद्धान्तों की लम्बी खोज हो रही है। अभी तक पूर्णरूप से उसमें सफलता नहीं मिल पा रही है।

फ्रांस के डाक्टरों ने कुछ नवीन औषधियों का आविष्कार किया है जिनके सेवन से बाल काले ही रहते हैं, सफेद नहीं होते। दाँत सुदृढ़ रहते हैं, गिरते नहीं। नेत्रों की ज्योति अन्त तक पूर्ववत् बनी रहती है। शरीर पर वृद्धावस्था की निशानी—झुर्रियाँ नहीं पड़तीं। शारीरिक सौन्दर्य वृद्धावस्था तक बना रहता है। स्मरण शक्ति क्षीण नहीं होती वरन् वह यौवन की तरह स्थिर रहती है। कहते हैं उन्होंने इसका अनुभव अनेकों व्यक्तियों पर किया है और वह इसमें सफल हुये हैं।

रूस के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक को चार बार मरने से बचा लेने की घटना इस प्रकार है—

रूस का एक वैज्ञानिक डाक्टर सेफ लैन्डाओ जिसने १९६२ का नोवेल प्राइज प्राप्त किया था, चार बार मरा परन्तु चारों बार उसे जीवित कर लिया गया। वह सात सप्ताह तक एक पम्प की सहायता से श्वास लेता रहा। इसके पश्चात् प्राकृतिक ढङ्ग से उसका श्वास चलने लगा।

इस वैज्ञानिक की कार से टक्कर हुई। परिणामस्वरूप उसके सर पर चोट आई। खोपड़ी दब गई। मस्तिक पर आघात पहुँचा। उसकी

नौ पसलियाँ टूट गईं। ब्लैडर फट गया। बाँयीं बाह काम करने से रह गई। श्वास रुक गया। रक्त चलना बन्द हो गया। रूस के सभी बड़े-बड़े डाक्टरों का सम्मेलन हुआ। एक महान वैज्ञानिक के मूल्यवान शरीर को बचाने का प्रयत्न किया गया। खोपड़ी की सूजन और दबाव कम करने के लिए उसमें औषधियाँ भर दी गयी और उन्हें बराबर आक्सीजन मिलती रही। बिजली के यन्त्रों द्वारा उनकी बलगम निकाली जाती रही। दूध आदि पदार्थ उन्हें नाक के द्वारा दिये जाते रहे। उनका ताप १०६° तक पहुँच गया था। वह १०४° तक आ गया। चार दिनों के पश्चात् उनके दिल की धड़कन बन्द हो गयी जिसका स्पष्ट अर्थ था कि उनकी मृत्यु हो गयी है। अब उनकी बाँयीं बाँह में रक्त दिया गया और शक्ति वर्द्धक इन्जेक्शन लगाये गए जिससे उनके दिल की धड़कन पुनः होने लगी। तीन बार उनकी फिर मृत्यु हुई। परन्तु फिर उन्हें जीवित कर लिया गया। किन्तु उनका शरीर वैसे ही पूर्ववत बना रहा। अन्तर्राष्ट्रीय अनुभवी चिकित्सकों को बुलाया गया परन्तु आपरेशन करने की सलाह नहीं दी गई।

इस प्रकार के समाचार पहले भी रूसी वैज्ञानिकों के द्वारा प्रसारित किये जा चुके हैं कि कुछ समय के लिए अमुक व्यक्ति को बचा लिया गया। जोशीली दवाओं के आधार पर व्यक्ति को कुछ समय तक रोका जा सकता है परन्तु मृत्यु को रोका जाना सम्भव ही नहीं है। यदि ऐसा ही है तो वह कम से कम अपने नेताओं को कुछ सौ वर्षों तक जीवित रखने का प्रयत्न करें ताकि उन्हें स्वस्थ नेतृत्व प्राप्त होता रहे। वास्तव में यह असम्भव है। इसकी कल्पना करना या इसके लिए प्रयत्न करना अपनी बुद्धि को धोखा देना है।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने जीवन को लम्बा या स्थिर रखने के लिए सिद्धांतों की खोज की है उनका विश्लेषण इस प्रकार है—

हमारा शरीर विभिन्न प्रकार के अणुओं से बना है जिनकी संज्ञा कोशिकाएँ हैं। जब तक शरीर की स्थिरता बनी रहती है यह निरन्तर गतिशील बनी रहती है। इनका विनाश का निर्माण इतनी तीव्र गति से होता रहता है। जीवन स्थिर होता रहता है। जब निर्माण में कमी आने लगती है तो रोग नये-नये रूपों में दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इन कोशिकाओं के निर्माण का बन्द होना ही प्राणी की मृत्यु कहलाती है।

यदि किसी उपाय से इन कोशिकाओं का निर्माण निरन्तर होता रहे तो मानव अमर रह सकता है।

प्रो० केइल ने इस दिशा में विशेष प्रयत्न किये हैं। कोशिकाओं की गतिविधियाँ लम्बे समय तक स्वाभाविक रूप से संचालित होती रहें उसके लिए उन्होंने दो सुझाव दिये हैं। एक तो यह कि उनको आवश्यक आहार प्राप्त होता रहे और उनसे निकलने वाला हानिकारक विपाक्त मल एकत्रित न हो सके, उसकी निवृति के उपाय अपनाए जाते रहें। दूसरा उपाय यह है कि कोशिकाओं की गतिविधियों को एक दम रोक दिया जाय ताकि नव निर्माण के लिए आहार की आवश्यकता प्रतीत न हो।

प्रो० केइल ने अपने इन सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए कुछ परीक्षण किए हैं जिनसे उनको कुछ आंशिक सफलता भी मिली है। रासायनिक द्रव्यों की सहायता से उन्होंने अपनी मुर्गी के हृदय का एक टुकड़ा ३० वर्षों से जीवित रखा है। इस प्रकार के अनेकों अनुभव उन्होंने किए परन्तु शरीर को स्थायी रूप से स्थिर रखने में वह अभी सफल नहीं हुए हैं और न होने की सम्भावना है।

प्रो० केइल के सिद्धान्त पाश्चात्यों के लिए नवीन हो सकते हैं परन्तु भारतीयों के लिए कुछ भी नवीनता नहीं है क्योंकि यह खोज और उसका व्यवहार यहाँ लाखों वर्षों पूर्व से होता आ रहा है। व्याख्या का नया रूप होने से उसे नवीन खोज की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

महर्षि पतंजलि के अष्टाङ्गयोग की एक क्रिया प्राणायाम है। दूसरी क्रिया पद्धति का यदि नवीन रूप में प्रतिपादन किया जाय तो कहा जा सकता है कि प्राणायाम के सुनियोजित अभ्यास से कोशिकाओं को गतिविधि दिया जाता है। प्राचीन काल में तो ऋषि इस अभ्यास को घण्टों, दिनों, महीनों और वर्षों तक समाधि के रूप में बढ़ाने की स्थिति में होते थे। जब कोशिकाओं की गतिविधियाँ रुकी रहती हैं व उनके पोषण के लिए आहार की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। प्रो० केइल भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि कोशिकाओं की क्रियाओं को जितने समय के लिए रोका जाना सम्भव हो, समझना चाहिए कि मनुष्य की उतनी आयु बढ़ गई। प्रो० केइल ने वर्षों के अनवरत परिश्रम से अमर रहने का सिद्धान्त तो खोज निकाला परन्तु उसे क्रियान्वित कैसे किया जाए, इसका कोई समाधान कैसे किया जाए, कोई समाधान वे अभी तक

नहीं कर पाए। यह पद्धति तो हमें ऋषि परम्परा से प्राप्त है परन्तु खेद है कि हम इसकी ओर ध्यान नहीं देते। प्राणायाम निश्चित रूप से वह उपाय है जिससे कोशिकाओं की गतिविधियाँ रोका जाना सम्भव है।

अमर बनाने का यह शारीरिक पक्ष है। उसका आध्यात्मिक पक्ष भी है। भारतीय तत्त्व-ज्ञान के अनुसार शरीर विनाश शील है और आत्मा अमर है, अविनाशी है। जो व्यक्ति अपने को शरीर मानता है वह उसके विनाश से दुःखी होता है परन्तु जो साधक शरीर भावना से ऊंचा उठा कर आत्म-भावना में स्थित हो जाता है उसे शरीर के नाश होने पर दुःख, चिन्ता, भय, निराशा का कोई कारण दिखाई नहीं देता। यह भी समझता है कि आत्मा समय-समय पर नये-नये शरीर धारण करती है। यह उसका स्वभाव ही है। अभी तक हर व्यक्ति हजारों प्रकार के शरीर धारण कर चुका है। हर बार वह नूतन शक्ति प्राप्त करता है और निरन्तर प्रगति करता हुआ ऊपर उठता रहता है।

भारतीय तत्त्वज्ञानियों ने अपनी खोजों को यहीं तक सीमित नहीं रखा कि जीवात्मा एक शरीर छोड़कर दूसरा उपयुक्त शरीर धारण कर लेता है। अतः मृत्यु पुराने वस्त्रों को बदल कर नये ग्रहण करने की क्रिया मात्र है। यह उनकी एक आसाधारण खोज थी, जिससे मनुष्य निष्कंटक जीवन व्यतीत करता है और उसके जीवन के प्रत्येक कार्य में नया उत्साह, नयी स्फूर्ति और नयी आशायें सदैव ओत-प्रोत रहती हैं और जीवन के संघर्ष में वह बाजी मार ले जाता है।

भारतीय वैज्ञानिक इससे भी आगे बढ़े और साहस के साथ घोषित किया कि यह शरीर का स्वामी आत्मा नित्य अविनाशी और अचिंत्य है (गीता २।१८) "यह किसी से मारा जानेवाला नहीं है" (२।१९) "इसको शस्त्रों से काटा नहीं जा सकता, इसे अग्नि से जलाया नहीं जा सकता, इसे पानी से भिगोया, गलाया नहीं जा सकता और न वायु से सुखाया जा सकता है। इसकी रक्षा ऐसे यन्त्र करते हैं जिन पर इस जगत् की किसी भी वस्तु का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह ऐसा अदृश्य तत्त्व है, जो सदैव एक सा वना रहता है, जिसकी वृद्धावस्था और नाश कभी नहीं होता। जिसमें किसी प्रकार का कोई भी परिवर्तन नहीं होता। इससे सम्बन्धित शरीर का वध भी हो जाय, तो यह मारा नहीं जाता।" (गीता २।२०)। "यह अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है।"

भारतीयों की इस महान वैज्ञानिक खोज ने मनुष्य के लिए अमर जीवन के द्वार खोल दिये। उसे आश्वासन दिलाया **"कि तुम अमर आत्मा हो, तुम्हारा कभी नाश नहीं हुआ है।** अतः तुम्हारी कभी मृत्यु भी नहीं होगी; (गीता २।२०) तुम्हारा जीवन शाश्वत और स्वतन्त्र है, तुम्हें केवल अनुभूति मात्र करना है। तुम अज्ञान की जंजीरों से जकड़े हुये हो। केवल इन बन्धनों को खोलना ही है। इन बन्धनों से मुक्त होकर तुम अपना वास्तविक स्वच्छ और पवित्र रूप देखोगे। उस रूप के दर्शन होने पर तुम सदैव शाश्वत आनन्द की मस्ती में झूमते रहोगे। अतः अपने को शरीर मानना छोड़ दो। शरीर नाशवान व अनित्य है। (गीता० २।१८) उसकी प्रकृति में उत्पत्ति, स्थिति, लय ओत-प्रोत है, उसका नाश अवश्यम्भावी है। यदि उससे घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़े रहोगे तो भय, दुःखों और चिन्ताओं का आना भी निश्चित है, उसे केवल आत्मा का औजार मात्र मानोगे तो सदैव सुखी रहोगे और इसके वियोग का भय भी नष्ट हो जायगा।

आत्म-भावना को जीवित, जाग्रत् व स्थिर रखने के लिए अनेकों उपाय भारतीय शास्त्रों में वर्णित किये गये हैं। उनमें से एक प्रभावशाली शासन प्राणायाम है जिसकी पुष्टि ऋषियों ने अपने अनुभव से की है। योग दर्शन (२।५२) में कहा है :—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ।

प्राणायाम के अभ्यास से अज्ञान का आवरण नष्ट हो जाता है। अपने को शरीर भावना तक ही सीमित रखना ही अज्ञान है। इसकी सीमा से ऊँचे उठकर आत्म भावना में स्थिर होना ही ज्ञान है, विवेक की जागृति है।

पंचशिखाचार्य ने अपने सांख्य सूत्र में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है—

तपो न पर प्राणायामत्त तो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य ।
तमणमात्रमात्मानमनुविद्या स्तीत्येवं तावत् संप्रजानीते ॥

प्राणायाम से श्रेष्ठ कोई तप नहीं है। प्राणायाम से आंतरिक मल शुद्ध व पवित्र होते हैं। मलों की निवृत्ति होने पर अज्ञान नष्ट होता है और ज्ञान का प्रकाश होता है। परिणाम स्वरूप वह अणुमात्र आत्मा को खोज कर भली प्रकार से जान लेता है और उसकी अत्यन्त अनुभूति करता है।

प्राणायाम से आत्मानुभूति होने की घोषणा की गयी है। आत्म विकास, आत्म कल्याण व आत्मिक प्रगति ही अमर बनने की अच्छी विद्या है, क्योंकि ऐसे साधक का कभी नाश नहीं होता।

पाश्चात्य वैज्ञानिक मानव देह को अमर बनाने के प्रयत्नों में संलग्न हैं, परन्तु भारतीय वैज्ञानिकों ने तो इन खोजों को लाखों वर्ष पूर्व पूर्ण कर लिया था, जिसकी पुष्टि उपर्युक्त तथ्यों से होती है।

इसलिए हमको चाहिए कि भारतीय परम्परा के जो आत्मविषयक योग ग्रन्थ हैं, उनका सदैव अध्ययन करें और किसी योग्य गुरु के द्वारा क्रियाओं का अभ्यास करें तभी सत्य तक पहुँचा जा सकता है। इसी बात को कबीर साहब ने भी स्वीकार किया है।



परिशिष्ट

कबीर का योग

योग और क्षेम इन दो शब्दों को युक्त कर एक साथ व्यवहार करने की प्रथा हमारे देश में प्रचलित है (गीता ९।२२)। शङ्कराचार्य योग को अप्राप्त की प्राप्ति और क्षेम को उसकी रक्षा बताते हैं। श्रीधर स्वामी भी यही बात कहते हैं।

अत्यन्त प्राचीन काल से ही मनुष्य ने योग के मर्म को अनुभव किया है। जिस मोहन-जो-दरो को पण्डितों ने आर्यों के आगमन का भी पूर्ववर्ती बताया है उसमें भी सुन्दर-सुन्दर योगियों की मूर्तियाँ पायी गयी हैं। उन मूर्तियों को देखते ही जान पड़ता है कि ये योगियों की मूर्तियाँ हैं जो किसी-न-किसी योगसाधना को सूचित करती हैं।

असीम अनन्त विश्वतत्त्व से ही मनुष्य का उद्भव हुआ है। विश्व-सागर में से अपना व्यक्तित्व लेकर मनुष्य एक लहर की नाईं प्रकट हुआ है। इसीलिए यह विश्व तत्त्व निरन्तर नानाभाव से उसे आकृष्ट कर रहा है। उसका जीवात्मा भी सर्वदा विश्वात्मा के साथ युक्त होना चाहता है। यह व्याकुलता ही योग का मूल है।

इस योग की हम दो प्रकार से उपलब्धि कर सकते हैं—भावों से या क्रिया से। हमारे देश के साधकों ने इन दोनों प्रकार के योगों के वैचित्र्य की नाना रूप से प्रार्थनाएँ की हैं।

मिलन का एक मूलमन्त्र यह है कि जो लोग मिलेंगे उनमें परस्पर साधर्म्य होना चाहिए। समजातीय होने से भी मिलन होता है, जैसे जल के साथ जल का, और परस्पर परिपूरक होने से भी योग होता है, जैसे शिव के साथ शक्ति का। इस प्रकार की परिपूरकता के क्षेत्र में एक दूसरे के लिए व्याकुल आकांक्षा रहती है, इसीलिए ऐसा योग एक साधना मात्र न होकर एक अनुपम रस-वस्तु हो उठता है।

मनुष्य और विश्व—विश्वात्मा में जो योग है उसमें समजातीयता और परि-पूरकता दोनों ही भाव हैं। विश्वदेह और मानवदेह में जो योग है वह सम-जातीयता का ही योग है, यद्यपि उसमें कुछ परिमाणगत भेद भी है। विश्वात्मा और मानवात्मा में जो योग है वह परस्पर परिपूरक है। यद्यपि दोनों ही कुछ हद तक एक ही नियम मानकर चलते हैं तथापि जीवात्मा सीमाबद्ध है, विश्वात्मा या

परमात्मा असीम। अथवा इस भेद के कारण ही दोनों योग में इतनी प्रवल आकांक्षा और व्याकुलता का रस वर्तमान है।

विश्व और मानव दोनों में ही एक साधर्म्य हैं। दोनों ही एक-एक सम्पूर्ण जगत् हैं। इसीलिए ग्रीक दार्शनिकों ने विश्व को विराट् जगत् कहा है, और मानव को क्षुद्र जगत् कहा है। नव प्लेटोनिक (नौ-अफलातूनी) दार्शनिकों ने दार्शनिक भाव से इसकी नाना प्रकार से आलोचना की है। फिर भी इसके रस-रूप का अनुभव किया गया है भारतवर्ष की और सूफ़ियों की साधना में, भक्तों और कवियों की वाणी में।

नौ-अफलातूनियों ने ही केवल विश्व और मानव में यह साधर्म्य नहीं दिखाया। उपनिपदों में देखते हैं,—'इस विश्व आकाश में जो तेजोमय, अमृतमय पुरुप हैं, वही हमारे आतमा में भी तेजोमय अमृतमय पुरुष हैं।' (वृहदारण्यक० २।५: १०।१४) तभी से यह भाव और दोनों के बीच की मिलन-व्याकुलता ही भारतवर्ष के सभी भक्त और साधक कवियों की प्राण-वस्तु रही है।

इसी का क्रियासाध्य रूप मोहन-जो-दरो की मूर्तियों में दिखायी पड़ता है। वहाँ का साहित्य तो हम लोगों को मिला नहीं, मिली है सिर्फ कुछ मूर्तियाँ। मूर्ति में भीतर की मर्मकथा तो रक्खी नहीं जा सकती, इसीलिए वहाँ की भीतरी बात हम नहीं पा सके, पा सके हैं बाहरी योगचेष्टा का रूप। यह योगचेष्टा भी इस देश में कम प्राचीन नहीं है। खूब सम्भव है, यह वेद-पूर्व सभ्यता की एक विशेष सम्पत्ति हो। पहले-पहल वैदिक आर्य लोग इसके प्रभाव में नहीं आये, पर बाद में उन्हें इससे प्रभावित होना पड़ा था, इसे आर्य चिन्ता से दूर नहीं रक्खा जा सका। परवर्ती भारतीय साहित्य तो इडा, पिङ्गला, चक्र, कमल, कोश, नवद्वार, मूलाधार, सहस्रार प्रभृति तत्त्वों से भरा पड़ा है। अथर्ववेद में भी इसका कुछ-कुछ आदि आभास मिलता है।

अष्टा चक्रा नवद्वारा देवानां पुरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ।। (अथर्वसंहिता ८।२।३१)

अष्टचक्र और नवद्वार से युक्त है यह अजेय देवपुरी यहीं पर जो हिरण्यमयकोश आवृत है वही स्वर्ग है।

तस्मिन् हिरण्मये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ।। (अथर्व० १०।२।३२)

त्रि-अरमुक्त त्रिप्रतिष्ठित उस हिरणमय कोश में जो आत्मयुक्त यक्ष (पूज्य अपूर्व पुरुष) विराजमान है, उसे ब्रह्मविद् लोग ही जानते हैं।

इस स्थान पर परवर्ती योगशास्त्र की अनेक बातें देख पड़ती हैं। इसके बाद एक और अपूर्व मन्त्र है—इसमें उस अन्तःस्थित अधिष्ठान पुरुष की बात और भी चमत्कार पूर्ण ढंग से वर्णित है—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥

तीनों गुणों से आवृत, नवद्वारों वाला यह कमल है। उसमें वास करता है वही यक्ष (पूज्य अपूर्व पुरुष); उसे ब्रह्मविद् लोग ही जानते हैं। इसी में योग-शास्त्र की सबसे बड़ी बात है।

इडा-पिङ्गला, शिव-शक्ति, चन्द्र-सूर्य, ज्ञान-प्रेय प्रभृति के मिलन से होकर नाना आकारों और नाना प्रतीकों में वियुक्त मानव और विश्वात्मा के मिलन की ही चेष्टा होती आयी है। एक मूलाधार से वियुक्त होकर दो धाराएँ हुई हैं, उन्हें फिर से एक वेणी में मिलाना होगा। अधोधारा षट्चक्र वेध करके ऊपर ऊर्ध्व लोक में जायगी।

वह्निपुराण-क्रियायोगसार, विष्णु पुराण (षष्ठ अंश सप्तम अध्याय), सौर पुराण (बारहवां अध्याय), ब्रह्मवैवर्त (कृष्ण खण्ड), गरुडपुराण (चौदहवां अध्याय, उनचासवां अध्याय) और भागवत में नाना भाँति से इस विषय का वर्णन है। देह के शुभाशुभ सम्बन्ध के साथ भी उसके सम्बन्ध की बात लिङ्ग-पुराण (नवाँ अध्याय), मार्कण्डेयपुराण (पैंतीसवाँ अध्याय) आदि में लिखी है। योग का भाव-पक्ष भी गीता में बहुत प्रकार से बहुत तरह के भाषाओं में व्यक्त हुआ है। इस दृष्टि से योग-वासिष्ठ बड़ा मूल्यवान ग्रन्थ है। तन्त्रों और शैवागमों में, यहाँ तक कि उत्तर कालीन बौद्ध ग्रन्थों में भी योग का बहुत कुछ सन्धान पाया जाता है।

इसके बाद योगी और सिद्धाचार्यों के निकट आना पड़ता है। ये सब तो योग-मत के ही ग्रन्थ हैं। गोरक्ष संहिता में अथ से इति तक क्रिया सिद्ध योग की ही बात है। मेरे अपने अध्ययन का विषय मध्ययुग के संतों की वाणी है। इस युग में भी सैकड़ों भक्तों की वाणियों में योग की बात नाना भावों से वर्णित हुई है। इनमें से केवल कबीर की ही बात यदि ली जाय, तो कबीर का साहित्य भी तो एक समुद्र है।

कबीर की आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्वग्रासी है। वह कुछ भी छोड़ना नहीं चाहते, इसीलिए वह ग्रहणशील हैं, वर्जनशील नहीं। इसीलिये उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, सूफी, वैष्णव, योगी प्रभृति सब साधनाओं को जोर से

पकड़ रखा है। फिर भी उन मतों की सङ्कीर्ण साम्प्रदायिकता कबीर के साथ मेल नहीं खाती। इसीलिए कबीर इन सबको ही अपने ढंग से अपना सके हैं। उनके क्रियाकाण्ड, उनकी साधना और उनकी संज्ञाओं को भी कबीर ने अपने विशेष भाव से व्यक्त किया है। कबीर भक्त हैं, प्रेमिक हैं, योगी हैं, मानवरस से भरपूर हैं, मैत्री युक्ति आदि से परिपूर्ण हैं। इस तरह उन्होंने जिन मतवादों को ग्रहण किया है उनमें से प्रत्येक हद तक उनका गृहीत है, कुछ हदतक अपनी विशेष व्याख्या से उन्होंने अपने समान कर लिया है, कुछ हदतक परित्यक्त है और किसी हदतक उनके कठोर आघातों से आहत है। कबीर के योगमत वाद के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। उन्होंने कुछ अंशों में इसे मान लिया है, कुछ अंशों तक विशेष भाव से आत्मसात् कर लिया है, कुछ अंशों तक छोड़ दिया है और फिर किसी-किसी अंश पर कठोर प्रहार भी किया है। कबीर साहित्य की आलोचना करते समय एक बात विशेष रूप से मन में उठा करती है। यह साहित्य तो बहुधा विचित्र है और नाना सम्प्रदायों द्वारा संग्रह किया गया है। फिर कौन सी वाणी का आश्रय करके आलोचना की जाय? योगमत की आलोचना के इस प्रसङ्ग में मैंने काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा के संस्करण का ही आश्रय लिया है।

कबीर के अनेक पदों को देखकर ऐसा जान पड़ता है कि ठीक पूर्ववर्ती योगियों की, यहाँ तक कि कभी-कभी हू-ब-हू वे ही बातें पढ़ रहे हैं। जैसे—

'प्रथमे गगन की पुहमी प्रथमें प्रभु प्रथमे पवन कि पाणी।' (पदावली १६४)

कबीर की प्रश्नोत्तरी और प्रहेलिकाएँ बिल्कुल प्राचीन योगियों के समान हैं। इसीलिए इन प्रहेलिकाओं को 'गोरखधन्धा' कहते हैं। कबीर का निम्न-लिखित पद भी योगी-पदों के ही समान है—

सुंनिमंडल में घर किया जैसै रहै सिचांनां।
उलटि पवन कहाँ राखिये कोई भरम बिचारै॥
सांधै तीर पतालकूं, फिरि गगनहिं मारै।

ठीक इसी प्रकार का एक पद परिशिष्ट (२०७) में है।

मूल दुआरै बेध्या बंधु। रबि ऊपर गहि राख्या चंदु॥
पच्छम द्वारै सूरज तपै। मेर डंड सिर ऊपर बसै॥
खिड़की ऊपर दसवा द्वार। कहि कबीर ताका अंत न पार॥

योग के संबंध में भी कबीर के वैचित्र्य का अन्त नहीं। वह पवन उलट कर षट्चक्र भेद करके शून्य गगन में समाहित होना चाहते हैं।

उलटे पवन षट्चक्र बेधा मेरडंड सर पूरा ।
गगन गरजि मन सूँनि समांनां बाजे अनहद तूरा ।। (पद ७)

कभी कहते हैं, 'मनको ही उलटकर उसमें भरना होगा।..................पवन उलटकर पट्चक्र बेध करके 'शून्य सुरति' में ही 'लय' लगाना होगा—

मन रे मनहीं उलटि समांनां । ....
उलटे पवन चक्र षट् बेधा सूँनि सुरति लै लागी ।। इत्यादि (पद ८)

कभी वह द्वादश कूप से वनमाली के समान नीर धारा ऊपर की ओर उलट कर सुषुम्णा का कूल पूर्ण कर देना चाहते हैं—यह धारा दस दिशाओं में ही फुलवारी पावेगी ।

द्वादश कुँआ एक बनमाली उलटा नीर चलावै ।
सहजि सुषमना कूल भरावै दह दिसि बाड़ी पावै (पद २१४)

कभी-कभी ईंधन जलाकर जिस समय भट्ठी से सुरा लेते हैं, उसी प्रकार अन्तर के महारस को गगन में चुआकर उसी सुरा में मत्त होना चाहते हैं। परन्तु आश्चर्य यह है कि इस गगन रस को उन्होंने भक्त के समान 'रामरस' बना लिया है। उनके योग और भक्ति सम्बन्धी मत इसी प्रकार युक्त हैं। इसी रामरस में मतवाला होना ही कबीर की एकान्त वासना है ।

गगन साल चुए मेरी भाठी । संचि महारस तन भया काठी ।
वाकै कहिये सहज मतवारा । पीवत रामरस ज्ञान बिचारा ।।
... .
(परिशिष्ट पद ५८)

'चन्द्र और सूर्य ये दोनों ज्योति के स्वरूप हैं। इसी ज्योति के अन्तर में अनुपम ब्रह्म विराजमान हैं। ऐ ज्ञानी, वहीं पर ब्रह्म विचार करो—

चंद सुरज दुइ जोति सरूप । जोति अन्तरि ब्रह्म अनूप ।
करु रे ज्ञानी ब्रह्म बिचारू । (इत्यादि परिशिष्ट पद ६७)

कभी-कभी कबीर ने योगी के भेष को रूपक की भाँति ग्रहण करके, सुरति-निरति-आदि द्वारा सजाया है ।

अवधू जोगी जगथैं न्यारा ।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी नाद न खंडै धारा ।। (पद ६९)

निरति मुद्रा और सुरति सिंगा से सज्जित होकर वह योगी जगत् में 'चेतन चौकी' पर बैठकर उस मधुर महारस को पान करता है, जिस महारस को इस

अन्तर की भट्ठी में चुआया गया है। वहाँ बैठकर वह दुनिया की ओर ताकता भी नहीं—

बसै गगन में दुनी न देखै, चेतनि चौकी बैठा।
चढ़ि अकास आसन नहीं छाड़ै, पीवै महारस मीठा। (पद ६९)

गगन भट्ठी चुआकर जिस अमृतरस का निर्झर झरा करता है, उसे ही पान करना होगा। रस में ही झरा करता है वह रस।

गगन ही भाँठी सींगी करि चूँगी कनक कलस एक पावा।
तहुआं चवै अमृत रस नीझर रस ही में रस च्वावा॥ (पद १५३)

यहीं पर मन को मत्त कर देने वाला 'रामरसायन' पान करना होगा। दुनिया में सब भ्रम की साधना में भूले हैं—

..................यह दुनिया काँइ भरम भुलानी।
मैं राम रसाइन माता॥ (वही पद)

गगनमण्डल में घर करना होगा। क्योंकि वहीं सदा अमृत झरा करता है, सदानन्द उपजता है, वङ्कनाल का रस पान करना होता है—

अवधू गगनमंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंकनालि रस पीवै॥ इत्यादि (पद ७०)

कभी-कभी कबीर अधोधारा को को ऊर्ध्व में उठाने के लिए जिन सब आयोजनों की जरूरत है उन्हें रूपक के रूप में सजाकर लय, पवन, मन, सत्य, सुरति प्रभृति की सहायता से सहज ही उस धारा में चलाना चाहते हैं—

ल्यौकी सेज पौन की ढीकूँ मन मटकाज बनाया।
सतकी पाटि सुरति का चाठा सहज नीर मुक लाया॥ (पद २१४)

कभी कबीर का यह योग सम्बन्धी सारा आयोजन रूपक के समान ही है। यद्यपि वह कहते हैं—'हे अवधूत ! मेरा मन मत्त हो गया है, उन्मनि पर चढ़कर मन ने उस महारस को मग्न होकर पान किया है, इसीलिये त्रिभुवन दीप्त हो गया है, उज्ज्वल हो गया—

अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मुनि चढ़्या मगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा। (पद ७२)

किन्तु इस महारस को चुआने के लिये उन्होंने ज्ञान को किया है गुड़ और ध्यान को किया है महुआ। मन धारा को भट्ठी बनाया है—

गुड़ करि ज्ञान ध्यान करि महुआ भाठी मन धारा । (परि० पद ६२ एवं ७२)

इससे भी अधिक रूपक १५५ नम्बर के पद में हैं—

एक बूँद भरि देइ रामरस ज्यूं भरि देइ कलाली ।

काया कलाली लाहनि करिहूँ गुरु शबद गुड़ कीन्हाँ ।

काम क्रोध मोह मद मंछर काटि काटि कस दीन्हाँ ॥ इत्यादि (पद १५५)

योगियों का काम ही है, सारङ्गी बजाकर गान के सुर में सबके चित्त को जागरित करना। यह बात भी कबीर रूपक से दिखाना चाहते हैं—वह योगी इस तनुयन्त्र को बजाता है। इसीलिये धर्म के दण्ड में, सत्य की खूँटी में, तत्त्व की ताँत बाँधकर यह यन्त्र रचा गया है। मन के निश्चल आसन पर बैठकर रसना से जपो उस रस को। इस प्रकार संसार का आवागमन छूट जाता है।

जोगिया तनकी जन्त्र बजाइ, क्यूँ तेरा आवागमन मिटाइ ॥

तन करि ताँति धर्म करि डाँड़ी, सतकी सारी लगाइ ।

मन करि निहचल आँसन निहचल, रसनाँ रस उपजाइ ॥ (पद २०८)

यहाँ के पद १०४, २०५, २०९, २१० और २११ में नानाभाव से योग को अध्यात्म साधना के अर्थ में प्रयोग किया गया है।

उन दिनों एक तरफ तो थी प्रबल मुसलमानी साधना और दूसरी ओर थी योगियों की योग-साधना। कबीर ने दोनों को ही स्वीकार किया है, पर अपने रास्ते से मुसलमान धर्म पर उन्होंने कम आघात नहीं किया (देखिये-साच को अङ्ग ५–९ इत्यादि)। योगियों के ढोंग पर भी उन्होंने कठोर रूप से आघात किया है। 'जोगी पड़े कि जोग कहै घर दूर हैं' इत्यादि कबीर के ही तीव्र काशाघात हैं। मन-ही-मन शायद उन्होंने समझा था कि आघात करने से कोई लाभ नहीं है, इसीलिये उन सारी बातों को रूपक के द्वारा व्याख्या कर आत्मसात् कर लेना चाहा है।

मुसलमान के लिये उनका कहना था कि मन को कर लो मक्का और देही को करो किबला। इस काया-मसजिद में ही तो दस दरवाजे हैं, वहीं जाकर बांग दिया करो—

मन करि मक्का किबला करि देही। बोलन हार परम गुरु एही ॥

कहु रे मुल्ला बाँग निवाज। एकै मसीति दसै दरवाज ॥

(परि० पद १५७)

उन दिनों के साधारण लोक-प्रचलित योगमतवादी योगियों के प्रति भी उनका प्रहार मामूली नहीं है। जोगी दण्ड, मुद्रा, कन्था प्रभृति लेकर भ्रम का

भेख धरे घुमा करते हैं। अरे पागल ! आसन और पवन दूर कर दे और कपट छोड़कर नित्य हरि को भज। जिसे तू चाहता है वह स्वयं त्रिभुवन को भोग रहे हैं, फिर संसार में तुम्हारी इस योग साधना का अर्थ क्या है ?

डंडा मुद्रा खिंथा आधारी। भ्रम के भाइ भवै भेखधारी ॥
आसन पवन दूरि करि बवरे। छोड़ि कपट नित हरि भज बवरे ॥
जिहि तू जाचहि सो त्रिभुवन भोगी। कहि कबीर कैसो जग जोगी ॥

फिर इसी योगी को समझाकर वह अपना लेते हैं—'पागल ! मन की मैल छोड़ दे। सिङ्गा मुद्रा वगैरह दिखाकर लोगों को ठगने से क्या लाभ है ? विभूति लगाने से ही क्या होता है ?'

आसन पवन किये दिढ़ रहु रे। मनका मैल छाँडि दे बौरे ॥
क्या सिंगी मुद्रा चमकायें। क्या बिभूति सब अंग लगायें ॥ (पद ३५५)

इसके बाद रूपक दिखाकर वह योगी के मत को आत्मसात् ही कर लेना चाहते हैं। 'वही तो योगी है, जिसकी मुद्रा है मनमें, अपनी साधना में वह रात-दिन जगा रहता है। मन में ही है उसका आसन और मन में ही है उसकी स्थिति। मन में ही उसका जप-तप है, मन में ही बात-चीत है। मन में ही है उसका खप्पर, मन में ही सिङ्गा वहीं पर वह अनाहत नाद भी बजाता है। पञ्च को दग्ध करके ही वह विभूति बनाता है। कबीर कहते हैं, वही तो जीतेगा लङ्का—

सो जोगी जाके मन में मुद्रा। रात दिवस जा करइ निद्रा ॥
मन आसन मन में रहनां। मन का जप तप मनसूँ कहनां ॥
मन में खपरा मन में सींगी। अनहद बेन बजावै रंगी ॥
पंच पर जारि भसम करि भूका। कहै कबीर सो लहसै लंका ॥ (पद २०६)

कबीर ने उसी को सच्चा योगी बताया जो लोक प्रचलित योगीपन के अतीत है। अर्थात् सारे संकीर्ण विधि विधानों से मुक्त साधक ही कबीर का चिर-आकांक्षित साधक है। ऐसे साधक का न तो कोई दल होता है और न कोई सम्प्रदाय। दल बाँधते ही नाना मिथ्या आवर्जना अधिकार जमा लेती हैं। इसीलिये उनका कहना है 'बाबा' ! जिस योगी का न मेला है और न तीर्थ, वही एक शब्द हीन योगी है। उसके पास झोली नहीं, पत्र नहीं, विभूति नहीं, बटुआ भी नहीं, वही अनाहत बेन बजाता है'—

बाबा जोगी एक अकेला, जाके तीरथ बरत न मेला ॥
झोली पत्र बिभूति न बटवा, अनहद बेन बजावै ॥ (पद २०७)

ऐसा ही योगी तो 'मन का मानुष' है। इसे बाहर पाया कैसे जाय? इस योगी का मर्म जो समझता है वही राम में रमता है। त्रिभुवन उसे उपलब्ध होता है। प्रकट कन्था में छिपा हुआ है वह गुप्त आधारी। उसमें जो मूर्ति है वही तो इस जीवन का प्रिय है। प्रभु निकट ही हैं, लोग उन्हें दूर खोजा करते हैं। ज्ञानगुहा में भर लो सींगा। कबीर कहते हैं कि जो भक्त प्रतिक्षण अमृत-बल्ली का रस पान करता है वही युग-युग जीता है।

जो जोगिया की जुगति बूझै। राम रमैं ताको त्रिभुवन सूझै॥
परगट कंथा गुपुत अधारी। तामैं मूरति जीवनि प्यारी॥
है प्रभु नेरैं खोजैं दूरी। ग्याँन गुफा मैं सींगी पूरी॥
अमरबेलि को छिन-छिन पीवै। कहैं कबीर सो जुग-जुग जीवै॥ (पद २०५)

सचमुच ही जो योगी है उसकी साधना विश्वब्रह्माण्ड को लेकर है। वह एक मुट्ठी भीख के लिये घर छोड़कर नहीं निकलता। कबीर कहते हैं कि वही योगी तो असल योगी है जो नवखण्ड पृथिवी को भिक्षा में माँग लेता है। ज्ञान ही उसका कन्था है। ध्यान की सुई से 'शबद' के तागे से वह उसकी रचना करता है। पञ्चतत्त्व के सन्धान में वह निकल पड़ता है गुरु के रास्ते। काया की धुनी रमाकर वह दृष्टि-अग्नि जला रखता है 'दया है उसकी खड़ाऊँ—सब योगों का सार राम-नाम' ही उसकी काया है, वही उसका प्राण है। जिसने जीवन में उनकी कृपा पायी है वही सत्य की घोषणा कर जाता है—

नव खंड की प्रथमी माँगै सो जोगी जगसारा।
खिंथा ग्यान ध्यान करि सूई सबद ताग मथि घालै।
पंच तत्व की करि मिरणानी गुरुके मारग चालै।
दया फाहुरी काया करि धूई दृष्टि की अग्नि जलावै।
सम जोग तन राम नाम है जिसका पिंड पराना।
कहु कबीर जे फिरवा धारै देइ सचा निसाना॥

(परि० पद १४६)

'वही तो जोगी है जिसका सहज भाव है, अखण्ड प्रेम की भिक्षा ही जिसका उपजीव्य है। अनाहत शब्द ही जिसका सिङ्गनाद है। जिसके न तो काम-क्रोध हैं और न विषयवाद' इत्यादि—

सो योगी जाके सहज भाइ। अकल प्रीति की भीख खाइ॥
सबद अनाहद सींगी नाद। काम क्रोध विषिया न बाद॥

इत्यादि (पद ३७७)

ऐसा आत्मानन्द योगी ही महारस पान करके अमृतरस सम्भोग करता है—

आत्मा अनन्दी जोगी। पींवै महारस अमृत भोगी ॥ इत्यादि (पद २०४)

योग की यह परिपूर्ण दृष्टि जब आती है, तो फिर संसार के इस मिट्टी घर में मन नहीं रहना चाहता। उस समय श्री हरि के साथ युक्त होकर रहने की ही व्याकुलता दिखायी देती है—

इब न रहूँ माटी के घर मैं। इब मैं जाइ रहूँ मिली हरि मैं ॥

इत्यादि (पद २७३)

सारे योग का मूलगत अर्थ और उसकी अन्तिम परिणति भगवान् के साथ प्रेम-मिलन में है। जिस कबीर ने सर्व धर्मों का समन्वय करना चाहा है, उनसे क्या हम किसी साम्प्रदायिक साधना की आशा कर सकते हैं ? कबीर की महादृष्टि में सभी साधनाएँ एकत्र हुई हैं। बाघ और बकरी को एक घाट वही पानी पिला सकता है, जिसमें सामर्थ्य है। कबीर की साधना का माहात्म्य तभी समझ में आता है, जब हम हिन्दू और मुसलमान साधना को एकत्र सङ्गत देखते हैं। उन्होंने योग और भक्ति को परस्पर से आसक्त किया है। यह बात, किन्तु, ठीक है, कि कबीर के निकट ज्ञान, कर्म, योग, भक्ति सभी साधनाएँ नदियों के समान हैं। सब साधनाओं का अवसान हुआ है भगवत्प्रेम के समुद्र में।

—श्री आचार्य क्षिति मोहन सेन के लेख, कल्याण, गोरखपुर
वर्ष १०, संख्या १, अगस्त १९३५ से साभार।



- प्रस्तुत पुस्तक की महत्ता, जटिलता को सबके लिए ग्राह्य बनाने में ही निहित है। साधु-साधक और लेखक के त्रिगुणात्मक समन्वय के कारण योग के विषय में यह पहली पुस्तक है जिसे सभी लोग पढ़-समझ सकते हैं।

- आचार्य महन्त गंगाशरण शास्त्री अल्पवय में ही कबीरपंथ में दीक्षित हो गये थे। प्रसिद्ध योगी और अतिलौकिक सिद्धियों से सम्पन्न संत आचार्य श्री रामविलास दास साहब की शिष्यता में रहने का सौभाग्य इन्हें मिला था और उनके आत्मीय डॉ० सम्पूर्णानद इत्यादि राजनेताओं को निकट से समझने का अवसर भी मिलता रहा। यह स्वाभाविक है कि आचार्य गंगाशरण जी शास्त्री में एक साधक, संत और समकालीन सामाजिकता का सुन्दर समन्वय हुआ।

- अध्ययन और साधना को समानान्तर महत्व देते हुए कवि, लेखक शास्त्री जी ने भारतीय साधु-समाज में अपनी निश्चित पहचान बना ली है। विद्या, विनय और दृढ़ निश्चय की मूर्ति शास्त्री जी सम्प्रति कबीरचौरा मठ के आचार्य हैं और मठ के व्यवस्थापक भी हैं।

- कबीर साहित्य के विख्यात साहित्यकारों को प्रोत्साहित करने के लिए उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को २१,००० हजार का अनुदान देकर 'कबीर शोध वृत्ति' की स्थायी व्यवस्था करायी। यह सब आचार्य महन्त अमृत साहब की प्रेरणा और शास्त्रीजी के ही श्रम का प्रताप है कि आज कबीरचौरा मठ सम्पूर्ण भारत और विदेशों में सर्वाधिक जागरूक और प्रगतिशील साधु-संस्थान समझा जाने लगा है।

हमारे प्रकाशन

□ कबीर बीजक टीका मनोरमा	१२५·००
□ कबीर साहब	५५·००
□ कबीर जीवन चरित्र — अजिल्द ३५·००, सजिल्द	४५·००
□ कबीर साहित्य की प्रासंगिकता	२५·००
□ मूल बीजक 'कबीर चौरा पाठ'	१५·००
□ कबीर शब्दावली प्रथम भाग	[illegible]·००
द्वितीय एवं तृतीय भाग	प्रेस में
□ सन्ध्यापाठ	[illegible]·००
□ गुरु महात्म्य ज्ञान	[illegible]५०
□ कबीर सिद्धान्त दर्शन	[illegible] में
□ संत कबीर के स्मरण तीर्थ	[illegible] में
□ भजन शतक	[illegible]००
□ साधमता है सार	[illegible] में
□ कबीर साखी	[illegible]००
□ कबीर दल क्या है ?	२·००
□ इकतारे की वैरागी धुन	१·००
□ रंगीन फोटो नाप इंच में	
वृद्धावस्था २१ × १६	४·००
बाल्यावस्था २१ × १६	४·००
बाल्यावस्था १३ × १०	२·००
बाल्यावथा ६ × ५	०·५०
□ सादा फोटो	
वृद्धावस्था ११ × ९	१·००
बाल्यावस्था १० × ७	१·००
कबीर उद्भव ११ × ९	१·००



कबीरवाणी प्रकाशन केन्द्र

सी० २३/५ कबीरचौरा, वाराणसी

दूरभाष : ३३३८५०